THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180827

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H891.21 M48D Accession No. H3189

Author मेधाव्रताचार्य

Title दयानन्ददिग्विजयम् · 1947 ·

This book should be returned on or before the date last marked below.

Pt. 2,

श्रीमदार्यजगज्जीवनग्रन्थमाला का प्रथम रत्न

॥ ओ३म ॥

— सचित्र —

दयानन्ददिग्विजयमहाकाव्य

[उत्तरार्द्ध]

लेखक

कविरत्न पं० श्री मेधाव्रतार्य—

प्रधान—आर्यसमाज—**येवला** [नासिक]।

अनुवादक :

आर्यरत्न पं० श्री सत्यव्रततीर्थ—

ग्रन्थाध्यक्ष—आर्यसमाज—**येवला**।

★

[सर्वाधिकार—लेखकाधीन।]

संवत् २००३] [ई० स० १९४७

प्रथम संस्करण] [मूल्य]

प्रकाशक

सुबोधचन्द्र सत्यव्रततीर्थ विद्यालङ्कृत

अध्यापक-गुरुकुल विद्यामन्दिर,

सूपा (नवसारी)

मुद्रक

जीवेन्द्र लल्लभाई पण्डित

नवसारी ।

मुद्रणालय

वैदिक मुद्रणालय नवसारी

— प्रकाशकीय —

मेरे पूज्य पितृव्यवर्य, आचार्य श्री पं मेधाव्रतजी तीर्थ का रचा हुआ "सचित्र दयानन्द-दिग्विजय"—महाकाव्य का पूर्वार्द्ध सवत १९९४ ई० सन् १९३८ में प्रकाशित हुआ था; तदन्तर विद्वन्महानुभावों के प्रेरणामय-प्रोत्साहन से सवत १९९८ में उत्तरार्द्ध की रचना प्रारभ की गई और एक वर्ष में उत्तरार्द्ध पूर्ण किया गया। किन्तु विश्वव्यापी विग्रह की विकराल परिस्थिति के कारण सवत २००१ तक यह ग्रन्थ छप न सका। पश्चात् सवत् २००२ में कागज मिलने पर यह विशाल सचित्र महाकाव्य छपाया गया।

पूज्यपाद आचार्य श्री एव पू० पिताजी सत्यव्रतजी तीर्थ ने पवित्र, वेदधर्मानुकूल सस्कृतसाहित्य के ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ ही (२०००) पचसहस्ररूप्यकों का निधि मेरे परमपूज्य पितामह, श्रीमान् आर्यरत्न जगजीवनजी (स्वामी एवं योगी नित्यानन्दजी महाराज) के स्मारक निमित्त निकाल रखा है।

उसी निधि में से यह—"श्रीमदार्यजगज्जीवनग्रन्थमाला" का प्रथम रत्न—महाकाव्य का उत्तरार्द्ध—प्रकाशित किया गया है। इसके अन्तर आर्यसमाज के नेता, पूज्यपाद महात्मा श्री नारायणस्वामी जी के जीवन की विशेष घटनाओं का लक्ष्य करके पू० आचार्यजी ने सस्कृत में—'महात्म-महिममञ्जूषा' अथवा 'नारायणस्वामिचरितम्' नामवाला २५० श्लोकों से अलंकृत, रुचिर काव्य रचा है, उसका प्रकाशन आरभ किया जावेगा।

पश्चात् गुरुकुलों एव आर्यविद्यालयों के प्राथमिक सस्कृत-शिक्षण के लिए उत्तम पाठमाला की पुस्तकरूप 'साहित्यसुधा' के दोनों भाग तृतीयवार प्रकाशित करने का हमारा विचार है।

आर्यजगत की संस्कृतानुरागिणी जनता तथा गुरुकुलीय, वरिष्ठ, अधिकारी बुधमण्डली यदि उपर्युक्त ग्रन्थों के वाचन एवं अध्यापन द्वारा लेखक तथा प्रकाशक जन का उत्साह बढावेगी तो शनैः २ प्रकाशनकार्य चालू रहेगा। ईश्वर कृपा करें कि आर्यसंस्कृत साहित्य की निरन्तर वृद्धि होती रहे!! इत्यल बुधमण्डनेषु—

माघ पूर्णिमा
स. २००३
ई० सन् १९४७
पूर्णानदीतटोपवन।

आर्यविद्वानों का नम्र अनुगामी—
सुबोधचन्द्र सत्यव्रत 'विद्यालंकृत'
अध्यापक-गुरुकुल-सूपा (नवसारी)

॥ कृतज्ञताप्रकाश ॥

श्रीकन्याशिक्षण महायज्ञ समाप्त करके संवत् १९९६ ई० स० १९४० की वसन्त ऋतु में येवलानगर की उत्तरदिशामें ३ मील के अन्तर पर विराजमान, नान्दुरग्राममसमीप मुक्तातरंगिणी-तीरवर्त्ती 'पुण्यारण्य' नामक निसर्गसुन्दर उपवन में निर्मित 'नित्यानन्द निवास' में निवास कर मैंने साहित्यसेवारूप पवित्र महाश्वमेधयज्ञ चालू रखा। बीच २ में स्वाध्याय, प्रवचन तथा अध्यापन यज्ञ भी चलता रहा।

परम कृपालु, ज्ञानस्वरूप परब्रह्म पिता परमेश्वर की अपार, अनुपम अनुकम्पा से यह "सचित्र दयानन्ददिग्विजयम्" नामक उत्तरार्द्ध महाकाव्यरूप महान् यज्ञप्रसाद सकल संसार को प्रदान करने के लिए मैं समर्थ हो सका हूं। संवत् २००० की पूर्णता के साथ ही यह उत्तरार्द्ध यज्ञ पूर्ण हुआ था; किन्तु विश्वयुद्ध की विकराल महघेतामें कागज का नियन्त्रण होने के कारण ग्रन्थ अप्रकाशित अवस्थामें पड़ा रहा।

मुझ कवियजमान को यज्ञाधिष्ठाता विष्णु भगवान् ने जो यह उत्तर महाकाव्यरूप महाप्रसाद प्रदान किया है; उसके लिए मैं सर्व प्रथम उस दयासागर परमपिता को कोटिशः हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

इस काव्यऋतु के ब्रह्मा हैं मेरे परम सुहृद् प. श्री श्रुतबन्धुजी शास्त्री, वेदतीर्थ—उपाध्याय गुरुकुल महाविद्यालय—सूपा (नवसारी) आपकी ही सतत सद्भावना से मैं इस महाकाव्यनिर्माण यज्ञ को सांगोपांग पूर्ण कर सका हूं। आपने उत्तम साहित्यिक भूमिकारूप प्रवचन से मुझे कृतज्ञतापाश में बांध लिया है।

इस महाकाव्यमहायज्ञ के श्रेष्ठ उद्गाता हैं मेरे परमहितैषी मित्र श्री.प. सत्यव्रतजी—स्नातक 'वेदशारद' 'साहित्यरत्न' भतपूर्व मन्त्री मु० प्र० आ० प्र० सभा—बम्बई। आप गुजराती के सुयोग्य लेखक हैं। दो वर्ष पूर्व आपने मेरे हस्तलिखित "दयानन्ददिग्विजय" महाकाव्य के उत्तरार्द्ध का अल्प समय में तलस्पर्शी रसास्वादन कर उस पर उत्तम साहित्यिक मार्मिक ढंग से महाकाव्य-परिचयकारक गुजराती लेखमाला 'आर्यप्रकाश' में प्रकाशित कर मुझे अनुगृहीत किया है। चार वर्ष पूर्व पूर्वार्द्ध महाकाव्य का उत्तम अनुशीलन कर उस पर भी आपने 'आर्यप्रकाश' एवं 'सजीवनी' नामक गुजराती पत्रों में समालोचनात्मक मनोहारी लेख प्रकाशित किये थे तथा समय २ पर मुझे पत्रद्वारा उत्तरार्द्ध के निर्माणार्थ प्रेरणा एवं उत्साह दिया था। अतः इस पुण्य प्रसंग पर उनको मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूं। ग्रन्थारंभ में 'उत्तरार्द्ध परिचय' के रूप में

अनुवादित करके जो प्रकाशित किया गया है: वह आप ही का लेख है। इस ग्रन्थ के प्रकाशक प. श्री सुबोधचन्द्रजी स्नातक 'विद्यालङ्कृत' ने ही इसका आर्यभाषा में अनुवाद किया है। यही अनुवाद दिल्ली से प्रसिद्ध होने वाले साप्ताहिक 'लोकमान्य' में उसके विद्वान् सपादक श्री पं. हरिश्चन्द्रजी 'विद्यालङ्कार' की कृपा से प्रकाशित हुआ था: इस कृपा के लिये मैं उन सम्पादक महोदय का सदा कृतज्ञ रहूंगा।

इस महाकाव्यमख के अध्वर्यु हैं मेरे प्रिय अनुज प. श्री सत्यव्रतजी तीर्थ, भूतपूर्व मन्त्री आर्यसमाज-येवला। आपने १'००० श्लोकों का मनोहर, ललित आर्यभाषा में भावानुवाद किया है: अतः ये मेरे धन्यवादार्ह हैं।

इस सारस्वत यज्ञ में मेरे ऋत्विजों का कार्य करके जिन प्यारे बालकों ने मुझे परम सहायता दी है, उनका नाम तथा सेवाकार्य निम्नलिखित है:—

(१) चि० श्री सुरेशचन्द्र शकरदेव पाटक बी० एस० सी०, सीनियर मार्केटिंग इन्स्पेक्टर—एटा (यू० पी०) जो मेरे भानजे हैं; उन्होंने ५०० श्लोक सुनिबद्ध सूचिका में सुन्दर अक्षरों में लिखकर मुझे आनन्दित किया है अत वे प्रशसा के पात्र हैं।

(२) चि० ब्र० शरच्चन्द्र सत्यव्रत तीर्थ, जो मेरा अनुज पुत्र है: उसने ५०० श्लोक मूल तथा १'००० श्लोकों का अनुवाद सुवाच्य, सुन्दर अक्षरों में लिखकर मुझे अतीव सहायता दी है; अतः वह अति प्रशसापात्र है। (३) चि० सौ० इन्दुमती पुरुषोत्तम मनस्वी, जो मेरी भतीजी है; उसने भी ३०० श्लोक सुन्दर अक्षरों से सूचिका में लिखकर अच्छी सहायता की है, अतः वह पुत्री भी इस प्रसग पर प्रशसा के योग्य है।

मेरे परम माननीय सुहृत्प्रवर, विद्वद्वन्द्य पं श्री मयाशकरजी 'दशनाचार्य' ने मेरे हस्त-लिखित उत्तरार्द्ध महाकाव्य को सान्त सूक्ष्मदृष्टिसे निरीक्षण कर कतिपय स्थलों में संकेत चिन्ह देकर मुझको संशोधन की सूचना करके अनुगृहीत किया है अत मैं उनका आजीवन कृतज्ञ रहूंगा।

साहित्यरसमर्मज्ञ कितनेक कवि महानुभावों ने मेरे पूर्व प्रकाशितकाव्य ग्रन्थों का रसास्वादन कर प्रेममय भक्तिसे सुन्दर, स्वाभिप्राय प्रदर्शक, कुछ प्रशस्तिकविताएं लिखकर उत्तरार्द्ध में प्रकाशनार्थ मेरे पास भेजी हैं; उनकी भावना को सन्मान देने के लिए मैंने उन कविताओं को प्रारभ में प्रकाशित कर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझा है; अतः वे प्रकाशित की गई हैं।

अन्त में "वैदिक जीवन मुद्रणालय"—नवसारी के अधिपति हैदराबाद सत्याग्रह संग्राम के सातवें सर्वाधिकारी, वैदिक धर्मोपदेशक सुयोग्य लेखक प श्री० ज्ञानेन्द्रजी 'सिद्धान्तभूषण' तथा उनकी धर्मपत्नी धर्मशास्त्रविशारदा पण्डिता सौ० श्री० अनिलादेवी 'काव्यतीर्थ' को शतशः हार्दिक धन्यवाद देता हूं कि आप दम्पती ने मेरे इस 'दयानन्ददिग्विजय' महाकाव्य के विशाल, सचित्र उत्तरार्द्ध को ऐसे महर्घता के कठिन समय में भी ब्रह्मर्षि देव दयानन्द विषयक

निरतिशय भक्ति से प्रेरित होकर अपने मुद्रणालयद्वारा प्रकाशित करने का साहस करके उत्तम रीति से सुन्दर टाइप में सचित्र छपवा दिया है ।

इस महाकाव्य के चित्रों के ब्लॉक बनवा देने एवं प्रूफ संशोधन करने का भार भी अपने मस्तक पर लेकर मुझे इन्होंने कृतज्ञतापाश में बांध लिया है ।

इतने विशालकाय काव्यग्रन्थ में सावधानी से अवलोकन करने पर भी मुद्रण में बहुत सी अशुद्धियां रह गयी हैं: उनके लिये 'शुद्धिपत्र' बनाना पडा है जो अन्त में छापा है; सहृदय वाचकजन वहीं से देख लेवें ।

किम्बहुना बुधेषु—

'पुण्यारण्य'—नान्दूर
पो० **येवला** (नासिक)
सं० २००३ माघ पूर्णिमा
सन् १९४७

भवदीय स्नेहाधीन,

मेधाव्रत आचार्य

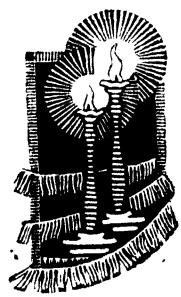

वीतराग आचार्य श्री मधाव्रतजी — वानप्रस्थ ।

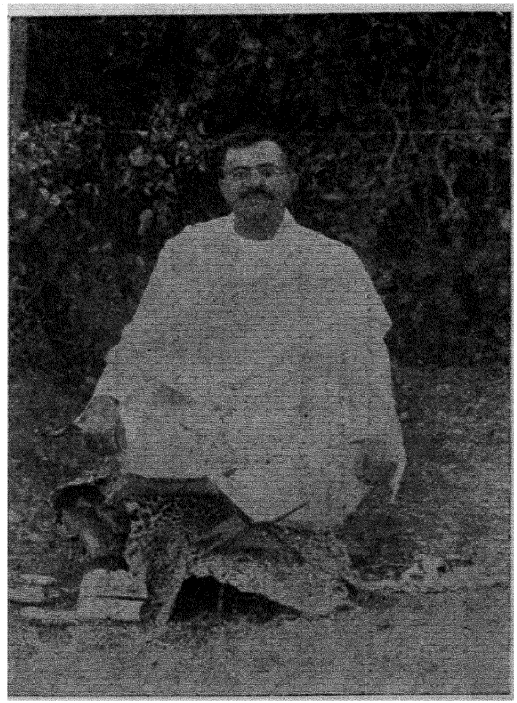

वीतराग आर्य श्री सत्यव्रतजी — वानप्रस्थ ।

॥ समर्पण ॥

अयि अनुपम पावन प्रेममयी, सुमतिविकासिनी, शुभगुणशालिनी, कल्याणकारिणी, मातृवत्सला, मंगलमूर्त्ति, देवगणनन्दिनी आर्यवरकुटुम्बिनी, अखण्डसौभाग्यमालिनी, परमप्रिय जननी सरस्वती ! यद्यपि आज तेरी वह मधुर, मंगल, चैतन्यमयी भौतिक मूर्त्ति अथवा तदाकारसुन्दर-प्रतिकृति भी इस विनश्वर संसार में दृगोचर नहीं होती; तथापि हमारे विमल हृदयकाचपट्ट पर वही तेरी मनोहरहास्यमयी, स्नेहार्द्रनयनयुगलशोभिनी, रुचिरचन्द्रानना मूर्त्ति निरन्तर विराजमान हो रही है ।

ओ प्रेमस्वरूपा कल्याणकारिणी माता ! तूने इहलोकयात्रा के समाप्तिसमय में भी अपने हृदय के खण्डसम लाल इन बालकों की विद्या और व्रतचर्या में विघ्न बाधा न हो; इस हेतु मिथ्यामोहमाया जाल के वश न हो कर गुरुकुल में तारद्वारा समाचार तक देने को भी मना किया । और स्नेही सम्बन्धियोंसे कहा कि—"मेरे विद्याव्रतसम्पन्न, गुणधनी प्यारे पुत्रों का मुख अब मैं तो न देख सकी किन्तु तुम लोग देख लेना" ।

अहा ! प्यारी माँ ! सत्यमुच ! तूने सच्ची गुरुरूपिणी, सरस्वतीस्वरूपा आदर्श आर्यमाता का कार्य किया । स्नेहशाला माता ! आज तू जीवित होती तो तेरा हृदयसागर बालकों उछलता और तू मातृत्व का दिव्यपद—सानन्दसा आनुभूति चाखती ! अस्तु—हे स्मृति गौरवदायिनी जननी ! तेरे पावन पदारविन्द में अमन्दप्रेम सुन्दर भक्ति सहित—'यह तुच्छ कुसुम-उपहार' सादर समर्पित है ॥

यत्प्रसादादहं प्राप्तं—साफल्यं जन्मनो हि नो ।
उपहारोऽर्प्यते ताभ्यः—प्रीयन्तां मातृदेवता' ॥१॥

तेरे पुत्रद्वय

विनयावनतमस्तक, श्रद्धालु आत्मज
मुनिव्रतधारी मेधाव्रत तथा सत्यव्रत ।

— श्रद्धाञ्जलिः —

[१]

[मालिनी]

कृतगुरुकुलवासं प्राप्तविद्याविलासं
विदितनिगमसारं कालिदासावतारम् ।
भुवनमहितकीर्त्तिं देववत् पुण्यमूर्त्तिं
गुरुवरमभिवन्दे मेघयाऽलङ्कृतं नम ॥

[२]

उपनयनसुदीक्षां वैदिकीं धर्मशिक्षां
सुरगिरि वरविद्यां काव्यसाहित्यहृद्याम् ।
यदमलकृपयाऽऽपन्नार्यकन्या व्रतिन्यः
कथमिव स कवीन्द्रो नेा जयेदार्यवन्द्यः ॥

[३]

अमरगिरि महर्षेः श्रीदयानन्दनाम्नेा—
विमलचरितकान्तं काव्यरत्नं प्रणीय ।
ऋषिवरऋणभारान् मुक्तवान् येा मुमुक्षु—
र्जयति स गुरुदेवेा दिव्यमानन्दमीप्सुः ॥

[४]

[वसन्ततिलका]

एतादृशं कविगुरुं समवाप्य धन्या
का नेा भवेन्निगमशास्त्रचणाऽऽर्यकन्या ।
आप्तं द्विजत्वमिह यत्कृपया मयाऽसौ
भक्त्याऽर्च्यते जनकवद् गुरुरार्यपुत्र्या ॥

[५]

[उपजातिभेदेावाणी । अन्तर्लापिका ।]

श्रीवर्णिनां को निगमेापदेष्टा ?
बिभर्ति का शास्त्रमृतं किमुक्तम् ? ।
किं शाश्वतं सा कमुपाश्रिता वाग् ?
आचार्यमेधाव्रतसत्कवीन्द्रम् ॥

वैदिक जीवन मुद्रणालय, नवसारी
विजयादशमी: शनिवार
सवत् २०००
ता. ५-१०-४३

आज्ञाङ्किता आत्मजा—

अनिलादेवी 'काव्यतीर्थ' ।

आर्यकवीन्द्रस्तुति

लेखक : विद्याभूषण, कविवर प० ओंकारमिश्र 'प्रणव' साहित्याचार्य-शास्त्री,
अध्यापक—गुरुकुल-जेहलम (पंजाब) ।

[१]

विटपसुवृन्दनमें चन्दन है श्रेष्ठ जैसे—
गिरियों में 'गिरिराजगौरव' का मान है ।
जैसे वारिधाराओं में गंगा का महत्व उच्च—
जैसे तारकोंमें तारकाधिपति प्रधान है,
सरों में सुगण्य जैसे मानससरोवर है,
पक्षियों में पाया जैसे राजहंस मान है ।
देशों में 'प्रणव' जैसे भारत विशेष, तैसे—
कोटि कवियों में मेधाव्रत भी महान् है ॥१॥

[२]

कविकुलचूडामणि कालिदास ने विशेष—
उपमा के रूप ही अनूप प्रकटाये हैं ।
कवियों की बानी ने बखानी है कहानी जोकि—
भारवि ने भव्य अर्थ गौरव जताये हैं ॥
ललित पदावलि से दण्डी ने रसिकजन—
मानस-मयूर मस्त मञ्जुल नचाये हैं ।
पर मेधाव्रत तेरी चतुराई को बखानै !
तीनों गुण तेरी एक मेधा में समाये हैं ॥

[३]

फहरी है तेरी आज कीरति—पताका नभ—
रची दिव्य 'दयानन्दलहरी' ललाम है ।
तेरी 'दिग्विजय' ने ही दिग्विजय किया आज—
'प्रकृतिसौन्दर्य' सजा साज अभिराम है ॥
'कुमुदिनिचन्द्र' में है चांदनी विकासमयी—
पत्रिका-प्रभा का सोच नहै अभिराम है ।

'प्रणव' सुकविकञ्ज क्यों न विकसेंगे पुञ्ज,
मेधाव्रत उदित दिनेश सुखधाम है ॥

[४]

वैदिकनिनादिनी हो तेरी काव्यवीणा सदा
सुन्दर स्वरोंमें भरी देशभक्ति लय हो ।

गीर्वाण वाणी का हो नित्य भरा कोष रहे,
हृदय-सदन तेरा सत्य मणिमय हो ॥

कीर्ति कमनीय हो विनीतता-प्रकाशपूर्ण,
भद्रभावनाओंका वैभव उदय हो ।

'प्रणव' प्रभु का होवे पावन प्रसाद पुण्य-
मेधाव्रत ! तेरा भूमिमण्डल में जय हो ॥

(ता: १०-८-४८, गुरुवार श्रावण शु० ८ सं० २००५)

— सुकविप्रशस्ति —

(लेखक: काव्यधुरीण, आशुकवि अखिलेश शर्मा 'साहित्यरत्न' ।

पो. मछरेहटा, जि. सीतापुर (अवध) [यू. पी.] ता. ७-४-४५)

(छप्पय)

[१]

जिमि त्रेता, मुनि 'वाल्मीकि' कीन्ही 'रामायन' ।
द्वापर 'वेदव्यास' करी 'भागवत-रसायन' ॥

पुनि कलियुग मँह 'अश्वघोष' कविराज कलाधर ।
'बुधचरित' लिखि सुलभ सुधा कीन्हेउ वसुधापर ॥

तिमि 'मेधाव्रत कविरत्न' हू, निजपावन प्रतिभा खरचि ।
आनन्द सिन्धु प्रगठेउ अगम, 'दयानन्दकविता' विरचि ॥

[२]

जयति ब्रह्मकुल-कमल-मित्र, करुणावरुणालय ।
कविताकामिनि-कान्त, शान्त, निर्भ्रान्त महाशय ॥
'दयानन्ददिग्विजय,' 'कुमुदिनीचन्द्र' प्रकाशक ।
'दयानन्दलहरी' सु 'प्रकृतिसौन्दर्य' विकाशक ॥

आर्यकवीश्वर तव प्रलय लौं, छाय रहै यश-सुरभि महि ।
'श्रीमेधाव्रतकविरत्न' नित, चिर जीवो 'अखिलेश' कहि ॥

[३]

नमस्कार शतबार आर्यकन्याशिक्षा-रत ।
कविता-कानन-कुंज-कलित-कोकिल 'मेधाव्रत' ॥
जयति दिव्य दिननाथ, देववाणी-नलिनी के ।
सुधी, सरल, संयमी, सुअन सरस्वति जननी के ॥

गुणगरिमा गावत गिनत, गुरुजन गौरव गर्व-गत ।
अभिवन्दत अनुमानियत, अपवर्गहु आनँद अपत ॥

— दयानन्ददिग्विजयप्रशस्तिः —

[लेखक : रा. रा. श्री काशीनाथ रघुनाथ वैशंपायन 'काव्यतीर्थ'–अध्यापक–मॉडर्न हाईस्कूल–येवला]

महाकाव्यं महाकाव्यमिति गीर्वाणवाङ्मये ।
घोषितं छात्रसन्दोहैः पठितं सादरं मुदा ॥१॥

महाकाव्यप्रणेतारो दृष्टाः केनाऽपि नो स्वयम् ।
नापि तेषां प्रतिच्छायाः सहवासः कुतो ननु ? ॥२॥

कवीनां सहवासेन रसराजो विवर्द्धते ।
काव्यमर्मापि विज्ञातुं सुलभत्वं प्रजायते ॥३॥

यदहो ! ! कालिदासाद्या नाद्य प्राणन्ति भारते
महाकाव्यप्रणेतृत्वमशक्यं मन्वते जनाः ॥४॥

परं श्रीयेवलेग्रामे जनस्थानान्तिके शुभे ।
श्रीमन्मेधाव्रताचार्या रचनाकुशला स्मदा ॥५॥

प्रणीतं तैर्महाकाव्यं काव्यलक्षणभूषितम् ।
नायको धर्मवीरश्च श्रीदयानन्दयोगिराट् ॥६॥

संकुलं सदलङ्कारै र्निर्मलं सृष्टिवर्णनैः ।
सद्विचारैरनीवभावै र्महाकाव्यं सुगुम्फितम् ॥७॥

आर्यव्रतो दयानन्दः कविर्मेधाव्रतो महान् ।
प्रक्षीकृतो भारतोऽयं सदाऽन्योन्यप्रभावतः ॥८॥

[शाके १८६७ विजयादशमी, मंगलवार, ता. १६–१०–४६ ।]

भूमिका

दिव्य प्रतिभा के धनी, संस्कृतकविताकामिनीकान्त, मेधाविमण्डन— आचार्य श्री मेधाव्रत—अपरनाम—दिव्यानन्द मुनि मे विरचित—"दयानन्द—दिग्विजय"—महाकाव्य की पूर्वार्द्धरूप में बहती पवित्र रसधारा में देववाणी के उपासक डुबकियां ले चुके हैं; और उस गंभीर काव्यसागर के अन्तस्तल से अनेक भावरत्नों को प्राप्त कर चुके हैं। आज उसी दयानन्ददिग्विजय महाकाव्य के उत्तरार्द्ध के लिए दो शब्द लिखते हुए मैं अपने को धन्य मानता हूँ। इस महाकाव्यका उत्तरार्द्ध भाग तो अनेक सिद्धान्तों, वादों, इतिहासों, उक्तियों, प्रयुक्तियों से भरा पडा है। इसमें स्थान स्थान पर वैदिकतथ्य लौकिक संस्कृत शब्दों में भर दिए गए हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों के गहनमर्म इसमें जहां तहां छोटे २ श्लोकों में निहित हैं। समाजशास्त्र, व्यवहारशास्त्र तथा धर्मशास्त्रका भी यथा स्थान इस काव्य में सम्यक् समावेश हुआ है। कविने जिस दिव्य महाकाव्य की रचना की है वह शाश्वत है; क्योंकि इस काव्य का नायक भी शाश्वत है।

वाल्मीकि को राम, व्यास को पाण्डवगण, अश्वघोष को बुद्ध एवं भारवि तथा कालिदास जैसे धीरोदात्त, महाप्राण, विश्ववन्द्य चरितनायक मिल गए थे; वैसे ही हमारे इस अभिनव कालिदास–दिव्यानन्द को आर्य संस्कृति के महान् उन्नायक, युगनिर्माता दिव्य दयानन्द मिल गये। हिन्दी के सम्राट्–कवि मैथिलीशरण गुप्तने ठीक ही कहा है।

"राम ! तुम्हारा चरित, स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है॥"

दूसरी ओर इस कथन में भी सत्य की बहुत बडी मात्रा विद्यमान है कि कवि की जो अपनी भावना और धारणा होती है; चरित्रनायक को उसी रूपमें वह चित्रण करने में समर्थ होता है। शाश्वत चरित्रनायक समाजका विशिष्ट व्यक्ति होता है। एवं वह समाजका प्रतिनिधि भी होता है। ऐसी परिस्थितमें वह कवि, न केवल एक व्यक्ति–चरित्रनायक का वर्णन कर रहा होता है किन्तु उस सपूर्ण समाजको ही उस चरित्रनायक के व्याजसे वर्णन कर देता है। इस कविवर की कृति में भी यथास्थान अमर दयानन्द के मुखसे व्याख्यानों में, शास्त्रार्थों–में प्रचारों में, समारोहों में और सम्मेलनों तथा लेखों में तदानीतनीय हिन्दू–समाज की रीति रिवाजों, व्यवस्थाओं, उत्थानों और पतनों का खूब ही सजीव चित्रण हुआ है। कई कवियों के चरित्रनायकों की कथा बहुत क्षीण होती है। यदि दुर्भाग्यवशात् किसी कविने इस प्रकार के चरित्रनायक को अपने महाकाव्य का प्रधान पात्र बना लिया तो उसके समक्ष बहुत बडी २ कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। उसे उस कथा को खींच २ कर लम्बी बनानी पडती है। ऐसी परिस्थिति में उस कवि की कथामें न तो स्वाभाविक सौष्ठव का ही समावेश हो पाता है, और नाही उसमें वर्णन स्वारस्य ही रहने पाता है। उसे हठात् अतिरंजना के रंगमें सारी कथा को रंग देनी पडती है। स्वाभाविकता की सीमा का सर्वथा उल्लंघन होता है। इसी लिये इस प्रकार

के काव्यों में नैसर्गिक रसज्ञता का अभाव ही होता है। संतोष का विषय है कि इस महाकविने कथा पात्र ढूंढने में खूब ही दूरदर्शिता का परिचय दिया है। यदि ध्यान से महाकवियों की रचनाओं पर दृष्टिपात किया जाय तो सहज ही ज्ञात होता है कि जगत् के महाकविओं ने अपने २ काव्यों के पात्रों को ढूंढने में जरा भी असावधानी नहीं की है। उन उन काव्यों के चरित्रनायक जनसमाज के हृदय मन्दिर में विराजमान हो चुकने के बाद ही महाकवियोंने उन्हें अपने २ अमर काव्यों के नायक बनाया।

आधुनिक भारतीय आर्य संस्कृतिके महान सेनानी यतिवर दयानन्द थे। इस युग निर्माता दिव्यविभूतिने लाखों बुझते हुए हृदयोंमें आर्य वैश्वानरकी ज्योति प्रज्वलित की। हजारों निराश हृदयों में आशाका संचार किया। एतदर्थ दयानन्द आर्य समाज और हिन्दू समाज का विशिष्ट व्यक्ति हुआ। उसमें आर्य धर्म ओत प्रोत हो गया। अतः दयानन्द आर्योंकी विराट विभूति का संक्षिप्त समुदाय है। उसकी यश, कीर्ति सुनने की तथा गाने की अभिलाषा आर्यमात्र के हृदयमें उत्पन्न हो सकती है।

कविवर मेधाव्रतजीने किसी राजा, किसी श्रेष्ठ या किसी लक्ष्मी पुत्रको रिझाकर धनलिप्सासे इस काव्य की रचना नहीं की है, किन्तु अपने हृदय मन्दिर के परम श्रद्धेय युग देवता गुरुदेव दयानन्द के लिये यह चरित्र लिखकर– **स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।** की उक्ति ही चरितार्थ की है। यद्यपि स्वभावतः रामचरित मानस की तरह संस्कृत समाज के लिए यह महाकाव्य भी सर्व जन हिताय सर्व लोककल्याणाय बन गया है। दुःख का विषय है कि आज आर्य संसार–हिन्दू-संसार संस्कृत भारती से बहुत अलग हो गया है। परन्तु यह भी ध्रुव सत्य है कि आर्य संस्कृति का अविच्छिन्न स्रोत ऋग्वेद से लेकर रघुवंश तक में ही बह रहा है। उसी प्रधान झरने से निकली हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि भाषारूपी स्रोतों के द्वारा आज आर्य जाति का परम्परागत सम्बन्ध अविच्छिन्न रूपसे बना हुआ है। जिस दिन उस स्रोतसे आर्य जाति का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जायगा; उसी दिन आर्य संस्कृति की मृत्यु हो जायगी। परन्तु यह सत्य है कि देव भाषा के अमर काव्य भी आज रंकों की झोंपडियों से लेकर राज महलों तक रामचरित मानस की तरह नहीं पढे जाते हैं। आज शाकुन्तल जैसी अपूर्व रचना और रघुवंश जैसे अमर काव्य भी इने गिने लोक ही पढ पाते हैं। जब कि उन काव्यों के अध्येताओं का क्षेत्र विस्तृत हैं।

हमारे इस कवि की रचना तो संभवतः आर्य समाज के छोटे क्षेत्र में ही पढी जायगी। दुःख का विषय तो यह है कि आर्य संस्था के कतिपय संचालकोंने भी ईर्ष्या और अस्मिता के चक्र में फंसकर, इस काव्य की महत्ता को समझ बूझकर भी कवि के तेजोद्वेष से अथवा किन्हीं और कारणों से इस महाकाव्य को अपने २ विद्यालयों के कोर्स में रखने की सुजनता नहीं दिखायी है। परन्तु इससे हमारे कविवर मर्माहत नहीं हुए है। पूर्वार्द्ध की प्रतियों के अवशिष्ट रहने पर भी वे इस महाकाव्य का उत्तरार्द्ध भाग सटीक छपवा रहे हैं। हमें विश्वास है कि रत्न छिपा नहीं रह सकता। एक बार उसे जौहरी के हाथ में पडने भर की देरी है। फिर तो उस का मूल्यांकन होकर ही रहेगा। कदाचित् भवभूति को भी इस प्रकारकी बात का अनुभव हुआ होगा; तभी तो उन्हें लिखना पडा—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधि विपुला च पृथ्वी ॥

आज भले ही कोई मेरी अवज्ञा कर ले । उन मूर्खों के लिये मैं यह प्रयास नहीं कर रहा हूँ । मुझे मालूम है कि समय का अन्त नहीं और यह पृथ्वी बहुत लम्बी चौड़ी है । अतः मुझे सन्ताप है कि वर्तमान में जो कोई मेरा स्पर्धी है, या आगे पैदा होगा, उसके लिये यह मेरा यत्न समझना चाहिये । बस, आज तो संस्कृत भारती के दुलारे दिव्यानन्द जैसे कवियों के लिये भवभूति का यह सन्देश ही सन्तोषका विषय है । नहीं तो वर्तमान काल में संस्कृत काव्यों को लिख और छपा कर कोई पैसा पैदा करने का विचार करनेवाला तो देवानां प्रिय ही होगा ।

काव्य कवियों के अन्तःकरण का उद्गार होता है । कवि की भावनाओं का शब्द-चित्र होता है । कवि की महत्ता और न्यूनता का मापदण्ड उस की रचना ही होती है । इस दृष्टि से मुझे लिखते हुए परम सन्तोष अनुभव हो रहा है कि इस महाकाव्य का रचयिता भावनाओं के उच्च शिखर पर आसीन है । उसे जगत का पर्याप्त अनुभव है । प्रकृति निरीक्षण के लिये उसकी आखें बड़ी तीक्ष्ण है । अध्ययन बहुत गम्भीर है । शब्दों का अक्षुण्ण भण्डार उसके पास है । व्यञ्जनाद्वारा वस्तु प्रतिपादन की अपूर्व कला है । सरस्वती उसकी जिह्वा पर लास्य करती है । छन्दों का चलता फिरता वह मानो संस्करण हो गया है । उपनिषदों और दर्शनों के अध्ययन से उस के हृदय में ज्ञान गरिमा का पूरे पूरा सञ्चय हो चुका है । हिमालय आदि प्रदेशों के भ्रमण से भगवान् की अकृत्रिम विभूतियों को इस कवि ने चर्मचक्षुओं से बाह्यरूप से देखा है; और आभ्यन्तरिक आखों से उस की तह तक पहुंच गया है । इस कविके काव्य में श्रद्धा भक्ति के शीतल फव्वारे उड़ते हैं। जो श्रद्धालु भक्तजनों के हृदयों को तापत्रय से हटाकर शीतलता प्रदान करते हैं ।

वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम् ।

वाच्यार्थ का अतिक्रमण करके व्यञ्जनाद्वारा अर्थकी प्रतीति जिसमें हो उसे ध्वनि कहते हैं । और वही श्रेष्ठतम काव्य है । हर्ष का नैषधचरित्र कदाचित् संस्कृत कवियों के उत्तमत्रयी में इसी लिए पण्डित मंडलद्वारा स्वीकृत किया गया । यदि इस काव्य में ध्वनि का भी अभाव होता तो संभवतः यह काव्य किसी भी परिस्थिति में पण्डित मंडल में मान्य न हो पाता ।

कविवर मेघाव्रतजी की कवितल्लोमें यथा स्थान व्यंजनाद्वारा कथित विषयों को सम्यक् व्यंजित किया गया है । पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध में रसों का बहुत सुन्दर परिपाक हुआ है। उत्तरार्द्ध में कवि की भारती और भी अधिक सरल हो गई है । इस लिए काव्य का विषय शीघ्र ही हृदयगम होने के कारण अन्तः करण में स्थान जमा लेता है ।

काव्य रसिकों के समक्ष इस काव्य की विविध बानगी उपस्थित करते हुए मैं हर्ष अनुभव करता हूँ। यद्यपि सम्पूर्ण काव्य पढकर प्रेक्षवान् स्वकीय धारणा जो बना सकते हैं; उन्हीं की धारणा अनुकूल यह मेरी बानगी होगी, इसकी कल्पना मुझे भी नहीं है। तथापि मै अपनी समझ के अनुसार लिखनेकी धृष्टता करता ही हूं।

"नालङ्कृताऽपि सद्वाणी निर्दोषा सरला शुभा।
निसर्गसुन्दरी स्त्री वा रोचते खलु शर्मदा" ॥द० दि० सर्ग १३-३॥

जैसे स्वभाविक सुन्दरी बिना गहनों के भी सबको अच्छी ही लगती है, वैसे ही सचमुच! सत्पुरुषों की वाणी निर्दोष, सरल और कल्याणकारिणी होने के कारण सबको भाती ही है। इस श्लोक में कविने कितने सुन्दर शब्दों में अपने हृदय के भाव को व्यक्त कर दिया है। कवि अपनी वाणी को अनलंकृता समझ रहा है, परन्तु साथ ही उसे विश्वास है कि अलङ्कार-रहित भी उसकी वाणी निर्दोष, सरल और कल्याणकारी है; इस लिए सज्जनों में वह मान्य होगी ही। कविवर तुलसीदासजी ने भी—

"कवित विवेक एक नहीं मोरे,
सत्य कहहु लिख कागज कोरे" ॥

यह लिखकर अपनी लघुता प्रगट की है। सज्जनों और विद्वानों का यह स्वभाव ही होता है। "विज्ञातमविजानताम्" उपनिषद् भी कहती है। जो यह समझता है कि मैं जानता हूं वह कुछ नहीं जानता। जो समझता है कि मैं नहीं जानता, वही जानता है। इस श्लोक में अब देखिए कि कैसी ध्वनि व्यञ्जित हो रही है। कविने अभिधाद्वारा अपनी लघुता न प्रकट कर के व्यञ्जनासे प्रगट की है। जिससे यह भी ध्वनि निकल रही है कि केवल नानाभरणा भाषिता भामिनी ही का जगतमें स्थान नहीं है। किन्तु आभरणादि तो उसके बाह्यरूपमें कुछ अधिक चमत्कार ही ला देते हैं। वैसे ही सद्वाणी का अपने आपमें जगत् में स्थान है। हा!! यह बात ठीक है कि अलकार उस सद्वाणी को और भी अधिक चमत्कृत कर देते हैं। साथ ही इस श्लोकसे यह भाव भी व्यञ्जित हो रहा है कि यद्यपि मुझ दिव्यानन्दकवि की वाणी अनलङ्कृत है; तो भी वह सद्गुरु दयानन्द की कल्याणकारिणी वाणी है, अतः वह निसर्ग सुन्दरी की तरह सबके लिए मान्य होगी ही।

पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध में स्थान स्थान पर अलकारों का सर्वाङ्गीन परिपाक हुआ है। अनुप्रास और यमक की छटा तो ५, ७ श्लोकों के बाद लगभग प्रत्येक श्लोक में काव्य रसिक देख सकेंगे। यों तो सम्पूर्ण उत्तरार्द्ध की सरस्वती अलकाराभरण विभूषिता है ही, परन्तु चतुर्दश सर्ग और त्रयोदश सर्ग में विशेषतः अलकारों का परिपाक हुआ है। इस महाकाव्य में कहीं श्लेष, कहीं स्वभावोक्ति, कहीं रूपक, कहीं उत्प्रेक्षा, कहीं अतिशयोक्ति, कहीं व्यतिरेक का अतिरेक, कहीं निदर्शना, कहीं दृष्टान्त, और कहीं अर्थान्तर, कहीं व्याजस्तुति, तथा कहीं विशेषोक्ति, कहीं परिसंख्या, एवं कहीं वक्रोक्ति आदि अलंकार साम्राज्य जमाए बैठे हैं। पाठक,

जरा निम्न श्लोक की ओर ध्यान दें । एवं कल्पना सागरमें अपने विचारों को तरने दें । इस एक ही श्लोकमें उन्हें कई अलंकारों की प्रतीति होगी ।

संसार सागर तरंग तति तितीर्षुः
सन्ध्याख्य सुन्दर तरिं क्रतुसूत्रदण्डाम
आदत्त पुण्य चरिता गुरुदेव पाणेः
सिद्धाङ्गनेव सुखधाम पिपासुरेषा ॥१३-६५॥

अलंकारों का रसास्वादन तो पाठक स्वयं काव्यालोडन के समय करें, उसमें जो आनन्दाभिव्यक्ति होगी वह अपूर्व होगी । अतः मैं छोड़ता हूं ।

चतुर्दश सर्ग के शास्त्रार्थ पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि एक बार बीसवीं सदी में शंकरदिग्विजय के रचयिता श्री. विद्यारण्य ही मानों पुनः मेधाव्रत रूपमें अवतरित हुए हों । यद्यपि शंकर दिग्विजय की रचना में इतना प्रासाद और लालित्य तथा भाव गांभीर्य कहां ? आचार्य शंकर के समर्थ विद्वान अनुयायियों ने शंकर दर्शन की त्रुटियों को निकाल निकाल कर फेंकने का यत्न किया, और उन के स्थान पर सुन्दर सिद्धान्त रत्नों को सजाया । एक २ सिद्धान्त पर वाद विवाद और रचनाओं की परम्परा उपस्थित की गई । सुरेश्वर, अप्पय दीक्षित श्री हर्ष, मण्डन मिश्र, मधुसूदन एवं वाचस्पति आदिने अपनी वाग्मिता एवं विशाल ज्ञान से शांकर दर्शनको अभेद्य किला सा बना दिया है । दुःख का विषय है कि आर्य समाज के महान सेनानी आचार्य दयानन्द को अभी तक वैसे प्रतिभाशाली शिष्यों की परम्परा न मिल सकी । ऋषि के सिद्धान्तों पर थोड़ी बहुत चर्चा की भी गई संस्कृत में नहीं, हिन्दी उर्दू आदि भाषाओं में । देव वाणी के उपासकों की पक्की धारणा है कि संस्कृत भारती ही अमर है । आर्य जाति की संस्कृति की संस्कृत ही रीढ़ की हड्डी है । संस्कृत भाषा की प्राणवान रचना द्वारा ही भारतीय पंडित मण्डल में किसी सिद्धान्त का प्रचार किया जा सकता है । इस दिशा में आर्य समाज का यह पहला ही प्रयास है । आने वाले इतिहास लेखक दयानन्द दिग्विजय के शास्त्रार्थ परक रचनाओं के लिए जरूर ही उस कवि के लिए गौरव अनुभव करेंगे

चतुर्दश सर्ग के ६३ वें श्लोक से ८० श्लोकों तक विद्वान पाठक देखें कि इन थोड़े से श्लोकों में इस शब्द कलाकार ने कैसा कमाल हासिल किया है । वेदान्त के जटिल सिद्धान्तों को प्रतिपक्षी द्वारा प्रतिपादन करा कर आचार्य द्वारा उन सिद्धान्तोंको छिन्न भिन्न कर कवि ने द्वैतवाद की स्थापना में जरा भी कोर कसर बाकी नहीं रहने दी । यहाँ मैं दो तीन श्लोकों को प्रसंगोपात लिख देना उपयुक्त समझता हूं । देखिए —

'रज्वां भुजंग इव शुक्तिषु रूप्य वद् वा
मिथ्या जगन्निखिल हि केवलं तत् ॥ ६३ ॥

वेदान्ती के इस प्रतिपादन का उत्तर सुनिए —

सति कुड्ये भवेच्चित्रं, निराधारे कुतोन्वदः ।
किमालम्ब्य भ्रमो जज्ञे, मिथ्यात्वे जगतः पुनः ॥ ६७ ॥

"ब्रह्म सर्वज्ञमलक्षो जीवस्तु प्रकृतिर्जडा
साक्षी भोक्ता च भोग्येयं वेदतो युक्तितो प्यहो ॥ ७० ॥

प्रश्नोत्तर.--

कस्याजनि जगद्भानं ? ब्रह्मणीदं विदां मणेः ।
जीवस्य, कुत एषो ऽ भूदज्ञानात्तत्कुतः क्व नु ? ॥ ८५ ॥

अज्ञानं तिष्ठति ब्रह्मण्यादिः ब्रह्म किं गुणम् ।
ज्ञानस्वरूपं तच्चित्यमज्ञानं कथमीश्वरे ॥ ८६ ॥

मायया तद्धि माया का भासमानाप्यरूपिणी ।
अरूपं भासते किन्नु ? मिथ्योन्मत्त प्रजल्पनम् ॥ ८७ ॥

इस शास्त्रार्थ प्रकरण के अध्ययनसे दयानन्द युग तदृश आँखों के समक्ष उपस्थित हो जाता है । और पाठक तत्क्षण के लिये सब कुछ भुलकर शास्त्रार्थ सागर में डुबकियों लेने लग जाता है । केवल १४ वें सर्ग के अध्ययन से ही कवि का विशाल ज्ञान अध्येता को पता लग जाता है । वस्तुतः पिछले कई वर्षों तक कविने अनेक दर्शनो और भिन्न भिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों को न केवल पारायण ही किया किन्तु उसका गहरा अध्ययन भी किया है । इस काव्य में स्थान स्थान पर तर्क रूपी तीरोंका अगम्य किला सा बन गया है, जिसमें वैदिक धर्म के विपक्षियो का प्रवेश सुगम नहीं है ।

देखिए छोटे से अनुष्टुप मे सांख्य का गहन सिद्धान्त कितना सुन्दर रूपमे प्रतिपादित किया गया है ।

लक्ष्यस्य लक्षणं धीमँल्लक्षणस्य न लक्षणम् ।
पिप्रस्य न यथा पिप्रं कारणस्य न कारणम् ॥ ९७ ॥

लक्षणस्य न लक्षणम् ॥ न्याय का मम छिपा हुआ है ।

१० वें सर्ग के ८ वे छटे श्लोक में वैदिक स्तोत्र की सुन्दरता देखने ही लायक है । स्थानाभाव और समयाभाव के कारण दुःख पूर्वक मैं श्लोक नहीं लिख पा रहा हूँ ।

सत्तरवें सर्ग के १० श्लोक में प्रकृति प्रेक्षण और प्रकृति के साथ कविकी एकाकारिता का कितना सुन्दर निदर्शन मिलता है । इस सर्ग मे कविने गंगा का भी सुन्दर वर्णन किया है । कवि के इस एक काव्य का अध्ययन द्वारा उस समय का भारतीय समाज का सम्यक्

ज्ञान अध्येता का हो जाता है । स्त्रियों के लिये कवि के हृदय में बहुत कोमल भावनाएं निहित हैं । कवि को स्त्रियों का अबला कहा जाना समाज का कलंक मालूम होता है । शूद्रों के लिये कवि के हृदय सागर में प्रेम की उत्ताल तरंगें उठ रही है । स्त्रियों और शूद्रों की वकालत में कविने कुछ बाकी नहीं रक्खा है ।

महर्षि दयानन्द की हास्य प्रियता प्रसिद्ध है । कविने हास्य और विनोद में भी इस काव्य में कमी नहीं रहने दी है । इस काव्य के चुभते हुए हास्य प्रतिपादक पद्य हृदय में घुस कर मर्म स्थल पर आघात करते हैं । हास्य में मार्मिक शिक्षा का यह काव्य एक सुन्दर निदर्शन है ।

इस महा काव्य में छोटी छोटी सूक्तियों की परम्परा है । इन सूक्तियों को साधारण संस्कृत जाननेवाला भी समझ सकता है, इतनी इनकी सरल रचना है ।

सौभाग्य लभ्या हि सतां सुसेवा ।
धन्यानां न फलन्ति कुत्र सुगीरो लोकोदयाकांक्षिणाम् ।
दर्पोमयाद्य विजित फलिता सुविद्या ।
सत्यप्रिया हि विबुधा विरला इहेति ।
कल्याणकर्मणि सतां हि विलम्बितं नो ।
श्रेष्ठानुमोदितपथं हि जनाः प्रयन्ति ।
कल्याणिनी खलु सतां सततं प्रवृत्तिः
विद्यामुधेः का पुरतोऽम्बुधागा ।
सत्याग्रही किमु विभेति नृजमृत्योः ।
श्रेयस्करी मृतिरियं हि नृणां स्वधर्मे ।
शिष्योपदेष्टुः खलु दिव्य योगः
श्रेयं कुतः सत्यपथाच्च्युतानाम् ।
सत्यांकुरः क्व प्रलयं प्रयाति ।

दयानन्द महान् गुरुभक्त थे । सचमुच देखा जाय तो महर्षि दयानन्द का विराट कार्य गुरुभक्ति प्रेरित ही है । इस महाकाव्य में भी गुरुभक्ति का पवित्र स्रोत बह रहा है, जिस में स्नान कर अनेक शिष्य गुरुवर दयानन्द के पवित्र मार्ग चिन्हों पर चल सकेंगे ।

जो लोग आर्य-समाज के भक्त हैं, वे इस काव्य को पढ कर अनेक सिद्धान्तों को श्लोकों में याद कर सकते हैं । इस महा काव्य के अध्ययन से विद्यार्थी गण आर्य-समाजका और आचार्य दयानन्द का भक्त बन जायगा । इस के शास्त्रार्थ प्रकरणों को यादकर विद्वान्

उपदेशक गण संस्कृतज्ञों से शास्त्रार्थ मनन में विजय प्राप्त कर सकते हैं। श्राद्ध, वर्ण व्यवस्था, मूर्ति पूजा निषेध अवतार वादखण्डन, स्त्रियों को वेदाधिकार आदि विषयों पर खूबही सामग्री इस काव्य में भरी है। इस से उपयोग लेना संस्कृतज्ञ आर्यों का काम है। दयानन्द दिग्विजय पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। वस्तुतः कविवर मेधाव्रतजी की अब यह रचना सर्वाङ्गीन सत्य शिव सुंदरम् और शाश्वत हुई है। कवि के साथ अनेक वर्षों तक रहनेका मुझे अवसर मिला है। कविकी शक्ति को मुझे परखनेका सौभाग्य मिलाथा। और इसी लिए बारबार मैं अमरकृति की रचना के लिये कविको प्रेरित करता रहा। कविने संस्कृत-संसार को एक अमर काव्य रत्न इस युगमें भी दिया, यह संस्कृत साहित्य के लिए सौभाग्य की बात हो गई है। कदाचित् दिव्यानन्दजी इस दिव्य काव्य को इस रूप में जन्म न दे पाते यदि वे बडोदा आर्य-कन्या महाविद्यालय से पृथक् न हो गए होते। क्योंकि फिर कविको इतना विशाल पर्यटन का समय ही कहाँ मिलता? इस लिये इस दृष्टि से बडोदा कन्या महाविद्यालयके अगले को दुःख जनक समझ कर भी सत्य मानने को विवश होता हूँ। आज से आठ वर्ष पूर्व मैंने संस्कृत भारती के इस दुलारे दिव्यानन्दजीसे निवेदन किया था कि वे 'दयानन्द चंपू' की भी रचना करें क्योंकि एक चंपूकी भी जरूरत है। आशा है कि आर्य-संसार के, संस्कृतज्ञ कुछ वर्षों बाद दयानन्द चंपूका दर्शन कर सकेंगे। उत्तरार्द्ध दयानन्द दिग्विजय पर मेरा विचार एक विस्तृत आलोचना लिखने का है इस लिए इस समय कवि की दीर्घायुष्य की कामना करते हुए मैं अपने कथन को समाप्त करता हूँ।

गुरुकुल महा विद्यालय-सूपा

श्रुतबन्धु 'शास्त्री, वेदतीर्थ' उपाध्याय.

दयानन्द दिग्विजय गद्यकाव्य

के

उत्तरार्द्ध की संक्षिप्त आलोचना

जब मैं सान्ताक्रूझ गुरुकुल में दर्शन, उपनिषदें एवं स्मृति तथा काव्यों का अध्ययन करता था; तब अनेक बार अपने बालसुलभ मन में राक्षस कैसे होंगे ? ऋषि और मुनि कैसे होते होंगे ? ऐसे-ऐसे अनेक विचार मन में उठा करते थे; परन्तु उससे मन को शान्ति न मिलती थी। मेरे पूज्य गुरु प० मयाशंकर जी को मैं 'मुनि' रूप में देखना पसन्द करता था, परन्तु मुनि तो जटा वल्कलधारी होते हैं, ऐसी मेरी तत्कालीन कल्पनायें उसमें विघ्नरूप थीं। और उनको 'मुनि' मानते हुए मैं घबराता था। फिर तो विद्याभ्यास समाप्त होने पर संसार में पदार्पण किया और संसार का यत्किंचित परिचय होते ही पता लगा कि—राक्षस सींग या पूंछ वाले नहीं होते, परन्तु मनुष्य ही राक्षस होता है, इस बात का अनुभव होने लगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन चरित्र का चिन्तन और उनके कार्यों की जानकारी होते-होते 'ऋषि' शब्द का भी सुयोग्य परिचय प्राप्त हुआ। परन्तु 'मुनि' विषयक परिचय तो ग्रन्थों में आये हुए वर्णनों के अतिरिक्त न था। आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध कविरत्न मेधाव्रत जी की कुछेक कृतियों का सामान्य परिचय मुझे अपने गुरुकुलीय जीवन में हुआ था और तब से आपकी तरफ मेरा थोड़ा-थोड़ा आकर्षण रहा करता था। उनकी सुन्दर संस्कृत पद्य-गान शैली का प्रथम अनुभव मुझे कदाचित् सन् १९१७ के सान्ताक्रूझ गुरुकुलोत्सव पर "श्रुतिभानूदयोऽयं जगज्ज्ञानन्दयतीह नितान्तम्" नामक स्वरचित पद्य-गान को सुनकर हुआ था। एक गुरुकुल का निर्दोष वातावरण और दयानन्द की कथा, उत्सव का उल्लासमय प्रसंग और उसमें भी (वृन्दावन) गुरुकुल के एक ब्रह्मचारी बन्धु की काव्यकृति और सुन्दर-संस्कृत-पद्यमाधुरी ने उनके सात्विक और निराडम्बरी रचयिता के लिए मेरा मन सम्मान से भर दिया। तब से मैं उनका प्रशंसक बना। फिर तो कई बार अनायास कविरत्न जी के दर्शन होते रहे और उनके साथ संस्कृत में वार्तालाप करने पर मन आनन्द की तरंगों में उमड़ता रहा।

एक बार पुन १९३५ के मध्य में मुझे बड़ौदा जाने का प्रसंग प्राप्त हुआ, तब कारेली बाग की आर्यकन्या-महाविद्यालय-संस्था देखने गया। कारेलीबाग में उस समय मेरे मित्र, परिचित और प्रशंसक कई सज्जन थे। उन सब को मिला और अन्त में पं० मेधाव्रताचार्य जी के निवासस्थान पर भी गया। संस्कृत में बातचीत हुई। उस समय आपने पीताम्बर धारण किया हुआ था। सरल, प्रसन्न मुखमुद्रा और हाथ में कोई पुस्तक थी। आसपास शान्त वाता-

वरण था। मेरे मन में चिर-प्रसुप्त 'मुनि' की कल्पना पुनः जागृत हो उठी। दाढ़ी और जटा वाले ही मुनि होते हैं—ऐसा ग्रन्थाध्ययन संस्कार 'स्वाहा' हो गया। सामान्य मनुष्य भी 'मुनि' हो सकता है। सादापन, निष्पापवृत्ति, तपस्वी जीवन, स्वाध्याय-शीलता और जीवन के विविध सुखदुःखपूर्ण धूपछांह में अखंड शान्ति और सरल सद्भाव तथा स्नेहांकित प्रसन्न मनोवृत्ति वाला मनुष्य ही 'मुनि' है, ऐसा भाव मन में स्थित हो गया। और पं० मेधाव्रत जी में मुझे वह मुनिपन दीखा। मेरे पूज्य गुरु श्री पं० मयाशंकर जी को मैं दक्षिण एवं पश्चिम भारत के आर्य जगत् का 'मुनि' समझता हूं और पास ही समासन पर बैठ सकने वाले पं० मेधाव्रतजी को समझता हूं। दोनों ही ब्राह्मण-मनोवृत्ति के साधुचरित और सरल हैं। एक आर्य जगत् के महागम्भीर दार्शनिक विद्वान् और दर्शन-ग्रन्थों के सुयोग्य गुर्जर भाष्यकार हैं और दूसरे आर्य-जगत् के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। अन्य आर्य अथवा विद्वान् ऐसे 'मुनि' होंगे; परन्तु उनका मुझे परिचय नहीं है। मुझे तो अपने अनुभव में ये दो आर्य विद्वान् सचमुच मुनिपुंगव लगे हैं और वे सदा सम्माननीय हैं। दोनों गुणग्राही और परस्पर को अत्यन्त सम्मान से देखते हैं। एक कवि हैं तो एक दार्शनिक हैं। अस्तु—

उसके बाद तो कविजी ने 'दयानन्द दिग्विजय' नामक एक महाकाव्य की संस्कृत में रचना की; जिसका पूर्वार्ध १२ सर्गों में कुछ साल पहिले प्रकट हो चुका है। एक प्रति उन्हों ने मुझे भी भेंट दी थी। जिसको पढ़कर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ था। सैकड़ों विद्वानों ने उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उसमें लगभग १२०० श्लोक हैं। उसका सुन्दर हिन्दी अनुवाद श्री पं० श्रुतबन्धु जी वेदतीर्थ ने किया है। उसको पढ़कर मैंने "आर्यप्रकाश" (मुखपत्र बम्बई प्रतिनिधि) में पाठकों को थोड़ी रस प्रसादी चखाई थी। उसमें गुरुदक्षिणा का प्रसंग मुझे खूब पसन्द आया था; उसी पर मैंने थोड़ा लिखा था। उस पूर्वार्ध को पढ़कर मैंने कवि जी को आग्रह किया था कि अब इसका उत्तरार्ध शीघ्र तैयार कीजिये। ऐसी तैयारी में कितना परिश्रम पड़ता है; इस बात की कल्पना पाठकों को कम ही होती है। ऐसा महाकाव्य रचते हुए रचयिता को उसमें कितना श्रम और कितने विघ्नों का सामना एवं व्यय करना पड़ता है—इत्यादि बातें तो कवि के हृदय में सदा छिपी ही रहती हैं। हमारे आनन्द की ओट में किसकी कितनी मेहनत छिपी रहती है—इस बात की कल्पना करने वाला मनुष्य इसकी प्रतिष्ठा कर सकता है। अन्यथा संसार तो निष्ठुर है ही; उसको किसी की अपेक्षा नहीं। वैसे तो ऐसे लोककल्याणकांक्षी महापुरुष भी संसार की निन्दा स्तुति से परे रहते हैं। इसीलिए जगत् की कृतघ्नता के सामने भी लोककल्याण के कितने ही कार्य होते आये हैं और होते रहेंगे। अस्तु—

लगभग १९४३ के सितम्बर में मुझे कविजी का पत्र उनके प्राकृतिक निवासस्थान (जिसका सुन्दर नाम 'पुण्यारण्य' ग्राम-नान्दूर, पो. येवला, जि. नासिक है) से मिला कि—"तुम्हारा बहुत आग्रह था कि महाकाव्य का दूसरा भाग शीघ्र तैयार होवे तो लो, अब वह तैयार हो गया है। और मैं बम्बई आने वाला हूं, तब तुम्हें दिखाऊँगा" इत्यादि। यह समाचार सुनकर किसी दरिद्र को धनराशि मिलने जैसा आनन्द मुझे हुआ। परन्तु उसके साथ ही उत्सुकता बढ़ी कि कब उसका अवलोकन करूं।

उत्तरार्द्ध की रचना—

यह दूसरा भाग उत्तरार्द्ध कविजी ने ता. १-१०-४२ को प्रारम्भ कर केवल प्रातःकाल की पुण्य वेला में ही नित्य नियम से लिखकर बराबर २-१०-४३ के दिन १९ सर्गों में समाप्त किया। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के कुल २५ सर्ग हैं और उनकी श्लोक संख्या २७०० सौ हैं। इस एक वर्ष के रचनाकाल में कवि जी स्वयं एक समय ही भोजन लेते थे और वह भी सात्विक दूध, फल इत्यादि अथवा सामान्य हलका-सा भोजन; साथ ही लेखन, शास्त्राध्ययन और योगानुष्ठान भी करते थे। इस प्रकार इन तपस्वी मुनि ने "दयानन्ददिग्विजय" का उत्तरार्द्ध पूरा कर संस्कृत जगत में आर्य-जगत् का नाम उज्ज्वल किया है। और संस्कृत महाकाव्यों में एक अमर कीर्ति की वृद्धि की है। तदर्थ दयानन्द भक्तगण उनके ऋणी रहेंगे। ता. ७-११-४३ को कविजी बम्बई आये और मुझे इम्तलिखित प्रति पढ़ने को दी। मैं ने घर में, बाहर, ट्रेन ट्राम में, जहा जब समय मिला, पढ़कर समाप्त करने ही परम शान्ति का अनुभव किया। पूर्वार्द्धवत् उत्तरार्द्ध भी ललित-पद्यों से पूर्ण है। शास्त्र चर्चा से सुन्दर बना है।

दार्शनिकवादों का सरल प्रतिपादन

शास्त्रार्थार्थी दयानन्द—

इस महान् ग्रन्थ का १४ वां सर्ग शास्त्रार्थ-विषयक है। महर्षि धर्मप्रचारार्थ व्याख्यान आदि देते हैं। वहा अनेक पंडितजन विरोध करने खड़े होते हैं, और शास्त्रार्थ परंपरा प्रारंभ हो जाती है। गंगातट पर विद्यमान 'कर्णवास' से कवि इस प्रकार प्रारंभ करते हैं.—

गंगातीरे प्रभुरतमनाः कर्णवासान्तिकस्थे
ब्रह्मज्ञानी विहितवसतिः श्रीदयानन्ददेवः।
वेदादेशामृतजलधरो भक्तिधारां प्रवर्ष—
ल्लोकस्वान्ता चलमतनुताऽऽनन्दगंगाप्रवाहम्॥

गंगा के तीर पर, कर्णवास नगर के समीप-प्रभुमग्न, ब्रह्मज्ञानी श्री दयानन्द देव ने निवास किया था। लोक कल्याण के लिए जैसे मेघ मूसलाधार बरसकर शैलराज में गंगा बहाते हैं, ठीक वैसे ही दयानन्द जी ने वेदाज्ञामृत को धारण करने वाले जलधर बनकर लोगों के अन्तः करणरूपी पर्वत में भक्ति वर्षा-द्वारा आनन्द की गंगा बहा दी।

कैसा सुन्दर, प्राकृतिक दृश्यों की अनुपम छटा से शोभित, यथार्थ वर्णन है? रूपकालंकार की बहार मानों नाच रही है!

शास्त्रार्थ तो सदा बुद्धि की कसौटी रूप हुआ करते हैं। उसके प्रतिपाद्य-विषय भी प्रायः शुष्क होते हैं। जिस में साधारण जनता को कुतूहल के अतिरिक्त दूसरा रस नहीं प्रतीत होता।

ऐसे शुष्क विषय को भी सु-रसयुक्त यदि न बना दें तो महाकवि कैसे ? कवि ने इन सारे रूक्ष विषयों को अपने स्वाध्याय चिन्तन में समाविष्ट करके सरल वाणी द्वारा सामान्य जनसमाज के समझने योग्य बना दिया । जरा अवलोकन कर लीजिये:—

ईश्वर का स्वरूप—

क्लेशकर्मविपाकाशाद्यपरामृष्ट ईश्वरः ।
किमर्थमेोक्तृतां धृत्वा चेष्टेत प्राकृतेापमः ॥१४-२६॥

योगसूत्रानुसार ईश्वर क्लेश, कर्म, कर्मफल, वासना आदि से अस्पृष्ट है, वह साधारण मनुष्य की तरह भोक्तृत्व को धारण कर मानुष व्यवहार क्यो करेगा ? वेद भी जिस को अकाय, शुद्ध, अपापविद्ध, कविर्मनीषी आदि कहते हैं । उसका उल्लेख निम्न कविता में इस प्रकार किया गया है:—

अपापविद्धे शुद्धेऽस्मिन्नकाये परमात्मनि ।
वेदोक्तसत्प्रमाणेऽपि प्राकल्पि तनुरैश्वरी ॥१४-२७॥

वेद अनेक प्रमाणों से ईश्वर को निराकार सिद्ध करते हैं, तथापि मूढ लोगोंने उसका शरीर बना डाला ।

वितण्डावादी लोग स्मृतियों को साकरवाद प्रतिपादिका बतलाते हैं, उसका उत्तर कवि महर्षि-मुख से दिलाते हैं कि:-

श्रुते विरुद्धं वचनं न मन्यते । स्मृति हि सा, या निगमानुगामिनी ॥१४-३०॥

वेद विरुद्ध किसी का वचन प्रमाण रूप से माननीय नहा है । वेद विरुद्ध यदि स्मृतियां हों तो वे भी अमान्य हैं ! किन्तु कवि ने तो यहा स्मृति की सुन्दर मर्यादा ही बाध दी है कि निगम वेदो को अनुसरण करने वाली ही स्मृति कही जा सकती है, और विपरीतगामिनी वह हो तो स्मृति ही नहीं कहला सकती ! सुन्दर सुभाषित के रूप में महान् सिद्धान्त समझाकर मानो गागर में सागर भर दिया है ! सहृदय रसिकजन स्वयं अनुभव कर देखें ।

कंस-रावणादि दुष्टों के विनाशार्थ ईश्वर अवतार-धारण करता है इसका सुन्दर तार्किक दृष्टि से इस प्रकार खण्डन करते हैं —

प्रयोजनं नैव शरीरधारणे, प्रभोः पुनर्दुर्जनदैत्यवारणे ।
वपुर्विनैवास्य हृदन्तरात्मनः समर्थता सज्जनरक्षणे यदा ॥१४-३२॥

दुष्टों के विनाश के लिए प्रभु को शरीर धारण करने का प्रयोजन ही नहा है । क्योंकि प्राणिमात्र के हृदय में अधिष्ठित परमात्मा शरीर बिना भी सज्जनों का रक्षण और दुष्टों का निकन्दन करने में समर्थ है । जैसी सुन्दर युक्ति है, वैसी ही सरल पद्य-माधुरी है, जो मनोरंजन करती हुई धर्म—सिद्धान्तों को सरलता से स्वीकृत करा देती है ।

नवीन वेदान्ती कृष्णानन्द साधु के साथ महर्षि का वाद होता है। रस्सी में सर्प की भ्रान्ति का वह दृष्टान्त देता है और कहता है कि यह जगत् भी रज्जुमें सर्पतुल्य मिथ्या है! इस पर महर्षि गर्जना करते हैं कि:—

जगत्यसत्ये ननु रज्जुसत्तां कुतः प्रमाणीकुरुषे मनीषिन् ? ॥१४-६५॥

हे विद्वन्! जगत यदि मिथ्या हो तो (जगत में ही विद्यमान) रस्सी की सत्ता कैसे प्रमाणित कर सकोगे? कृष्णानन्द इस पर चुप हो जाता है और दूसरा प्रकरण चलाकर लक्षण का भी लक्षण होता है, इत्यादि बकने लगता है; तब ऋषिवर उत्तर में कहते हैं कि.—

लक्ष्यस्य लक्षणं धीमल्लक्षणस्य न लक्षणम् ।
पिष्टस्य न यथा पिष्टं कारणस्य न कारणम् ॥१४-६७॥

अरे भाई! लक्ष्य का लक्षण हो सकता है, कहीं भी लक्षण का लक्षण नहीं हो सकता! पिसे हुए का पिसना कैसे सम्भव है? वैसे ही कारण का कारण क्या? यह तो दार्शनिक चर्चा है। इस लिये इसका विवरण कदाचित् उद्वेग-जनक प्रतीत होगा, यह विचार कर वाचक महानुभाव को इसकी गहराई में नहा ले जाऊँगा। किन्तु यहा इतना ही देखना है कि महाकवि, ऐसे दार्शनिक विषय को भी कैसा सुन्दर हृदयंगम बना देते हैं। "वेदहमेत पुरुष महान्तम्" के सुप्रसिद्ध वेदमन्त्र का उत्तरार्द्ध—"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" है। इस वैदिक काव्यको लौकिक काव्य मे कैसी सरलता से कवि परिवर्तित करने में सफल हुए हैं। देखिये —

अत्येति मृत्युं तमयं विदित्वा नान्योऽस्तिपन्था अयनाय तस्मात् ॥१४-१३७॥

मानो वेद की ऋचा का उच्चारण करता हुआ कोई ऋषि न हो! तथापि सामान्य सस्कृत को जानने वाला मनुष्य भी इसके अर्थ को शीघ्र ग्रहण कर लेता है ऐसी हमारे महाकवि पं. मेधाव्रत जी की प्रसादगुणरम्य काव्यशैली है, जो गभीरता को भी सरलता के मार्ग में सरलता से ले जाती है। ऐसी का नाम है—नैसर्गिक-काव्यप्रतिभा!

दयानन्द-जीवन की कुछ झांकियां

दुर्जनदर्पदलन—

दुर्जन के अहंकार को दलन करना इस सर्ग का मुख्य विषय है। कर्णसिंह ठाकुर के साथ महर्षि के वाद का विषय ईश्वरावतार सबन्धी है। प्रारंभ में कवि ईश्वर के विषय में सुन्दर पदावलि से उद्बोधन करते हैं कि:—

देवाधिदेव! करुणामय! प्राणिबन्धो! सृष्टिस्थितिप्रलयकारण! सौख्यसिन्धो!।
जीवात्मनां विविधकर्मफलप्रदाता पाता त्वमेव जगनां प्रकृतीश्वरोऽसि ॥१५-५॥

श्लोक की सौष्ठव-छटा देखने योग्य है। कोमल-कान्त-पदावलि मनको मुग्ध कर लेती है, और परमात्मा के गुणों में मुहूर्तभर मानव चित्त को बलात् खींच ले जाती है। महाकवि कालिदास ने "सर्गस्थितिप्रलयहेतवः" परमात्मा को कहा है, परन्तु वह रस तो पारंगत अभ्यासी जन ही पी सकते हैं। जब हमारे कविरत्न मेधाव्रतजी का उसी अर्थ का चरण.— "सृष्टिस्थितिप्रलयकारण" कितना सरल! एक बालक भी इसे समझ सकता है। क्लिष्टता काव्य की कसौटी नहीं है परन्तु सरलता और सरसता ही काव्य की कसौटी है। जैसी गान्धीजी की गुजराती भाषा सरल और लोक भोग्य है, वैसी ही महाकवि मेधाव्रतजी की संस्कृत काव्य निर्झरिणी की सरलसरला पावनी धारा बह रही है।

कविजी ने इस श्लोक में वैदिक धर्म के मूलभूत सिद्धांत त्रैतवाद की भी चातुर्य से समाविष्ट करके जीव, ईश्वर और प्रकृति का सुन्दर समन्वय किया है। जीव फल-भोक्ता है, ईश्वर फलदाता तथा प्रकृति का स्वामी है, आदि अनेकों धार्मिक सिद्धान्तों को एक ही श्लोक में वर्णन कर सिद्धान्त-सागर को किस चतुराई से गागर में भर दिया है, इसे विवेकशील पाठक महानुभाव देख सकते हैं।

"देवावतारमतिनिन्दसि चार्य्यगंगां त्वं सर्वदेति जनतः श्रुतमस्ति साधो।"

कर्णसिंह कहते हैं कि हे साधु! मैंने सुना है कि तू सदैव ईश्वरावतार और गंगामैया की निन्दा करता है। महर्षि ने उसको जो उत्तर दिया वह उत्तर ही भगवान् दयानन्द के सत्याग्रह-आदर्श को उपस्थित करता है। जैसे—

"निन्दामि नैव परमस्ति यथा यथार्थं वस्तु प्रवच्मि तदहं हि तथा विशङ्कः।"

अरे भाई! मैं निन्दा नहीं करता परन्तु जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही कहता हूं। मुझे इसमें किसी का भय भी नहीं है।

ईश्वर-विश्वास—

कोई ऋषिभक्त दयानन्ददेव को कहता है कि-महाराज! आपके जीवन-दीपकको बुझाने के लिये बहुत से लोग प्रयत्न कर रहे हैं, इस लिये आप सावधान रहें। ऐसी हितकर सम्मति देने वाले को प्रभुविश्वासी वह सन्यासी कैसा सुन्दर उत्तर देकर निर्भयता का पाठ सिखाता है। उसे कवि इस प्रकार जतलाता है:

नित्यं मम प्राणविनाशचेष्टा दुष्टैर्भवद्भ्येव कृता परं माम्।
सर्वत्र संरक्षति सर्व-गोप्ता विश्वेश्वरो मे न भयं ततोऽत्र॥१६-८७॥

मेरे प्राणनाश की चेष्टा सदैव दुष्ट जनों ने की है और वे करते हैं। परन्तु विश्वेश्वर सर्वगोप्ता सदा मेरी रक्षा करता है। अतः मुझे कहां और किसका भय? 'सर्वगोप्ता' शब्द यहां कैसा उचित सन्निविष्ट हुआ है! इस शब्द से काव्य में एक चमत्कार आगया है, और भावतरंग का उत्थान हुआ है, इसे सहृदय पाठक अनुभव करेंगे।

सत्य परायणता—

महर्षि की समुन्नत जीवननिष्ठा कैसी है, उसे कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है

विसर्जयेत्कामममूनयं परं, स्वसत्यधर्मान्न चलेत् तपोधनः ॥१८-४४॥

दयानन्ददेव आनन्द से प्राणों का उत्सर्जन कर देंगे, परन्तु अपने सत्यधर्म से वे तपोधन सन्यासी एक इंच भर भी न हटेंगे। आर्यों का परम भाग्य है कि उनका नेता सत्य का इतना अटल पूजक था! उसका जीवन वेद, उसका आधार सत्य था। उसका श्वास वेद तथा उसका प्रश्वास सत्य था। उसकी वाणी वेद और उसका आचार सत्य था।

दयानन्द = वेद-सत्य-तप का अपूर्व संमिश्रण।

ऐसा युगपुरुष किसका वन्दनीय नहीं होता? कवि का सम्भाषित देखिये—

"न कस्य वन्द्यो मनुजस्य सज्जनः"।

ऐसे सज्जन पुरुषों की जिनको सगति मिली हो, वे कितने भाग्यशाली होंगे? सज्जन सगति के लिये शकराचार्यजी की उक्ति—"क्षणमपि सज्जनसगतिरेका। भवति भवार्णव-तरणे नौका"॥ एक क्षण भी सज्जन की सगति भवसागर को तैरने में नौकारूप होती है। इसी भावार्थ को हमारे कविजी विशेष सक्षेप से यों कहते हैं—"सता मणेम्सगतिरेव पावनी।" सज्जन-शिरोमणि की सगति पवित्र करने वाली होती है। सस्कृत-साहित्य में लाघव को तो महत्त्व दिया गया है। महाकवि मेघाव्रतजी के महाकाव्य में यह लाघव कैसी सुन्दर रीति से सन्निहित है!

उत्कट देशभक्ति—

महर्षि दयानन्द की कैसी उत्कट देशभक्ति थी! इसका ज्वलन्त दृष्टान्त देखिये। एक स्त्री मरे हुए बालक को गगामें बहाकर शवका वस्त्र पुनः ले जा रही है, यह देख ऋषिवर की आखों में से आसुओं की धारा बह रही है। इस दृश्य की करुणता को कवि अपनी लाक्षणिक प्रतिभा से इस प्रकार प्रकाशित करते हैं—

दयामयो धारयितुं निजं मनो, विलोक्य दृश्यं करुणं शशाक नो।
व्यचिन्तयत् खेदसमुद्रमग्नवान्, दशां स्वदेशस्य दरिद्रताकुलाम् ॥१९-७१॥

ऐसे करुणापूर्ण दृश्य को देख दयामय दयानन्द का धैर्य-बन्ध टूट गया और दुःख समुद्र में डूबकर देश की दरिद्र दशा का चिन्तन करने लगे कि.—

अये! हृदःखण्डनिभं स्वबालकं, प्रवाहयेत् किन्तु तदंशुकं न सा।
तदंगसंगं जननी यतः पुनः सुदुर्लभं तद्वसनं स्वधारकम् ॥१९-७२॥

अरे ! यह माता अपने हृदय के टुकडे को गंगा में बहा सकती है परन्तु उस मृत के वस्त्रखण्ड को नहीं बहा सकती ! क्योंकि कदाचित् आपनी लाज ढंकने को उसे दुसरा वस्त्र न मिलेगा ! देश की करुण दरिद्रता का यह कैसा हृदयद्रावक दृश्य है !

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि० ।"

वज्र से भी कठोर और फूलों से भी कोमल महात्मा दयानन्द का हृदय इस करुण दृश्य से द्रवित हो जाता है । और उनके नेत्रों से करुणानीर छलक पडता है । वे समाधिसे केवल आत्म-कल्याण करने की इच्छा को लात मार कर एवं आत्ममोक्ष की उपस्थित वेला को त्यागकर अर्थात् परहितार्थ निवृत्तिमार्ग को छोडकर प्रवृत्तिमार्ग का स्वीकार करते हैं । इसी बात को कविराजने अपने काव्य में यों ग्रथित किया है:—

"निवृत्तिमार्गो न वरः प्रवृत्तितः क्रियात्मकं जीवनमेव मंगलम्" ॥१९-७४॥

प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्तिमार्ग श्रेयस्कर नहीं है; क्रियात्मक मार्गवाला मानवजीवन ही मगल-कारी है । अतः दयानन्द देवने लोकहितार्थ कर्मभूमि में पदार्पण किया ।

साधु दयानन्द और वह युग

निर्भयता—

२० वां सर्ग:—महर्षि गगा किनारे प्रचार करते थे । शरीर पर केवल कौपीन धारण किये हुए थे । उस अवस्था में एक अंग्रेज दम्पती ने एक स्टेशन पर उनके दर्शन किये । उन्होंने स्टेशन मास्टर से पूछा कि—यह नग्न कौन है ? इसे बाहर निकाल दो । स्वामी जी को यह बात विदित हुई और उन्होंने उस अंग्रेज बहादुर को उसकी नानी के नाना की याद निम्न गीत से दिलाई और उसकी मति को सीधे मार्ग पर वे ले आये:—

वयं जनास्तस्य युगस्य यस्मिन् हव्वादमौ श्रीपितरौ सुनग्नौ ।
लज्जां भ्रमन्तौ नहि बभ्रतुस्तौ बभ्राम च प्रागिव पुण्यकीर्तिः ॥२० ७॥

आपके श्री पितर—बीबी हव्वा और बाबा आदम जिस युग में नंगे घूमते थे, और उन्हें लज्जा नहीं प्रतीत होती थी उस युग का मैं हूं ! ऐसा निर्भय उत्तर देकर वे पुण्यकीर्ति दयानन्द देव प्रचारार्थ भ्रमण करते थे । वह अंग्रेज तो इस बात को सुन कर आश्चर्य चकित हो गया ।

सत्संगगंगा मनुजान्तरंगान् वेदोक्तिभंगैरपुनान्निलान्तम् ॥२०-२१॥

सन्त की संगति गंगा वेदोक्ति की तरंगो से मानवों के अन्तरंगो को अति पावन बना देती थी । कवि जी ऋषि दयानन्द की वाणी के विषय में कहते हैं कि:—

सारल्यलालित्यगुणाभिरामां तर्कप्रमाणोच्छ्रितिदर्शनान्ताम् ।
विद्वद्वरा देवगिरं सधारां श्रुत्वा चिरं ते मुमुहुर्मुनेस्ताम् ॥२०-४७॥

ऋषि दयानन्द प्रचार-व्याख्यान के समय संस्कृत भाषा—देववाणी बोलते थे, वह कैसी थी ? सरल, लालित्य गुण से अभिराम-सुन्दर, तर्क प्रमाण तथा उत्तम दृष्टान्तों से मनोहर, धाराप्रवाह युक्त थी, उस संस्कृत वाणी को सुन कर विद्वद्वर शास्त्री वर्ग मुग्ध हो जाता। हम इसी श्लोक को कवि चक्रवर्ती मेधाव्रतजी की इस संस्कृत काव्य धारा में यदि घटायें तो जरा भी अयुक्त नहीं ! इसमें सहृदय पाठक अवश्य मेरे साथ सहमत होंगे।

'सत्यार्थप्रकाश' ग्रन्थरत्न के विषय में समय २ पर अकांड ताडव हुआ करता है; वह ग्रन्थ ई० स० १८७५ में राजा जयकृष्णदास जी की सहायता से ऋषि दयानन्द ने प्रकाशित किया था; उसको लक्ष्य करके अपने महाकवि कहते हैं कि:—

हितोपदेशान् यमिनं स राजा सुलेखबद्धाननुरुध्य कर्तुम् ।
प्राकाशयद् ग्रन्थमणिं स्वलक्ष्म्या समग्रभूमानबबोधहेतोः ॥२०-२६॥

राजा जयकृष्णदास ने महर्षि की उनके कल्याणमय उपदेशों को लेखबद्ध कर देने के लिए अनुरोध किया और अपने खर्च से इस ग्रन्थमणि 'सत्यार्थप्रकाश' को छपवाया। किस लिये ? सारी पृथ्वी के मानवों के ज्ञान के लिये—'समग्रभूमानबबोधहेतोः।' कैसा भाववाही यह चरण है। कितनी विशालता उसमें निहित है ! यह ग्रन्थ तो पृथ्वी माता के सारे मनुजबालकों के बोध के लिए रचा गया है' शास्त्रार्थ और ग्रन्थ प्रणयन के द्वारा—

मिथ्यापुराणोपलतुंगभित्तिं रुक्मादिमूर्त्यर्चननूत्नदुर्गम् ।
वेदार्थवज्रैः विददार तीव्रैः श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीन्द्रः ॥२०-७७॥

मिथ्या पुराण रूपी पत्थरों की ऊंची भीत वाले, सोने चान्दी की मूर्तियों की पूजा रूपी नये दुर्ग-किले को वेदार्थ रूपी वज्र प्रहारों से दयानन्द रूपी इन्द्र ने तोड फोड डाला। कितनी सुन्दर और सुश्लेष्य एक-एक उपमा (रूपक) कवि जी ने यहां अनायास रख दी है। मानो, सोने के गहनों में रत्न हीरे जड दिये हों ! साहित्य रसिक एवं कलापरीक्षक जन अवश्य इसका अवलोकन करेंगे। सचमुच ही ! कवि जी अपने नाम की भी सार्थकता इसमें कर देते हैं। हमारा उनको अभिनन्दन है।

बम्बई नगर—

२१ वें सर्ग में मनोहर बम्बई नगरी का वर्णन भी महाकवि अपनी मनोरम शैली से इस प्रकार करते हैं:—

अखण्डभूखण्डनृमण्डनावलि विमण्डिता मोहमयी पुरी बभौ ।
यया विमोह्याखिलमानवान् गुणैः कृतं कृतार्थं निजनाम कामदम् ॥२१-१॥

समस्त पृथ्वी के प्रत्येक देशों के मानवों से मण्डित हुई मोहमयी (बम्बई) मुम्बई पुरी सुहाती है। जिस नगरी ने अपने गुणों से संपूर्ण मानवसमुदाय को मोहपाश में जकड कर अपना मोहमयी 'कामदम्' नाम सार्थक कर दिया है।

मोहमयी—मोह से युक्त। मोह! यह कामदेव का साधन है, अर्थात् मोहमयी ने अपना कामदम्—काम को विषय कामना को उत्तेजित करने वाला नाम सार्थक किया है। धन, वैभव विलास आदि का ऐसा आकर्षण बम्बई में है कि एक बार उसके मोह में गिरा हुआ मानव-मनुष्य फिर उसके पाश में से सरलता से नहा छुट सकता; इस लिए मोहमयी' नाम सार्थक ही है। इस श्लोक में 'मोहमयी' और 'कामदम्' ये दोनों अन्वर्थक पद कैसे परस्पर सहायक बन कर यथार्थता दर्शा रहे हैं। मैं मानता हूं कि यह रहस्य साहित्यकला परीक्षकों से अज्ञात नहीं रह सकता। आगे कविराज वर्णन करते हैं:—

सुविश्वविद्यालयनाटकालयै र्मनोहराहारविहारमन्दिरैः ।
अशेषदेशातिथिसुन्दराश्रयै रलंकृता या शुशुभे महीमणिः ॥२१-६॥

छोटे-बडे स्कूल, कालिज तथा विशाल यूनिवर्सिटी और नाटकशाला थियेटर्स के अतिरिक्त सुन्दर उपहारगृहों से तथा समग्र देशों के निवासी जनों के लिए अतिथिगृह-गेस्ट हाउस पंथिकाश्रमों से जो शोभायमान है, ऐसी मोहमयी मुम्बई नगरी पृथ्वी के रत्न समान जाज्वल्यमान हो रही है।

कविरत्न जी ने विद्यालय और नाटकालय का अनुप्रास अच्छा मिलाया है। आज कल तो विद्यालय भी नाटकालय ही बन रहे हैं न! कोई स्कूल, कालिज वा विद्यालय कहलाने वाली संस्था भी नृत्य, गान, सवाद नाटक आदि से कहा सूनी है? केवल विद्यादान कहां दिखाई देता है? यहां कविवर कदाचित् व्यङ्ग में मार्मिक बात कह जाते हो तो आश्चर्य नहीं! बम्बई का कैसा सुन्दर यथार्थ वर्णन है! रेस्टोरा होटलें, भोजनालय तथा उपहारगृह, बोर्डिंग एण्ड लॉजिंग तो स्थान-स्थान पर दृगोचर होते हैं। सम्भव है कि कवि जी ने इन सब का स्वतः अनुभव कभी न किया हो किन्तु उनकी अवलोकन दृष्टि की सतर्कता उन्हें तादृश चित्र प्रदान करती है, इसी का नाम कवित्व'

महर्षि दयानन्द अन्य साधुओं और पण्डितमन्यों; गुरुओं और मठाधीशों तथा इतर पाखण्डी और धूर्त लोगों की तरह स्त्रियों का सहवास तो क्या? दर्शन भी सहन नहीं कर सकते थे। मन्दिरों और देवालयों में स्त्रियों का जाना भी दयानन्द जैसे तपस्वी ब्रह्मचारी को अच्छा नहीं लगता था। एक समय एक देवी ने ऋषि से निवेदन कर ही दिया कि—'स्वामीजी! आपकी कथा में स्त्रियां आवें तो उसमें आपको क्या आपत्ति? उसका उत्तर हमारे कविकुलमणि महर्षि

मुख से इस प्रकार दिलाते हैं; जो प्रत्येक स्त्री और समग्र नारी संसार को स्वीकार करने योग्य है:—

'न मन्दिरादौ न च साधुसन्निधौ गतागतं साम्प्रतमार्ययोषिताम् ।
गुरु र्हि तासां पतिरेव देवता सदा मनोवाक्तनुभिः स्त्रियार्च्यताम् ॥२१-७१॥

आर्य स्त्रियों को मन्दिरादि में और साधुओं के पास जाना योग्य नहीं है। पति ही उनके गुरुदेव हैं, और उन्हीं का मन, वचन और तन से अर्चन करना योग्य है! ज्योतिष वा उपवासादि तो मिथ्या है। पति को प्रसन्न रखने ही से प्रभु प्रसन्न होता है। कैसा सरस सुभाषित है? कैसा सुन्दर उपदेश है? यदि गृहसंसार में इसका पालन हो तो इस दुःखी जगत् में से कितने ही पाप-दुराचार आज ही नष्ट हो जाय। विज्ञ उपदेशक—कविगण अपना वक्तव्य कह देते हैं, उसका पालन करना जनता के हाथ में है, जितने अंश में उसका पालन उतने ही अंश में सुख होता है। यह भी स्पष्ट है कि—

'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः !'

अवशेष ऋषि दयानन्द

सदाशयता तथा उपेक्षावृत्ति

२२ वां सर्ग में पूना काण्ड है। पूना नगर सनातनी दाक्षिणात्य, महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों का कट्टर दुर्ग है। स्वामी जी के समय में वह कट्टरता चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। वहां स्वामी जी के उपहास का आयोजन होने लगा और किसी ने स्वामी जी को सूचना भी दी। उस समय जगद्-हितैषी ऋषिराज का प्रत्युत्तर सुन्दर सुभाषित में कविराज ने इस प्रकार दिया है कि—

कामं भषन्तां भषकाः खराश्च ते गच्छन्तमालोक्य गजेन्द्रमध्वना ।
गम्भीरतां किं गुरुगौरवाञ्चितां, जह्यान्नरेन्द्रार्चित कुञ्जरो निजाम् ॥२२-३४॥

राजमार्ग में जाते हुए गजराज को देखकर गधे और कुत्ते चाहे जितना भोंकते रहें, उससे क्या नरेन्द्रों से सम्मानित गजेन्द्र (हाथी) अपनी गुरुगरिमायुक्त गंभीरता छोड देवे! कभी नहीं! इसी का नाम है महानु-भावतायुक्त उपेक्षावृत्ति! बाकी हमतो जब अत्यन्त क्षुद्र और अधम मनुष्य को भी अपने गुण्डेपन या अप्रतिष्ठा को ढांकते हुए ऐसी उपेक्षावृत्ति की शरण लेते हुए देखते हैं तब उसकी पामरता रो उठती है! और उसकी तरफ घृणायुक्त दया उत्पन्न होती है। अरे! वामन होकर विराट भावना की ओट में जगत् को ठग ने निकलने वालों की धूर्तता आज तो चारों ओर देखी जा रही है। ऐसे समय उपर्युक्त उज्ज्वल सदाशयतापूर्ण उपेक्षावृत्ति का ऋषि दयानन्द ही सच्चा निदर्शन करा सकते हैं! दूसरे धूर्तों का वहां सामर्थ्य नहीं! क्योंकि ऐसी उदारता तो धूर्त और स्वार्थी साधुओं में नहीं होती। हमारे आशुकवि ठीक ही कहते हैं कि: —

लोकोपकाराय न लोककीर्त्तया कल्याणकर्त्तुः कृतिरेव राजते ॥२२-७२॥

कल्याण करने वाले महात्मा जन ही लोकोपकार के लिए कार्य करते हैं, लोककीर्ति की कामना से नहीं ।

दिल्ली का वर्णन—

ऋषि सर्वधर्म सम्मेलन की आयोजना के लिये प्रचारार्थ दिल्ली पहुँचते हैं। जरा उस दिल्ली का वर्णन भी कविराज की छटा में देखने योग्य है। अनुप्रास की तो बोलबाला है.—

अर्थिसार्थहितकल्पसुवल्ली, यत्पुरोऽमरपुरी लघुपल्ली ।
यां श्रिता सुकृतिनी वनभिल्ली, सा बभावनुपमा भुवि दिल्ली ॥२३-१॥

वल्ली, पल्ली, भिल्ली, दिल्ली यह अनुप्रासों की छटा सचमुच दर्शनीय है। भारत की राजधानी का गौरव दिल्ली को प्राप्त हुआ है—महापूर्व काल से आजतक। उसके वर्णन में भी कविने कमाल कर दिखाई है। एक ऐसा ही दूसरा श्लोक और लीजियेः—

यामुनाङ्कललितोत्तमदुर्गा, नामितावनिनरेश्वर वर्गा ।
चारुचित्ररुचिरालयसर्गा, भक्तमानववरार्चितभर्गा ॥२३-२॥

शीघ्र कविकी स्वाभाविक प्रतिभा ने इन सहज अनुप्रासों की सृष्टि की है। कहीं भी खींच तान या ठोकपीट कर शब्द रचना की स्वस्तिक रंगावलिया चित्रित नहीं की! सच्चे कवि हृदय में तो ये नैसर्गिक झरने झरते ही रहते हैं। वे वश्यवाक् होते हैं। शारदा सदैव उनकी सेवा में हाथ जोडकर उपस्थित रहती है।

एक दिन शिष्य एवं भक्त पण्डित मोहनलाल ने महर्षि के ऊपर विषादि प्रयोग किये हुए देख कर खेद प्रकट किया, यह जानकर उन वीतराग स्वामीजीने जो उत्तर दिया, महर्षि के उस जीवन सन्देश का प्रदर्शन हमारे कविकुलदिवाकर ने २५ वें सर्ग में किया है:—

गालीष्टकाघ्राववविषादिकष्टं, सोढं यदर्थं मयकार्यदत्तम् ।
मनुष्यजातेरुदयाय धीमन्, न स्वार्थसिद्ध्यै खलु मे प्रवृत्तिः ॥२५-५५॥

गालिदान, ईंटें, पत्थर और विष आदि के जो कष्ट मैंने सहन किये हैं वे हे धीमन्! मनुष्य जाति के उदय के लिये सहे हैं, किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिये मेरी प्रवृत्ति नहीं है। अहो! कहां विश्व के मनुष्य मात्र की उन्नति के लिये कटुवचन सुनाने वाले की विश्वहितकामना एवं उसके लिये सहन किये हुए कष्ट! और कहां उस में छिद्रान्वेषण करने की हलकी-पामर-मनोभावना! सच पूछो तो ऋषि का जीवन लोककल्याण के लिये था और तदर्थ ही वे जिये और मरे। उनको स्वार्थ ने स्पर्शतक न किया था।

प्रलोभन से दूर—

महाराना सज्जनसिंह ने उनको मूर्तिपूजा का खण्डन मात्र छोड देने पर एक लिंगेश्वर मन्दिर की सपत्ति देने का प्रलोभन दिया था परन्तु प्राचीन ऋषियों के अवशेष उस ज्योतिर्धर ने महाराना को निर्भयता से कहा कि:—

प्रलोभनं तुच्छमिदं प्रदर्श्य प्रभो र्महेशाद् विमुखं नु कर्तुम् ।
मां वाञ्छति ब्रह्मपितुः शुभाज्ञाभङ्गं भवान् कारयितुञ्च मत्तः ॥२५-६१॥

महेश्वर प्रभु से विमुख करने के लिये यह तुच्छ प्रलोभन दिखा कर हे महाराना ! क्या आप मुझ से परम पिता पर ब्रह्म की शुभाज्ञाभग कराना चाहते हैं ? कदाचित् महाराना ने यह नहीं जाना था कि दयानन्द किस मिट्टी से उत्पन्न हुए हैं ! इस लिये ऐसी याचना की, परन्तु त्यागमूर्ति ने तो झट डपट कर यह सुना दिया कि:—

तवाल्पराज्यान्नृप ! मन्दिरान्ताद् रयेण धावन् बहिरद्य यायाम् ।
परं परेशस्य विशालराज्या दनन्तवर्षैरपि नैतुमीशः ॥२५-६॥

अरे महाराना ! तुम्हारे अजलि भर छोटे से राज्य की सीमा से बाहर तो मैं अभी ही दौड कर जा सकता हूं, किन्तु परमात्मा के इस विशाल राज्य के बाहर (उसकी आज्ञा का भग करके) अनन्त वर्षों तक दौड ने पर भी न जा सकूंगा ।

ऐसी स्पष्टवादिता और निर्भयता दयानन्द के बिना दूसरा कौन दिखा सकता है ? कवि ने उस गम्भीर प्रसग को कैसी सुन्दर रीति से निभाकर कैसी मनोहर अर्थवाही छन्दोलहरी में प्रवाहित कर दिया है इस विषय में तो—

साहित्यरसिका एव प्रमाणम् ।

प्रचार की अनुपम लगन—

महर्षि मारवाड की भूमि को वैदिक धर्मामृत धारा से आप्लावित करने जा रहे हैं । तब अभिज्ञों ने उस भूमि की विशिष्टता ऋषि को बताई कि—' महाराज ! वहां जाना ठीक नहीं !' उसी समय धर्मप्रचार के साक्षात् रुद्रावतारसम दयानन्द ने घोषणा की कि:—

ममांगुलीश्चेद् विरचय्य वर्त्तिकाः कामंदहेयुर्मनुजास्तथापि नो ।
सत्योपदेशाद् विरमेयमित्यहो ! प्रत्यूचिवानार्यजनाग्रणीः ॥२६-२७॥

मेरी अगुलियों को बत्ती बनाकर मेरी काया को चाहे वहां के लोग भले ही जला दें ! परन्तु यह दयानन्द सत्योपदेश से कभी नहीं हट सकता ! और वे न हटे, मारवाड गये । वहां

महाराजाको धर्मका उपदेश दिया और एक वेश्या नन्हीजान के द्वारा दूध में विषपान जगत् के हित के लिये किया और मूलशंकरता (कल्याण कामना) प्रदर्शित कर दी। ओह ! नन्हीजान !!

तेरे सुख में भरा विश्वदुःख, क्यों न हुई तब गतप्राणा ?

समग्र संसार और विशेषकर आर्यभूमि के दुर्भाग्य की वह घड़ी थी, जिसमें हमारे सुखोदय स्वप्नवत् हो गये ।

महर्षि का निर्वाण

२७ वें सर्ग में महर्षि के निर्वाण का वर्णन किया गया है। कवि ने अपने हृदय की समस्त करुणा को इस सर्ग में भर दिया है; जिसमें कवि मेधाव्रत जी समग्र आर्यों की भावना को प्रतिध्वनित कर रहे हैं:—

विपदं विपदेति सम्पदा मनुसंपत्तिरिति श्रुति र्कृता ॥२७-६॥

विपत्ति के अनन्तर विपत्ति और सुखसम्पत्ति के बाद सुखसम्पत्ति आती है; यह जनश्रुति सत्य है ।

ऋषि को विषपान कराने के बाद उनका स्वास्थ्य अतीव बिगड़ गया; तो भी उन्होंने किसी को सूचना न दी ! भक्तजनों ने तदर्थ उपालम्भ-उलहना दिया; अतः महर्षिने अपने जीवन का तत्त्वज्ञान उन्हें यों समझाया:—

वपुषो मनु धर्म एष यत् सुखदुःखे स्त इहामयाकुले ।
न भवन्तु शुचान्विता जना इति नादाषि मयास्य सूचना ॥२७-२०॥

—व्याधि-संकुलित शरीर का यह धर्म है कि सुख के साथ दुःख लगा हुआ है। इस रोग से लोग शोकातुर न होवें अतः मैंने किसी को समाचार नहीं दिया !!

अहो ! भारतवर्ष के जन्ममलाभ और मरणप्रसङ्ग, का तत्त्वज्ञान संसार में अद्वितीय है ! विषदान के समाचार अन्ततः सर्वत्र फैल गये। और पंजाब से मुनिवर पं. गुरुदत्त जी स्वामीजी का अन्तिम दर्शन करने अजमेर आये। स्वामीजी की रुग्णदशा में असह्य पीडाकी सहन शक्ति और परमशान्ति तथा ईश्वराराधनाकी तत्परता देखकर नास्तिक गुरुदत्त भी ईश्वर के अस्तित्व को मानते लगते हैं। कविश्रेष्ठ कलामय शैली से इस दृश्य का इस प्रकार वर्णन करते हैं.—

परमं पदमेष्यतो यतेः प्रभुभक्तिं परमां प्रलोक्य ताम् ।
स्वमनोमुकुरं शिवास्तिता द्युतिभिर्दीपितमन्वभूदरम् ॥२७-६६॥

परमपद-मोक्षको प्राप्त करते हुए यतिराज की परम प्रभुभक्ति देखकर उन गुरुदत्त को अपना मनोमुकुर-चित्तरूपी दर्पण, मंगलमय ईश्वर की अस्तित्व-प्रभासे प्रकाशित होता हुआ प्रतीत

हुआ। और वे आस्तिक बन गये। "भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्।" कविसम्राट् कालिदास के इस वचन के अनुसार ऐसे लोकोत्तर पुरुषों का जन्म जैसे लोकाभ्युदय के लिये होता है; वैसे ही महापुरुषों का अवसान भी (निर्वाण भी) लोक कल्याण के लिये ही होता है। स्वामी जी के मृत्युप्रसंगने नास्तिक गुरुदत्त को आस्तिक गुरुदत्त के रूप में संसार के चरणमें रख दिया। ऋषि को अपनी जीवन लीला समाप्त होती दीखी और उन्होंने कहा—"अहाप्रभु! तूने अच्छी लीला की!! प्रभो! तेरी इच्छापूर्ण हो!!" कविजी संसार के काव्यजगत् में अमरता की छाप-मुद्रा इस अन्तिम वाक्य पर यों अंकित करते हैं:—

इदमेव तवास्ति वाञ्छितं तव पूर्णं खलु तद्भवेद् विभो!
विहिता भवताऽप्यहो! ध्रुवं शुभलीला शुभलील सत्प्रभो! ॥२७-१०३॥

हे प्रभु! तेरी यह इच्छा है तो वह पूर्ण होवे। हे प्रभु! तूने बडी अच्छी लीला की!!

दिवाली का वह दिन था। दीपमालायें टिम टिमा रही थीं; परन्तु उनका सम्पूर्ण तेज बुझते हुए एक आर्यदीपक को नहीं टिका पाया। प्रतापी सूर्य के अस्त होते ही वे गृहदीपमाला ये स्वयं निष्प्रभ हो गई। और आर्यहृदयों को अन्धकार के प्रभावने घेर लिया। देखिये-कवि का शोकमय श्लोक --

तिमिराकुलभारते तदापरितः प्रोद्गमितैः प्रदीपकैः।
मुनि भानुलयेऽन्धितं तमोयतितं सारयितुं वृथा जनैः ॥२७-१०८॥

कुछ सुभाषित—

महाकवियों की वाणी का यह गुण होता है कि वर्णन के साथ २ प्रसगानुसार सुभाषित आते जाते हैं। वाल्मीकि, व्यास कालिदास और भवभूति का महात्म्य उनके सुभाषितों के कारण भी बढा है। सुभाषित वास्तव में वाणी के शृंगार बन जाते हैं। हमारे महाकवि मेधाव्रतजी की भी शारदा इस विशिष्टता से शून्य नहीं है। उन्होंने भी स्थान २ पर सुभाषितों का बाग लगाया है; जिसमें से रसिक भ्रमर यथारुचि सुभाषित पुष्पों के रस का पान कर सकते हैं। मुझे तो अनेक सुभाषितरत्न मिले हैं; अतः उन अमूल्य रत्नों की थोडीसी झांकी कराने का प्रलोभन मैं रोक नहीं सकता!! (अ) "मृदवो हि चेतांसि दया मृदूनि" ॥१३-३३॥ सत्पुरुषों के मन दयासे कोमल बने होते हैं। (ब) "सौभाग्यलभ्या हि सता सुसेवा" ॥१३-५४॥ सज्जनों की सेवा बडे भाग्य से मिलती है। (क) "जनिनाशौ प्रकृतिं हि वर्ष्मणः" ॥२७-७४॥ उत्पत्ति और नाश शरीर का धर्म है। महाकवि कालीदास की ऐसी ही उक्ति के देखिये— "मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः"॥ भाव एक ही है परन्तु लाघव में महाकवि मेधाव्रतजी बाजी मार जाते हैं। (ड) "धैर्यं कुतः सत्यपथान्च्युतानाम्" ॥१६-२८॥ सत्यमार्ग से भ्रष्ट होने वालों को धैर्य कहां रहता है? वे भयभीत हो जाते हैं। (इ) "गिरिं निखायाऽऽखुरलम्भि यत्नया" ॥२६-२९॥ खोदा पहाड और निकली चुहिया। (फ) "न कस्य

वन्द्यो मनुजस्य सज्जनः" ॥ सत्पुरुष किसका वन्दनीय नहीं होता ? इत्यादि। मैंने तो कुछ नमूने ही लिये हैं। सम्पूर्ण काव्य में तो सुभाषित-गंगा बह रही है। गोता लगावेगा वह पवित्र होगा और रत्नराशि प्राप्त करेगा। यह तो उदार रत्नाकर है।

आर्यजनों से निवेदन

पाठकों ने देखा इस दयानन्ददिग्विजय महाकाव्य को रचकर कवि ने आर्यसमाज के मस्तक को संसार के सरस्वती सदन में गौरवान्वित किया है। एक तो कवि की निसर्गदत्त मेधान्वित-काव्यशक्ति; देवों की प्रिय संस्कृत वाणी और पुण्य श्लोक दयानन्द की सम्पूर्ण जीवन कथा का संकीर्तन: इन विषयों ने इस महाकाव्य को सम्पूर्ण सफलता प्रदान की है। अन्य महाकवि तो इतिहास और पुराण आदि के चमत्कार का आधार लेकर चमत्कृति ला सके हैं, जब कि उन लाभों से रहित इन महाकवि मेधाव्रत जी ने शास्त्रवाद एवं संन्यासी के महातपस्वी जीवन की शुष्क भूमि में से अपनी ऋषि भक्ति के बल से रसधारा-निर्माण कर जनमनरंजन करने वाली त्रिभुवन-पावनी काव्यगंगा बहाई है। अन्य महाकवियों से इस महाकवि की निःसन्देह यह विशिष्टता है। एक कविता-मर्मज्ञने योग्य ही कहा है कि:—

श्रुते महाकवेः काव्ये वदने नयनेऽथवा।
युगपद्यस्य नोदेति स वृषो महिषोऽथवा ॥

महाकवि के काव्य को सुनते ही एक दम जिसके मुख से 'वाह' और आंखों से हर्षाश्रु न टपक पड़ें तो वह 'वृष' या 'महिष' ही होना चाहिये। यह दयानन्द-दिग्विजय-महाकाव्य उपर्युक्त गुण-पूर्ण प्रसाद ही है। श्री मेधाव्रतजी छन्दःशास्त्र के आचार्य हैं। अलंकारों की अधिकता, रस और भाव की तल्लीनता, आदि कविता के अंगों से परिपूर्ण यह महाकाव्य है। निःसंशय यह तो नवनवोन्मेषशालिनी कवि-प्रतिभायुक्त अध्यात्मधारा का मधुर स्रोत है। अर्थ और सौन्दर्य का यह बाजार है। कवि के विशाल शब्द भण्डार, पाण्डित्य और वैदग्ध्य का यह विशेष प्रदर्शन है। और प्राचीन सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि सब प्रकार के विचारों को इन्होंने कविता के रंग में अत्यधिक कुशलता से रंगकर एक सुन्दर रंगशाला मानों बनाई है!! दयानन्द-दिग्विजय महाकाव्य की रचना के रूप में कवि ने संसार के सामने अपना हृदय निकाल कर रख दिया है! ऐसा क्यों न हो? श्री मेधाव्रत जी जन्मसिद्ध प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। उन्होंने तुच्छ 'अर्थ लाभ' के लिए अपनी कविता-देवी की आराधना नहीं की। उन्होंने शारदा-सेवन तो संसार के तिमिरनाश, दुःखदलन एवं मानव-समाज के कल्याण की कामना से किया है। उनकी कवितोपासना 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को लक्ष्य में रखकर हुई है; तो फिर उनकी कविता में जो शब्द स्वतएव गुम्फित हो जावें वे क्यों न धन्य हों? यदि मेधाव्रतजी विक्रम या भोज के समय में-कविता के युग में-उत्पन्न हुए होते तो अवश्य वे 'नव रत्नों' में से एक अथवा राजकवि गिने जाते!! परन्तु आज तो उनकी कवितार्चना और उनकी प्रतिभा का विकास अरण्य के एक कोने की कुटीर में हो रहा है! इसे मैं संस्कृत-साहित्य और

आर्यसमाज का सौभाग्य मानूं या दुर्भाग्य ? आर्य जगत् के एक मात्र संस्कृत-भाषा के ललामभूत महाकवि की उनके जीवनकाल में आर्य-समाज उनकी यथोचित पूजा न कर सके इसका मेरे मनमें खेद है। यद्यपि समदृष्टि कवि मेधाव्रत जी को उसका लेश भी हर्ष या शोक नहीं है ऐसा मैं मानता हूं, परन्तु इससे हमारी कृतज्ञता कहां मुंह छिपा सकेगी ?

समाज, देश या जाति में जैसे महापुरुष बार बार नहीं जन्म लेते; वैसे ही महाकवि भी बार बार जन्म नहीं लेते। कभी कभी परिस्थिति उनको जन्म दे देती है। महाकवि मेधाव्रत जी ऐसी ही विभूति हैं। उनको कम से कम आर्य-जगत यथार्थरूप में पहिचाने ' यही कृतज्ञ बुद्धि की प्रार्थना है यही गीर्वाणवाणी के काव्य-मन्दिर का घण्टानाद. जिसके कान खुले हों वे सुनें ! ' नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसव वेदनाम् ''

ऋषि दयानन्द की वेदवाणी के विषय में हमारे रससिद्ध कवि लिखते हैं कि—

प्रवाह्य वाग्मी निगमोक्तिगंगा तत्पुण्यनीरैर्जनचित्तपङ्कान् ।
प्रक्षाल्य नृभ्यो भवसिन्धुपारं गन्तुं ददौ वेदतरिं सुभक्तिम् ॥२०-'७॥

विद्वान महर्षि ने वेद वचन रूपी गंगा को बहाया और उसके पुण्य सलिल से मनुष्य हृदयों के (मैले) पाप कीचड को धोकर इस भवसागर को पार करने के लिए उत्तम भक्तिरूपी सुन्दर रचना वाली वेदनौका मानव मात्र के हाथ में दी है। यह सच है इसमें सन्देह नहीं ! परन्तु मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि मेधाव्रतजी ने इस दयानन्ददिग्विजय नामक भक्ति-रस-भावित महाकाव्य को रचकर सुन्दर उपदेशमय वाणी से मानवहृदयों के पापपंक को धोकर, ऋषिदयानन्दोपादिष्ट वैदिक धर्म रूपी नौका मनुष्यों के हाथ में दी है, जिसके द्वारा मानव मात्र भवसमुद्र तैर कर अन्तिम लक्ष्य प्राप्त कर सके ! एवमस्तु।

आर्यजनों एवं पण्डित महोदयों को मेरा नम्र निवेदन है कि वे इस महाकाव्य की प्रसंगानुसार कथा करने का कष्ट करेंगे तो अनेक व्याख्यानों से भी कहीं अधिक अच्छा प्रचार हो सकेगा।

इस महाकाव्य के विषय में निष्काम भाव से इतना लिखने के लिए जो मुझे प्रेरणा हुई; उसमें कवि की सात्विकता और इस महाकाव्य की पूर्ण योग्यता ही कारणभूत है। अद्भुत गुणवान् वस्तु के विषय में मौन धारण करना वाणी की निष्फलता है ऐसा महाकवि हर्ष का निम्न वचन है। पाठक इसी दृष्टि से इसका अवलोकन करेंगे ऐसी प्रार्थना है।

" वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत् !"

दयानन्द-दिग्विजय-महाकाव्य (उत्तरार्द्ध) के इस संक्षिप्त परिचय को तो स्वयं कविवर मेधाव्रत जी के बिना और किसको समर्पण करूं !! कविराज ! त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये !! इत्योऽम शम् ॥

गुरुपूर्णिमा ।
सं० २००० विक्रम ।
ता. १-७-४४

'सत्यसदन'
पो० माटुंगा १९
जी० आय० पी०
(बम्बई)

भ० दी० कृ०
स्नातक-सत्यव्रत, 'वेदविशारद' 'साहित्यरत्न'
मंत्री-मु० प्र० आ० प्र० सभा ।

भारत भाग्य विधाता, नवयुग निर्माता

महर्षि

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

भवार्णवोत्तारणपुण्यनौकां ज्ञानाढ्ययंत्रां प्रभुभक्तपत्रिताम् ।
नेतुं स्वरारोप्य हि मूर्त्ततीर्थं प्रभुं दयानन्दममंसत ज्ञाः ॥ स. २४-४॥

ज्ञानी जन निश्चयसे दयानन्दको—भवसागरसे पार उतारनेवाली, ज्ञानरूपी श्रेष्ठ यंत्रसे चलती हुई, प्रभुभक्तिरूपी पतवारवाली धर्म नौकापर चढाकर स्वर्ग ले जानेके लिए समर्थ मूर्त्तिमन्त तीर्थ-उपाय या मार्ग दर्शानेवाला गुरू मानते थे ॥

॥ ओ३म् ॥

दयानन्द दिग्विजयम्

महाकाव्यम्

त्रयोदशः सर्गः

दयामयी सदानन्दा दयानन्द ! सरस्वती ।
जननीव जगद्वन्द्या मेधाव्रतहितायते ॥ १ ॥

[प्रथम अर्थ – ईश्वरपरक] हे दयामय, आनन्द स्वरूप, परब्रह्म पिता ! तेरी करुणामयी, नित्य आनन्द देनेवाली, विश्व वन्दनीय वेद वाणी, जननी की तरह मेधा = धारणावती बुद्धि व्रत धारण करने वाले कुमार एवं कुमारीगण के लिए कल्याणकारिणी बने ॥ १ ॥

[दूसरा अर्थ – दयानन्दपरक] हे गुरुवर दयानन्द ! तेरी दया से भरी हुई, सत्पुरुषों को हर्ष देनेवाली, लोकमान्य, वैदिक शास्त्रानुकूल व्याख्यान वाणी मेधाजननव्रतधारी नरनारीगण के लिऐ हितकारी हो ॥१॥

[तीसरा – अर्थ कविकी माता श्रीमती सरस्वतीके पक्षमें] हे करुणामय, आनन्दरूप भगवन् ! मुझ बालक विषयक मिथ्या मोह त्यागकर, सुदूर गुरुकुलमे भेजनेकी सम्मति देनेके कारण, पूज्य पिताजी श्री जगजीवनजीसे प्रशंसित हुई, मेरी दयामयी, नित्यानन्ददायिनी पू. जननी श्री. सरस्वती देवीकी तरह, आपकी ज्ञान वाणी = वेदविद्या मुझ मेधाव्रत नामक महाकाव्यप्रणेता कविकेलिए मंगलदायिनी हो ॥१॥

[चतुर्थ अर्थ – ग्रन्थकारपरक] हे मेधाव्रत ! तेरी कृपामयी, हर्षदा, पूज्या जननीकी तरह महर्षि दयानन्दकी वाणी तेरेलिए सदा हितप्रद हो ॥१॥

दयामयः सदानन्दो दयानन्दो जगद्गुरुः ।
पितृवन्महतां मान्यो मेधाव्रतमुनीश्वरः ॥ २ ॥

दयासे परिपूर्ण, सदा आनन्दी, शास्त्रप्राहिणी श्रद्धामयी आस्तिक बुद्धिका व्रत धारण करनेवाले मुनियोंमें श्रेष्ठ, संसारके सच्चे गुरु श्री. दयानन्ददेव पिताके समान मानव मात्रके माननीय हैं ॥ २ ॥

[ग्रन्थकारके पक्षमें] दयार्द्रहृदय, सदा प्रसन्नमन सैकडों विद्यार्थियों एवं विद्यार्थिनी कुमारिकाओंके गुरु पं. मेधाव्रतजीभी पिता तुल्य शिष्यवृन्दके वन्दिनीय हैं ॥ २ ॥

नालङ्कृताऽपि सद्वाणी निर्दोषा सरला शुभा ।
निसर्गसुन्दरी स्त्री वा रोचते खलु शर्मदा ॥ ३ ॥

सचमुच !! अलङ्कारोंसे रहित होती हुई भी, सत्पुरुषों की निर्दोष, सरल शुभ, मधुर, सुखदायिनी वाणी सबको अच्छी ही लगती है; जैसे निर्दोष, सरल, मंगलमयी, सुखदा, स्वभावसुन्दर नारी विना गहनों के भी भाती है। महर्षि दयानन्द देव की वाणी इन्हीं गुणोंसे सम्पन्न है; अतः किसे रुचिकर न प्रतीत हो ? ॥ ३ ॥

दयानन्दोदये जाता सा दयानन्दसार्थता ।
प्रचण्डांशूदये नूनं प्रचण्डांशुसदर्थता ॥ ४ ॥

सचमुच !! दयानन्द देव के अवतार धारणकरने पर इस दया और आनन्द पदकी सार्थकता सिद्ध हुई। जैसे प्रचण्ड किरणोंवाले मार्त्तण्ड मण्डल के उदय होने पर प्रचण्डांशुपदकी अन्वर्थता सिद्ध होती है ॥ ४ ॥

जनताहृदयानन्दो दयानन्दोदयेऽभवत् ।
मयूरहृदयानन्दो मेघमालोदये यथा ॥ ५ ॥

जैसे मेघमण्डल के आविर्भावपर मयूरों के हृदय आनन्द विभोर हो उठते हैं; वैसे ही महर्षि दयानन्द सरस्वती के जन्म धारण करने पर आर्य जनता के हृदय हर्षप्रफुल्ल होगये ॥ ५ ॥

आदित्यतेज आदित्य-ब्रह्मचर्यं तमोऽपहम् ।
दयानन्दस्य तस्यासीज्जगज्जीवनमौषधम् ॥ ६ ॥

उस महर्षि दयानन्द का अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करनेवाला, सूर्यसम तेजस्वी, अखण्ड ब्रह्मचर्य जगत् के लिये जीवनरूप औषध सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

बृहता ज्योतिषा दीप्तो दिव्यतेजा यथा बभौ ।
बृहता ज्योतिषा दीप्तो नाग्नतेजास्तथा बभौ ॥ ७ ॥

महान् ज्ञानरूपी ज्योतिसे प्रकाशित, अलौकिक तेजधारी, आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द जैसे चमकते थे; वैसे बडे प्रकाशसे प्रकाशमान सूर्य नहीं चमकता था ॥ ७ ॥

ब्रह्मणस्तेजसा सत्यं यथा प्राकाशयत् कविः ।
ब्रह्मणस्तेजसा सत्यं तथा नाकाशयद् रविः ॥ ८ ॥

वैदिक विज्ञान के तेज से सम्पन्न एवं ब्रह्मचर्य की कान्तिसे युक्त कवि दयानन्दने जैसे सत्यतत्वको प्रकाशित किया वैसे ब्रह्माके तेज से व्याप्त रविने सचमुच ! ! सारे संसारको प्रकाशमय नहीं बनाया ! ॥ ८ ॥

दयानन्दमुनेः कीर्त्तिश्चन्द्रिकेव मनोरमा ।
द्विजेन्द्रस्य जगद्व्योम्नि व्यानशे विमलाऽखिले ॥ ९ ॥

सकल संसाररूपी आकाश में द्विजेन्द्र दयानन्द मुनिकी कीर्ति नक्षत्रनाथ चन्द्रमाकी मनोहर विमल चन्द्रिकासी फैली ॥ ९ ॥

श्रेयसे मानवानां यो मोक्षानन्दं जहौ मुदा ।
दयानन्द इवौदार्ये दयानन्दः स आबभौ ॥ १० ॥

जिसने मानव मात्रके कल्याण के लिये सुख पूर्वक मोक्ष के आनन्दको त्याग दिया: सचमुच ! ! उदारतामें उस दयानन्द की तुलना दयानन्द सेही सुहाती है ॥ १० ॥

धर्मो ज्ञानमिवोत्कृष्टो ज्ञानं धर्म इवातुलम् ।
सरस्वतीश्वरे द्वयेते सोदर्ये इव रेजतुः ॥ ११ ॥

ज्ञान के समान उत्तम धर्म और धर्म की तरह अनुपम ज्ञान ये दोनों निश्चयसे सगे भाई के तुल्य सरस्वती के स्वामी दयानन्द में विराजते थे ॥ ११ ॥

व्यराजन्त तदानीं ते गंगातीरनिवासिनः ।
मुनीन्द्रस्य मनस्तुल्या गंगाम्बुगगनाद्रयः ॥ १२ ॥

उस समय शरत्काल में गंगा के किनारे रहनेवाले मुनिवर दयानन्दके मनके तुल्य वे गंगाजल, गगन और गिरि निर्मल सुहाते थे ॥ १२ ॥

अयं हि शङ्करः साक्षात् कामदेवनिकन्दनः ।
दयानन्दो महातेजा भस्मलिप्तो दिगम्बरः ॥ १३ ॥

ये महा तेजस्वी दयानन्द साक्षात् शंकर ही प्रतीत होते थे; क्योंकि उन्हींकी तरह ये कामदेवको भस्म करके दिगम्बर होकर अङ्गमें भस्म रमाए रहते थे ॥ १३ ॥

चारुचित्रपदार्था सा वेदविद्येव वेधसः ।
प्राणिकल्याणिनी पुण्या सृष्टिरस्य पुरस्थिता ॥ १४ ॥

जैसे ब्रह्मदेव की [समक्ष] दृष्टिमें उत्तम, अद्भुत पदार्थोंवाली, प्राणियोंका कल्याण करनेवाली, पवित्र सृष्टि उपस्थित रहती है; वैसे इस दयानन्दके सामने मधुर, आश्चर्यकारक पदों तथा अर्थोंवाली मानव मात्र के लिये मङ्गलकारिणी पवित्र वेदविद्या उपस्थित रहती थी ॥ १४ ॥

दैव्या स सम्पदा साधुस्सम्पन्नः करुणामयः ।
दयनीयविपन्नानां विपदुद्धरणे रतः ॥ १५ ॥

दैवी संपत्ति से सम्पन्न, करुणामय वह सत्पुरुष सदा दयापात्र, दीन, दुःखियों को संकटसे विमुक्त करने में तत्पर रहते थे ॥ १५ ॥

शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वैर्मुक्तो विमुक्तिदः ।
गंगोत्संगे वसन्त्स्वामी सद्विद्यास्समुपादिशत् ॥ १६ ॥

शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर अन्योंको मुक्ति देनेवाले स्वामीजी गंगाकी गोदमें बसते हुए सत्य विद्याओंका उपदेश देते थे ॥ १६ ॥

सत्यव्रतो हिताकांक्षी शंकरानन्ददायिनीम् ।
प्राचारयन्मनुष्येषु वेदविद्यां सुबोधिनीम् ॥ १७ ॥

सत्यव्रतधारी, हित चाहने वाले दयानन्द मनुष्यों में कल्याणकारिणी, आनन्ददायिनी, सुबोधवाली वेदविद्याका प्रचार करते थे ॥ १७ ॥

सौन्दर्यगुणसम्पन्ना नारीव निरलंकृता ।
वाणी सत्यवती कस्मै नारोचत मुनेः प्रिया ॥ १८ ॥

सौन्दर्य और सद्गुणसे युक्त, अलंकारविहीना, सत्यवती पतिव्रता, स्त्री की तरह मुनि दयानन्द को मधुर गुणमयी सत्यवाणी किसे अच्छी नहीं लगती थी ॥ १८ ॥

भोगानन्दप्रियस्यायं धर्मध्वजिगुरोस्सदा ।
पाखण्डानृतलीलां सन् खण्डयन्नचरन्मुदा ॥ १९ ॥

ये सत्पुरुष सदा भोगानन्दप्रिय, धर्म के ढोंगी , गुरु महन्तोंकी मिथ्या पाखण्डलीला का खण्डन करते हुए आनन्द से विचरते थे ॥ १९ ॥

कौपीनकेवलः काले हैमन्ते गांगसैकते ।
मूर्त्तिमद् ब्रह्मचर्यं हि ब्रह्मलीनो व्यलोकि सः ॥ २० ॥

हेमन्त काल में गंगाकी रेती में केवल लंगोट धारण कर ब्रह्मानन्द में लीन हुए ये दयानन्द साक्षात् ब्रह्मचर्य की मूर्ति ही दिखाई देते थे ॥ २० ॥

प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रतीन्द्रे ततो हृदानन्दसुधासमुद्रे ।
अथ प्रमोदाश्रुतरंगभंगे ममज्जतुर्मानवमात्रनेत्रे ॥ २१ ॥

मानवमात्र के नेत्र पहले प्रतीन्द्र दयानन्द के प्रत्येक अवयव में फिर हृदयानन्द रूप सुधासागर मे पश्चात् प्रमोदाश्रुपरम्परामें मग्न हो जाते-गड़ जाते थे ॥ २१ ॥

सावित्र्यां परमेष्ठीव श्रियां विष्णुरिवानिशम् ।
उमायां शम्भुवद् रक्तोऽप्यासीद् यो व्रतिनां वरः ॥ २२ ॥

सावित्री मे ब्रह्मा, लक्ष्मी में विष्णु एवं उमा मे महेश के समान सदा आसक्त-अनुरक्त होते हुएभी दयानन्दजी ब्रह्मचारियों मे श्रेष्ठ थे । [यह तो विरोधाभास हुआ. अब इसका परिहार करते हैं ।] ब्रह्मचारी दयानन्द सावित्री गायत्री के भक्त थे । देह कान्ति में लाल [रक्त] थे और उमा-ब्रह्मविद्या, या बुद्धिमें सदा निरत थे ॥ २२ ॥

मारुतेः परमा भक्ती रामचन्द्रे यथा प्रभौ ।
दयानन्दस्य तस्याभून्निराकारे तथा विभौ ॥ २३ ॥

जैसी पवन-पुत्र हनुमान् की प्रभु रामचन्द्र मे परम भक्ति थी: वैसी ही दयानन्ददेवकी निराकार व्यापक परमेश्वर मे अतीव भक्ति थी ॥ २३ ॥

शुकदेवं यथा रम्भा न हावैर्जेतुमीश्वरा ।
ब्रह्मनिष्ठं यतीन्द्रं तं गणिका दानवेरिता ॥ २४ ॥

जैसी रम्भा नाम की अप्सरा हावभावों से ब्रह्मनिष्ठ श्री शुकदेवजी को वश न कर सकी; वैसे ही दुष्टजन प्रेरित गणिका ब्रह्मनिष्ठ यतीन्द्र दयानन्दको [अधीन न कर सकी] हरा न सकी प्रत्युत हार कर क्षमा मांगने लगी ॥ २४ ॥

शिवभक्तिरसे निमज्जतः श्रुतिसामाऽऽलपतो महामुनेः ।
अजयन्मुनिनारदस्य तां कलकण्ठः परिवादिनीं स्वरैः॥ २५॥

प्रभुभक्तिरस में मग्न होकर मंगलमय सामवेद मंत्र का आलाप करते हुए महामुनि दयानन्द का मधुर कण्ठ, अपने स्वररागसे मुनीश्वर नारदजीकी परिवादिनी ' नामक प्रसिद्ध वीणाको जीत लेता था ॥ २५ ॥

काकायन्ते पुरा मुग्धा ब्रह्माब्रह्मविवेचने ।
हंसायते स्म योगीन्द्रो मुक्ताशः क्षीरपो बुधः ॥ २६ ॥

विद्वान् लोग ब्रह्म और अब्रह्म के विवेचन में मूढ़ होकर कौवे के समान आचरण करते थे और ऋषि दयानन्द ब्रह्म, जीव और प्रकृति के परीक्षण में हंस समान थे । हंस मोती खाता है और दूध पीता है; उस समय दयानन्द निराहार रहकर दूध पीते थे ॥ हंस दूध और जलको पृथक् करता है और दयानन्द ब्रह्म जीवात्मा और प्रकृति को अलग करते थे ॥ २६ ॥

दुर्योधनबलाढ्यायां सभायां भीष्मवन्मुनिः ।
मौनमास्तेक्षमाणोऽयं धृतराष्ट्रविनिर्णयम् ॥ २७ ॥

जैसे दुर्योधन के बल से सम्पन्न सभामें भीष्म पितामह धृतराष्ट्र के निर्णय की राह देखते हुए मौन बैठे थे; वैसे ये मुनि दयानन्द झगडालु लोगों की सभामें सरकारी अमलदार जनों के निर्णय को देखते हुए चुप बैठ रहते थे ॥ २७ ॥

नक्रान्तिके तरन्तस्वस्थः सोऽहिंसाव्रतसिद्धिमान् ।
भक्तैरालोकि साश्चर्यं मूर्त्तः स्नेह इवामलः ॥ २८ ॥

यह अहिंसा व्रत की सिद्धिवाला दयानन्द मगर के समीप स्वस्थतामें तैरता हुआ, पवित्र स्नेह के अवतार सा भक्तों से आश्चर्य सहित देखा गया था ॥ २८ ॥

असिहस्ता ऋषिं हन्तुं कर्णप्रेषितकिङ्कराः ।
नाशक्नुवन् निशीथेऽमुं मृगेन्द्रमिव वञ्चुकाः ॥ २९ ॥

ठाकुर कर्णसिंह से भेजे हुए, खडगधारी सिपाही मध्य रात्रि में इस ऋषिको मार न सके; जैसे गीदड सिंह को ॥ २९ ॥

ओङ्कारहुङ्कृतैरस्य स्वामिसिंहस्य भर्त्सिताः ।
पलायन्त मुहुर्न्नाः कर्णानुचरजम्बुकाः ॥ ३० ॥

वार वार भेजे हुए कर्णसिंह के सिपाही-रूपी शृगाल इस स्वामी सिंह के भयङ्कर ओङ्कार के हुङ्कार से भयभीत होके भाग जाते थे ॥ ३० ॥

बलं परीक्षितुं मल्ला यमिनोऽन्तिकमागताः ।
तच्छ्ये।तितार्द्रकौपीनान्नालं स्थ्योतयितुं जलम् ॥ ३१ ॥

संयमी दयानन्द के बल की परीक्षा लेने के लिये पहलवान पास आते: फिर स्वामीजी उनका भाव जानकर निचोडी हुई गीली कौपीन देकर कहते; निचोडो ! ! वे उसमें से पानी की एक बून्द भी नहीं टपका सकते थे॥ ३१ ॥

धीरो यथा कुक्कुरभुक्कनेषु न दृङ्निपातं कुरुते गजेन्द्रः ।
वीरस्तथा दुर्जनदुर्वचस्सु प्रादान्मनो नो सुमना मुनीन्द्रः ॥ ३२ ॥

जैसे गम्भीर गजराज कुत्तों के भूँकने पर दृष्टिभी नहीं डालते: वैसे महामना वीर मुनीन्द्र दुर्जनों के दुर्वचनों पर मन नहीं देते थे॥ ३२ ॥

प्राणापहारिष्वपि पुण्यशीलः क्षमाप्रदानेन सहोपकारम् ।
विधाय मूढान् सुखयाञ्चकार सतां हि चेतांसि दयामृदूनि ॥ ३३ ॥

पुण्यशील दयानन्द प्राणलेनेवालों पर भी क्षमा दान सहित उपन्कार करके मूढों को सुखी करते थे। सचमुच ! ! सत्पुरुषों के हृदय दयासे कोमल होते हैं॥ ३३ ॥

मूर्त्तौ मदाविव कदाचिदमन्दवीर्यौ-
बाह्यमान कमनीय निजोत्तमांगौ ।
श्रीकासगञ्जपुरमंजुलमार्गसन्धा-
वास्तां धरेण्यवृषभौ चिरयुध्यमानौ ॥ ३४ ॥

एक समय कासगंज नगर के सुन्दर चौराहे पर मूर्तिमंत मद से अति बलशाली दो सांड बडी देर से टक्कर लड रहे थे ॥ ३४ ॥

आजानुबाहुपुरुषोत्तम एव साक्षात्
तेनाध्वनाऽऽगमदयं यमिसार्वभौमः ।
मार्गं निरुद्धमवलोक्य जनैस्तदानी—
मस्थान्महेक्षसमरं स विलोकमानः ॥ ३५ ॥

उस मार्गसे साक्षात् दीर्घ बाहु वाले पुरुषोत्तम के तुल्य ये यति सम्राट् आरहे थे; उस समय मनुष्यों से घिरा हुआ मार्ग देखकर, दोनों गवेन्द्रों को लडाई देखते हुए ये खडे रहे ॥३५॥

सद्यः प्रगम्य वृषभेश्वरयोः समीपं
मृज्ञे तयोः स्वकरतः पृथगेव धृत्वा ।
दूरं व्यधात्पथ इमाविव काममोहौ
स्वामी सुखेन सुमलक्ष्यपदाभिगामी ॥ ३६ ॥

अपने उद्दिष्ट स्थल पर जानेवाले स्वामीजी ने तत्काल वृषभेन्द्रों के पास जाकर हाथों से उनके सींग अलग अलग पकडकर काम और मोह की तरह इन दोनों को सरलता से अपने मार्गसे दूर हटा दिया॥ ३६ ॥

उद्दण्डचण्डपुरुषावथ दण्डपाणी
आगच्छतां वृकवराविव हिंसितुं तम्।
हुङ्कारसिंहरवमेव निशम्य हिंस्रौ
सम्मूर्च्छितौ यतिहरे विकरालमूर्त्तेः ॥ ३७ ॥

किसी समय दो भेडियों को माफक उद्दण्ड उग्र पुरुष हाथ में दण्डा लेकर यतिसिंह को मारने के लिये आये: भयंकर रूपधारी स्वामीजी की हुङ्कार गर्जना को सुनकर ही वे दोनो हिंसक मूर्च्छित हुए॥ ३७ ॥

गंगातीरे प्रशान्ते प्रभुरतहृदयं तस्थिवांसं यतीशं
धर्मान्धा धर्मसूर्यं कलुषितमतयो म्लेच्छधूकाः समीक्ष्य।
सम्पात्याम्भःप्रवाहे द्रुडयितुमनस स्तत्सकाशं समीयु-
र्यावद्द्वाभ्यामुपेत्य व्रतिगगनमणि र्बाहुमूले गृहीतः ॥ ३८ ॥
तावत्तु धूर्त्तयवनौ धृतबाहुमूलौ
संपीड्य दुष्टदलने निपुणो भुजाभ्याम्।
गंगाम्बुनि स्वयमयं तरसा न्यमांक्षीत्
किं धर्षितुं दिनमणिं प्रभवो दिवान्धाः ॥ ३९ ॥

प्रशान्त गंगा तीर पर योगीश्वर प्रभु ध्यान में मग्न बैठे थे। कितनेक मलिनमन वाले धर्मान्ध यवनरूपी उल्लू इन धर्मसूर्य को देखकर, इन्हें जलप्रवाह में डालकर डुबाने की इच्छा से इनके पास आये। ज्योंहि दोनों ने झपटकर व्रति सूर्य को बगलमें पकडा; त्योंहि दुष्टदलन में चतुर संन्यासी ने दोनों भुजाओं से उन धूर्त यवनों को बगलों में जोर से दबाकर गंगाजल में शीघ्रता से डुबकी लगाई। क्या सूर्य को उल्लू तिरस्कृत कर सकते है ॥ ३८-३९ ॥

बाहुद्वयेन यवनद्वयमेष नीत्वा
गंगाम्भसि क्षणमदो द्रुडयाम्बभूव.
पश्चाद् व्यसर्जि सुहृदा विहितालपदण्डं
साधु ह्यनिष्टमभिवांछति नापकर्त्तुः ॥ ४० ॥

इस यतिराज ने बाहुद्वय से यवनद्वय को गंगाजल मे लेजाकर क्षणभर डुबकियाँ खिलाईं; पश्चात् उदारहृदय से जरासा दंड देकर छोड दिया साधुजन सचमुच!! अपकार करनेवाले का अनिष्ट नही चाहते॥ ४० ॥

आपत् सम्पद्यते सम्पद् विपद् वा नु विपद्यते।
लोकोद्धाररतस्याम्य योगोद्योगोद्धृतात्मनः ॥ ४१ ॥

योग क्रिया से अपना उद्धार कर लोकोद्धार करने में निमग्न महान् पुरुषार्थी इन दयानन्द योगिराज के लिये विपत्ति सम्पत्ति बन जाती है; अर्थात् उसमें इनका आत्मिक गुणोत्कर्ष होता है. अथवा संकट ही नष्ट हो जाता है ॥ ४१ ॥

विपत्तिकाले धृतिरेव साक्षान् नूनं क्षमा सोऽभ्युदयप्रसंगे ।
दमो मनोदन्तिजये मनीषी सोऽस्तेयमासीन्ननु भावनायाम् ॥ ४२ ॥

ये दयानन्द मनीषी आपत्प्रसंग में साक्षात् 'धृति, अभ्युदय वेला में मानों क्षमा का अवतार, मनरूपी हाथी को जीतने में मूर्तिमन्त दम, और सचमुच भावना में 'अस्तेय स्वरूप' थे ॥ ४२ ॥

शौचं शुचिर्मानसबाह्यरूपं साक्षादसाविन्द्रियनिग्रहस्सन् ।
मनोज्ञरूपेन्द्रियवाजियन्ता जितेन्द्रियाणां परम प्रमाणम् ॥ ४३ ॥

ये भीतरी और बाहरी 'पवित्रता'के पवित्र मूर्ति थे, मनोहर इन्द्रियरूपी अश्वोंके नियन्ता होने से ये प्रत्यक्ष 'इन्द्रियनिग्रह' थे; अतः जितेन्द्रिय पुरुषो में ये प्रमाणभूत थे ॥ ४३ ॥

ऋतंभरा धी विमला च विद्या सत्यं स सत्यं भुवि राजमानम् ।
अक्रोध एवाभवदार्यवर्यो विज्ञानसूर्यो ह्यतुलात्मवीर्यः ॥ ४४ ॥

ये सत्यार्थधारिणी 'धी' के और पवित्र 'विद्या'के स्वरूप थे, सचमुच ! ! पृथिवी तल पर विराजमान ये 'सत्य' थे; विज्ञान के सूर्य, अतुल आत्मबल के धनी, आर्यवर्य महर्षि मानो 'अक्रोध' थे ॥ ४४ ॥

धृतिक्षमाद्यानि सुलक्षणानि सुलक्षणानीह विचक्षणानि ।
धर्मस्य जातानि नु धर्ममूर्त्तौ समं समागम्य समाश्रितानि ॥ ४५ ॥

इन धर्ममूर्ति, महामुनि दयानन्ददेव का एकसाथ आश्रय पाकर वे 'धृतिक्षमा' आदि धर्म के दश सुलक्षण विचक्षण बनकर विश्वविदित हो गये ॥ ४५ ॥

श्रुतिः स्मृतिः सत्यमयी सती क्रिया प्रियेव सा प्रेममयात्मनः प्रिया ।
परार्थवृत्तिः प्रथितैः पतिं सतां समं तमाश्रित्य बभुस्स्वरूपतः ॥ ४६ ॥

श्रुति=वेदवाणी, स्मृति=आर्षवाणी प्रेमस्वरूप आत्मा की प्रिया सी सत्यमयी श्रेष्ठ कृति तथा प्यारी परोपकार वृत्ति, ये सब एक ही साथ उस विश्वविख्यात श्रेष्ठ सन्तरूपी पति की शरण में आकर सुन्दर रूप में चमकने लगीं ॥ ४६ ॥

कलौ युगे प्राप्य न कञ्चिदाश्रयं मनूक्तधर्मः सहधर्मिसद्गुणैः ।
स्वशर्मदं वीक्ष्य सदाश्रयं सदा श्रितो दयानन्दसरस्वतीयतिम् ॥ ४७ ॥

कलि काल में मनु प्रतिपादित धर्म, [सहचारि सद्गुणो सहित] किसी शरणदाता को न पाकर निरन्तर सुख देनेवाले, सज्जनों के आधारस्तम्भ, दयानन्दसरस्वती यतीश्वर को देखकर, इनकी शरण में आया ॥ ४७ ॥

श्रीकर्णवासन्निकटामरनिर्झरिण्या-
स्तीरे वितत्य यतिरेकमखं बृहन्तम् ।
यज्ञोपवीतहृदयं ह्यवबोध्य राज्ञो-
यज्ञोपवीतमददाद्द्विजचिह्नमेभ्यः ॥ ४८ ॥

कर्णवास के पास गंगा के तट पर स्वामीजी ने एक बृहद् यज्ञ का आयोजन किया: उस प्रसंगपर क्षत्रियों एवं राजाओंको यज्ञोपवित का रहस्य समझाकर महर्षि ने उन सबको द्विज-चिन्ह स्वरूप यज्ञोपवीत प्रदान किया ॥ ४८ ॥

आकर्ण्य कर्णवसतिं समया वसन्तो-
राजन्यवैश्य मनुजा मनुजातधर्मम् ।
सद्ब्रह्मसूत्रमद आददत द्विजेन्द्रात्
प्रत्यक्षपुण्यमिव पुण्यवतां वरेण्यात् ॥ ४९ ॥

कर्णवास के आसपास बसते हुए सैकडों क्षत्रियों–ठाकुरों एवं वैश्य महानुभावोंने, द्विज-वंशभूषण, ऋषिवर दयानन्द का मानवधर्म विषयक उपदेश सुनकर इन पुण्यात्मा पुरुषोत्तम के करकमलोंसे प्रत्यक्ष पुण्यकी तरह उस उत्तम ब्रह्मसुत्र को ग्रहण किया ॥ ४९ ॥

मल्लेश्वरो नवलजंगसुनाममाली
सद्ब्रह्मचर्यबलतोऽतुलकान्तिशाली ।
वर्षाविवृद्धेजलदेवनदीं स दोर्भ्यां
तीरान्तरं तरणिवत् प्रययौ प्रतीर्य ॥ ५० ॥

गंगातट निकट अनुपम कान्तिधारी 'नवलजङ्ग' नामक एक बडा भारी पहलवान ब्रह्मचारी रहता था । वह वर्षाकालमें भी गंगाके प्रबल प्रवाह को नौका की तरह दोनों भुजदण्डों से चीर कर परले तीर जाया करता था ॥ ५० ॥

भक्तोऽभूद् यतिसिंहस्य प्रभावेण प्रभावितः ।
मृगेन्द्र इव मल्लेन्द्रो दुर्जनद्विपमर्दने ॥ ५१ ॥

सन्यासी सम्राट् के प्रभाव से प्रभावित हुआ वह इनका बडा भारी भक्त बन गया था । वह मल्लराज दुर्जन गजराजके मर्दन कर्म में मृगराज सा भयंकर था ॥ ५१ ॥

तत्स्वसाऽपि महावीर्या दुर्गेव ब्रह्मचारिणी ।
खड्गहस्ताऽतरद् गंगामुत्तरंगां करेण सा ॥ ५२ ॥

उसकी बहन भी दुर्गासी महावीर्यशालिनी ब्रह्मचारिणी ही थी; एक हाथमें तलवार लेकर प्रबलतरंगा गंगा को एक हाथ से ही तैरकर पार कर जाती थी ॥ ५२ ॥

बलाढ्या पुण्यशीलेयं महिलानां निदर्शनम् ।
अबलेति कलङ्कं नु प्रत्याख्यातुमवातरत् ॥ ५३ ॥

महिलाओं के लिये आदर्शरूप, पवित्र चरित्रवाली, बलशालिनी यह देवी स्त्री जाति में 'अबला' नामक कलंक को निवारण करने के लिये ही मानो अवतीर्ण हुई थी ॥ ५३ ॥

गंगारजश्चन्दनवत् सदेहे प्रेम्णाऽखिले सयमिनः पवित्रम् ।
व्यलेपयन्मर्दनचारु नित्यं सौभाग्यलभ्या हि सतां सुसेवा ॥ ५४ ॥

वह पहलवान नवलजङ्ग अतिस्नेह से संयमीश्वर के सारे देहपर चन्दन की तरह पवित्र गंगारज नित्य मला करता था । निश्चय; सत्पुरुषों की सेवा बडे सौभाग्य से प्राप्त हुआ करती है ॥ ५४ ॥

स्वाभ्यासनं प्रति सुशाक्तमतावलम्बि-
प्रोन्मत्तवामिकरिणः प्रययु र्नदन्तः ।
स्वामीङ्गितेन मृगराजसम स्स मल्लो-
मातंगमण्डलमदो दलयाम्बभूव ॥ ५५ ॥

एक बार बहुत से शाक्तमतावलम्बी, उन्मत्त, वाममार्गीरूपी हाथी गरजते हुए स्वामीजी के स्थल पर आये; ऋषिने ज्योंहि नवलजङ्ग को संकेत किया त्योंहि वह मल्लराज उन मातंग–चाण्डाल मण्डल पर मृगराजसा झपटा और उनके मद को उसने उतार दिया ॥ ५५ ॥

दिवानिशं सावहितस्तपोनिधिं निधिं श्रियां श्रीकृपणो बलोदधिः ।
बलं च वीर्यं ब्रतिनावरो यथा तथा जुगोपायमुपप्लुतं परैः ॥ ५६ ॥

जैसे कजूस कृपण जन धन भण्डारको रातदिन सावधानी से रक्षा करता है; एवं जैसे बलसागर ब्रह्मचारी बल और वीर्य की सदा सभाल लेता है; वैसे ही वह मल्लसम्राट् नवलजङ्ग तपोनिधि दयानन्दको दुष्टजनकृत उपद्रवों से नित्य सावधान रहकर बचाया करता था ॥ ५६ ॥

सन्मार्गचारिणौ दान्तौ शान्तौ स्वसृसहोदरौ ।
निन्यतु र्जीवनं पुण्यं वैदिकाध्वनि दीक्षितौ ॥ ५७ ॥

ये दोनों ब्रह्मचर्य-दीक्ष, शान्तशील भाई–बहन, वैदिक धर्म में दीक्षित होकर पुण्यपथगामी बनें और इन्होंने ऋषिवर की कृपा से पवित्रता का जीवन बिताया ॥ ५७ ॥

गोपगोपालसिंहस्य पितृव्यानी तपस्विनी ।
अतिवर्षीयसी देवी कुलदेवीव वन्दिता ॥ ५८ ॥

भूपवंशावतंसा सा हंसाख्या रमणीमणिः ।
अनैषीज्जीवनं पुण्यं पञ्चपग्रामराड्यपि ॥ ५९ ॥

कर्णवासमें ठाकुर गोपालसिंह की ९० वर्ष की वृद्धा ताई थी। यह देवी बडी तपोनिष्ठ थी। इसका नाम हसा ठकुरानी था। ठाकुरों के परिवारों में इसका बडा आदर था। यह रमणीरत्न, क्षत्रियकुल का भूषण था। यद्यपि यह पांच छः ग्रामों की स्वामिनी थी तथापि अपना जीवन बडी सादाई एवं पवित्रता से बिताती थी ॥ ५८–५९ ॥

सगोत्राः क्षत्रियास्तस्या यज्ञसूत्रैः पवित्रिताः ।
सावित्रीगुरूमन्त्रज्ञा ओ३मिन्द्रोपासने रताः ॥ ६० ॥

कल्याणं जीवनं निन्यु र्गुरूदेवोपदेशतः ।
धन्यं स्वं मानवं जन्म मन्वानास्ते यदा मुदा ॥ ६१ ॥

तदाऽस्या हृदि संजज्ञे योगिदर्शनलालसा ।
ययाचेऽनुमतिं देवी देवं द्रष्टुं सुताननात् ॥ ६२ ॥

जब इस देवी के सगोत्रीय सारे क्षत्रियजन यज्ञसूत्रों से पवित्र होकर, गुरुमन्त्र गायत्री का सार्थक जप करते हुए, ओ३म् प्रभु की उपासना करने लगे और गुरुदेव दयानन्द के उपदेश से स्वजीवन को धन्य मानते हुए, कल्याणमय जीवन आनन्द से बिताने लगे; तब इस देवी के हृदय में योगीश्वर के दर्शन की तीव्र लालसा हुई और पुत्रों द्वारा देवी ने देव दर्शन की आज्ञा मँगवाई ॥ ६०–६१–६२ ॥

दयानन्देन देवेन दयार्द्रहृदयेन सा ।
उपस्थातुं निजाभ्यर्णं समाजज्ञे व्रतार्थिनी ॥ ६३ ॥

दयार्द्रहृदयवाले दयानन्ददेव ने उस धर्मपरायणा वृद्धा हंसा देवी को अपने समीप आने की आज्ञा देदी ॥ ६३ ॥

उपस्थायोपदेशार्थं यतिं प्रार्थयताऽऽनता ।
उपादिक्षन्मुनीन्द्रस्तां गायत्रीमो३म्जपैस्समम् ॥ ६४ ॥

उपस्थित होकर ठकुरानी हंसा ने हाथ जोडकर योगीराज से उपदेश देनेकी प्रार्थना की: मुनीन्द्र दयानन्द ने उस देवी को ओंकार जप की महिमा समझा कर गायत्रीमन्त्र का उपदेश दिया ॥ ६४ ॥

संसारसागरतरंगतति तितीर्षुः
सन्ध्याख्यसुन्दरतरिं क्रतुसूत्रदण्डाम् ।
आदत्त पुण्यचरिता गुरुदेवपाणेः
सिद्धाङ्गनेव सुखधाम यियासुरेषा ॥ ६५ ॥

सिद्धाङ्गना योगिनी सी, पुण्यशीला, उस वृद्धादेवीने, संसारसागरकी आशातरंगमाला को तैरकर, आनन्दधाम, सच्चिदानन्द, परमात्मा को पाने की लालसासे, यज्ञसूत्ररूपी 'क्षेपणी' = नौकादण्ड = चलाने की बल्लीवाली, सन्ध्यारूपिणी सुन्दर नाव = नौका गुरुदेव के हाथ से ग्रहण की ॥ ६५ ॥

मूर्तिपूजां परित्यज्य स्वाम्यादेशपरायणा ।
पारलौकिकपाथेयं श्रद्धयाऽसौ समग्रहीत् ॥ ६६ ॥

उस हंसा ठकुरानीने मूर्तिपूजा त्यागकर, श्रद्धासे ऋषिदेव के आदेश पालनमें तत्पर रहकर, पारलौकिक–पथ्यभोजनरूप गुरुमन्त्र ग्रहण किया ॥ ६६ ॥

दयामयदयानन्दो ददौ देव्यै चिरादनु ।
प्रथमं स्वाधिकारं ही !! गायत्रीजपने ननु ॥ ६७ ॥

अहा !! सुदीर्घकाल के अनन्तर दयालु दयानन्ददेव ने एक देवी को प्रथमवार गायत्री-मन्त्र जाप का स्वाधिकार प्रदान किया ॥ ६७ ॥

द्रुतसस्कृतभाषिणीं रमां सुमहाराष्ट्रजविप्रवंशजाम् ।
विदुषीं पठितुं निषेदुषीमृषिराजोऽवददेवमेकदा ॥ ६८ ॥

ब्राह्मणवंश में उत्पन्न एक 'रमा' नामकी महाराष्ट्रीय महिला थी। वह धाराप्रवाह संस्कृतमें वार्तालाप किया करती थी। वह विदुषी देवी ऋषि दयानन्द से दर्शनशास्त्र पढा करती थी; एक दिवस महर्षिने पढाते समय उस देवी से कहा कि— ॥ ६८ ॥

निजार्यजातेस्तनुजादशाऽधुना नितान्तशोच्या शुभ शिक्षणं विना ।
कुरीतिकेल्या ललना महालयं न भान्ति वत्से ? जननीपदं गताः ॥ ६९ ॥

"हे वत्से ! इस युग में अपनी आर्य जाति की पुत्री कहलानेवाली स्त्रियोंकी दशा शुभ शिक्षण के विना बडी ही शोचनीय है। सारी कुरीतियों की–ये महिलाएं महालय बनी हुई हैं; ऐसी देवियाँ मातृपदको प्राप्त होकर नहीं सुहाती" ॥ ६९ ॥

तद्ब्रह्मचारिणी भूत्वा सुलभेव तपोधना ।
श्रुतिविद्योपदेशैस्ता स्संस्कारय कुलाङ्गनाः ॥ ७० ॥

"इसलिये तुम सुलभा समान यशस्विनी, ब्रह्मचारिणी बनो: और उत्तम वैदिक धर्मज्ञान के उपदेशों से इन कुलाङ्गनाओं के हृदयों में शुभ संस्कार डालो ॥ ७० ॥

मातरो यदि सद्धर्मज्ञानविज्ञानसंस्कृताः ।
सद्गुणाङ्ककुलतास्स्युस्तास्तत्सुतास्तर्हि धार्मिकाः ॥ ७१ ॥

यदि माताएँ उत्तम धर्मज्ञान और विविध विज्ञानसे अलङ्कृत होकर सद्गुणशालिनी, बनेंगी, तो अवश्य उनकी कूखसे जन्मे हुए पुत्र और पुत्रीगण परम धार्मिक बनेंगे ॥ ७१ ॥

स्वदेशाभ्युदयो नूनं मातृशक्तिविकासनात् ।
मानवोज्ज्वलतामूलं स्त्रीमनोभद्रभावना ॥ ७२ ॥

सचमुच ! ! मातृशक्ति के विकाससे ही स्वदेश का अभ्युदय होगा । जीवन की उज्जवलता-का मूल–उद्गमस्थान, स्त्रियों के मनकी शुभ भावना ही है ॥ ७२ ॥

एतदुद्देश्यसिद्ध्यर्थं विरुद्धं मद्व्रतादपि ।
आर्षविद्यामृतंदातुं तुभ्यमस्मि समुद्यतः ॥ ७३ ॥

"इसी शुभ उद्देश्य की सिद्धि के लिये ही मैं अपने व्रत–संकल्प के विरुद्धभी तुमको आर्षविद्यारूप अमृत प्रदान करने के लिये उद्यत हुआ हूँ ॥ ७३ ॥

इति यतिमुखचन्द्रस्यन्दिनी नन्दनीयं
सपदि कुमुदिनीनां वाक्सुधा मानिनीनाम् ।
शुभमतिरविरोचिस्संगहीनं रमाया-
मुकुलितहृदयाब्जं प्राविशन्नो नलिन्याः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार यतीश्वर दयानन्द के मुखचन्द्र से टपकता हुआ–झरता हुआ, महिलारूपी कुमुदिनीगण को शीघ्र आनन्द देनेवाला वचनामृत, उस रमाकुमारीरूपी नलिनी के शुभमतिरूपी सूर्यकान्ति के संगसे हीन, बन्द हृदयकमल में प्रवेश न कर सका ॥ ७४ ॥

भवजलनिधिनौकां सत्कृपां सद्गुरोः सा
विषयरसनिमग्ना श्रीरमा मोहविग्ना ।
अलभत न ततस्तां येन कल्याणमूलात्
प्रभुवरशिवलाभाद् विच्युतेयं वराकी ॥ ७५ ॥

विषयरस में डूबी हुई, मोहव्याकुल वह रमादेवी, भवसागर से पार उतारनेवाली सद्गुरुकी सत्कृपा–नौका को न प्राप्त कर सकी; अतः वह बिचारी कल्याण के मूल, परमप्रभुब्रह्मके आनन्द लाभ से वञ्चित रही ॥ ७५ ॥

सकलमनुजभूत्यै शुद्धसन्तानसूत्यै
विमलनिगमविद्यासम्प्रदानाधिकारम् ।
ऋषिमणिजननीनां योषितां घोषयित्वा
जयति यतिकवीन्द्रो ब्रह्ममन्त्रैरुदारः ॥ ७६ ॥

मानवमात्र की विभूति स्वरूप, विशुद्ध सन्तति की उत्पत्ति के निमित्त, पुत्ररत्नप्रसविनी नारीजाति के लिये, उदारमना, यति कवीन्द्र दयानन्ददेव, वेदमन्त्रोंद्वारा पवित्र वेदविद्याप्रदान का अधिकार आघोषित करके सर्वोपरिविराजमान होकर विजयलाभ कर रहे हैं ॥ ७६ ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेघाव्रततीर्थस्य कृतौ सचित्रे दयानन्ददिग्विजये ब्रह्मार्ङ्के महाकाव्ये महर्षे र्महामहिमकीर्त्तनमनोहरः सकलमहिलानां वेदविद्याध्ययनाधिकारघोषणो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥

चतुर्दशः सर्गः

विश्वव्यापिनि विश्वपालनविभौ विश्वेश्वरे ब्रह्मणि
ब्रह्मानन्दरतस्य यस्य विपुलो विश्वास एवाश्रयः ।
भक्तिश्चापि वरैव सत्यनिलया दिव्ये ह्यमूर्त्तेऽजनौ
सोऽयं धैर्यधनो यतिर्विजयतां वादाहवायोद्यतः ॥ १ ॥

ब्रह्मानन्द निलीन, जिस दयानन्द योगीन्द्र को सर्वव्यापक, सर्वपालक, सर्वेश्वर, अमूर्त, अजन्मा सर्वशक्तिमान, सर्वप्रकाशक, परब्रह्म परमात्मामें दृढ, अटल विश्वास एवं सत्य, श्रेष्ठ भक्तिका ही एक मात्र आधार है; ऐसा वह शास्त्रार्थ संग्राम के लिये समुद्यत हुआ, धैर्यधनी संन्यासी सर्वोत्कर्षतापूर्वक विजयी हो ॥ १ ॥

गंगातीरे प्रभुरतमनाः कर्णवासान्तिकस्थे
ब्रह्मज्ञानी विहितवसतिः श्रीदयानन्द देवः ।
वेदादेशामृतजलधरो भक्तिधारां प्रवर्ष –
ल्लोकस्वान्ताचलमतनुतानन्दगंगाप्रवाहम् ॥ २ ॥

कर्णवास के निकट गंगातट पर प्रभुभक्त, ब्रह्मज्ञानी दयानन्द देव ने आसन जमाया और वेदोपदेशामृतवर्षी, मेघोपम उस महर्षि ने भक्तिधारा बरसाकर जनता के हृदयरुपी शैलराज से आनन्दरूपी गंगा प्रवाहित की ॥ २ ॥

पाषाणप्रतिमार्चनं प्रभुजनिं तीर्थप्रशंसां जले
भाले चित्रविशेषकं शुभगले मालामणीनां धृतिम् ।
देहे तापनमङ्कनञ्च जपनं रामादिनाम्नां परं
लीलां भागवतीं निराकृत मुनि र्वेदोक्तिसद्युक्तिभिः ॥ ३ ॥

मुनिवर दयानन्दने पाषाणमयिमूर्ति की पूजा, ईश्वरका अवतार, जल में तीर्थ माहात्म्य, ललाटमें विविध प्रकार के तिलक, कण्ठ मे माला और मणियों का धारण करना, देह में दागना तथा शंख चक्रादि का चिन्ह करना, केवल राम, कृष्ण, हरि आदि जपना तथा भागवत की मिथ्या लीला आदि निरर्थक पाखण्डों का वेदों के प्रमाण एवं उत्तम युक्तियों द्वारा खण्डन किया ॥ ३ ॥

अभंगसत्संगमपुण्यगंगां तरंगरिंगन्मनुजान्तरंगाम् ।
अनंगजिन्नैगमगीःप्रसंगात् तरंगयामास नतोत्तमांगा ॥ ४ ॥

कामको जीतनेवाले, विनतमस्तक, वेदवेत्ता ऋषि ने वहाँ वेद वाणी के सारमय, मधुर उपदेश द्वारा, श्रोतृजनों के मनों को प्रभावित एवं प्रफुल्ल बनाकर अखण्ड सत्संग की पवित्र गंगा बहा दी ॥ ४ ॥

टीकाराममनोम्बुजं विकसितं ज्ञानप्रभाभिर्मुने-
स्सूर्यस्येव शिवङ्करस्य सततं तद्दर्शिनां भूभृताम् ।
चेतांस्याहरदेव तन्मधुलिहां सौगन्ध्यलुब्धात्मनां
धन्यानां न फलन्ति कुत्र सुगिरो लोकोदयाकांक्षिणाम् ॥ ५ ॥

कल्याणकारी मुनिसूर्य के ज्ञान किरणों से पं. टीकाराम नामक राजपुरोहित का हृदय कमल खिल गया । उस चित्तपङ्कज ने [परिमल] सुगन्ध लोभी, अनेक, क्षत्रियराजमधुकरो के अन्तःकरणों को अपनी ओर खींच ही लिया । लोकाभ्युदय चाहनेवाले, धन्य महात्माओं की सुवचनावलियाँ कहाँ नहीं फलित होती ! ॥ ५ ॥

गोपालसिंहादिपुरोहितोऽयं विप्रो विवेकी यमिनः सुशिष्यः ।
संवृत्य विद्यामय धर्मतत्त्वं कोशं स ईशादिव संचिकाय ॥ ६ ॥

ठाकुर गोपालसिंह, ठाकुर धर्मसिंह आदि भूमिपतियों के विद्वान् विप्रवर, पुरोहित पं. टीकाराम ने, संयमीश्वर दयानन्द के उत्तम शिष्य बनकर इनसे आर्षविद्या, और वैदिकधर्मतत्त्वों का संग्रह किया; जैसे पृथ्वीश्वर से धन लेकर कोई पुरुष अपना भण्डार भरे ॥ ६ ॥

सभूमिदेवो निजदेवमूर्त्ती-र्देवापगायां परिपात्य मत्या ।
निराकृतेरीशितुरेव सन्ध्या-पवित्रमन्त्रै र्विदधावुपास्तिम् ॥ ७ ॥

उस ब्राह्मण देव ने अपनी देवमूर्तियों देवनदी = गंगा में बुद्धिपूर्वक फेंक दीं और वैदिकसन्ध्या के पवित्र मन्त्रों से निराकार परमेश्वर की उपासना प्रारंभ की ॥ ७ ॥

अथाहिताग्नि र्निजगाद मोदतो निजान् विनेयान् यजमानभूमिपान् ।
पुराणपाठं जडमूर्तिपूजनं न वः करिष्याम्यधुना तु मन्दिरे ॥ ८ ॥

पश्चात् सन्ध्या अग्निहोत्र करने हारे, उस राजगुरुने अति हर्ष से अपने सारे यजमान - भूमिपालों को विज्ञापित कर दिया कि - "अब से मैं तो आपके मन्दिरों मे जड़ मूर्तियों की पूजा एवं पुराणों का पाठ नहीं करूंगा" ॥ ८ ॥

अगाधविद्याश्च शशंस तान् बुध स्तपोबलं वेदबृहस्पते र्यतेः ।
सुसंगतो यस्य गुरोः श्रुतिस्मृति-प्रसिद्धधर्मोऽधिगतोमयाऽप्यहो ॥ ९ ॥

"क्योंकि मैंने वेदों के विद्वान्, बृहस्पतिसम गुरुदयानन्द सरस्वती नामक संन्यासी की संगति से श्रुति, स्मृतियों में प्रसिद्ध मानव धर्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया है" इतना कहकर उसने उन ठाकुरों को स्वामीजी के अगाध ज्ञान एवं तपोबल की महिमा सुनाई ॥ ९ ॥

महीश्वरास्ते स्वपुरोधसो मुखान् निशम्य तामद्भुतरम्यसद्गिरम् ।
सविस्मयास्स्वामिविलोकनोत्सुकाः प्रगम्य नेमुर्मुनिपादपङ्कजम् ॥१०॥

अपने पुरोहितों के मुखसे आश्चर्यकारक मनोहर, ऋषि महिमा सुनकर वे सारे के सारे ठाकुर आश्चर्यमग्न हो गये; और स्वामी दर्शन के लिये, अति उत्सुक हो कर, उनके आसन के पास जाकर उन सबने मुनिचरण कमल मे मस्तक नमाया ॥१०॥

दिव्यं ललाटममले नयने विशाले
भव्याञ्च मूर्त्तिमतुलां सुरवन्द्यकीर्त्तेः ।
वाणीं निपीय यमिनोऽमृतसंनिभां ते
तृप्ता ह्यलौकिकसुखाम्बुनिधौ निमग्नाः ॥११॥

वे लोग देव वन्दनीय कीर्तिवाले संन्यासी का दिव्य ललाट, उनके पवित्र, विशाल नेत्र तथा उनकी अनुपम भव्यमूर्ति देखकर और उनकी अमृततुल्य वाणी पीकर सन्तोष से अलौकिक आनन्द सागर में डूब गये ॥११॥

महापुरुषदर्शनामृतभुजां सदा भूभुजां
शुभङ्करमनुष्यधर्मरसपानमातन्वताम् ।
पवित्रहृदयोर्वराभुवि सुभक्तिबीजं तदा
मुदोप्तममुना तदङ्कुरितमाशु पुष्टं सता ॥१२॥

वे राजा लोग नित्य महापुरुष का दर्शनामृत पानकर, कल्याणकारी मानवधर्म का रसपान करते थे; उस समय इस सत्पुरुष ने आनन्द से उनके पवित्र हृदयरूपी फलद्रूप भूमि में उत्तम भक्ति का बीज बोया, जो कुछ काल मे फूला, फला ॥१२॥

मूर्द्धाभिषक्तनयान् विनयान्वितॉंस्तान्
यज्ञोपवीतरहितानवलोक्य खिन्नः ।
आर्यत्वचिह्नमुपवीतमदाद् यतीन्द्र-
स्तेभ्योऽवबोध्य स विधिं विधिवद् विधिज्ञः ॥१३॥

उन क्षत्रिय वीरो को यज्ञोपवीत से रहित देखकर यतिराज खिन्न हुए; उन विनयशील ठाकुरों को समझाकर उन्हें विधिपूर्वक आर्यत्वका चिह्न उपवीत दिया ॥१३॥

निशम्य वार्त्तां शतशः समागताः पुरान्तरात् क्षत्रियवैश्यमानवाः ।
नवामिवामूमवगम्य सत्क्रियां पवित्रसूत्रं जगृहुर्जगद्गुरोः ॥१४॥

इस वार्ता को सुनकर दूसरे नगरों से सैंकडों क्षत्रिय और वैश्य लोग आए । और इस प्राचीन संस्कृति को जानकर उन सबों ने जगद्गुरु दयानन्द से पवित्र जनोई ग्रहण की ॥१४॥

दिने दिने चन्द्रकलेव मोहिनी समैधतेयं द्विजराज सत्क्रिया ।
हृच्चञ्चुभि र्यां नृचकोरकालयो निपीय तृप्तिं परमां प्रलेभिरे ॥१५॥

द्विजराज दयानन्द की यह उत्तम क्रिया प्रतिदिन मनोहर चन्द्रकला सी बढती गई: जिसको हृदय चंचु से पीकर मानव चकोरगण तृप्त हुए ॥१५॥

द्विजराजो व्रतीन्द्रस्य द्विजमण्डलशालिनः ।
ग्रामेषु विप्रकृष्टेषु चकाशे ख्यातिचन्द्रिका ॥१६॥

द्विजरूपी नक्षत्र मंडल से शोभित, व्रतीन्द्र-चन्द्रमाकी ख्यातिरूपी चन्द्रिका, दूर दूर ग्रामों मे छिटकी (फैली) ॥१६॥

चातुर्मास्ये ववर्षायं देवो वेदामृतं बृहत् ।
नृमनोनिम्नगा येन श्रद्धाम्बुभिरपूर्यत ॥१७॥

वर्षाकाल में देवरूपी मेघने खूब वेदामृत बरसाया; जिससे मानवचित्तरूपी नदियां श्रद्धा-रूपी जलसे भर गई ॥१७॥

कर्णवासे त्रयीदानैः कर्णकीर्त्तिं विजित्य सः
यथा सतां प्रियो जज्ञे कर्णशूलो द्विषां यथा ॥१८॥

कर्णवास में वह दयानन्द, वेदों के ज्ञान दान से कर्ण की कीर्ति को जीतकर, सज्जनो का इतना प्रिय बना कि दुष्टों का वह कर्णशूल बन गया ॥१८॥

मालातिलकमूर्त्यर्चाप्रतिषेधप्रभञ्जनैः ।
पाखण्डिलीलारण्यानी भङ्क्तुमारम्भि वाग्मिनः ॥१९॥

प्रभावशाली वक्ता के माला, तिलक तथा मूर्तिपूजा के खण्डनरूप प्रबल वायु से पाखण्डियो के लीलारूपी जङ्गल भग्न होने लगे ॥१९॥

पौराणिकदलाध्यक्षैः भगवद्दाससंनिभैः ।
अम्बादत्तबुधो वादायानायि यतिनः पुरा ॥२०॥

तब भगवान्दास जैसे पौराणिक दलों के अध्यक्षों ने शास्त्रार्थ के लिये अम्बादत्त पण्डित को स्वामीजीके सामने उपस्थित किया ॥२०॥

पण्डितानां समारोहः स्वाम्यासनपदान्तिके ।
संप्रापोत्कण्ठया जेतुं द्विजेन्द्रं पक्षिणामिव ॥२१॥

जैसे पक्षियों का दल गरुडको जीतने के लिये आता हो; वैसे ही पण्डितों का समूह द्विजराज को जीतने के लिये उत्कण्ठा से स्वामीजी के निवास स्थान पर आया ॥२१॥

व्युत्पन्नोऽतितरां शास्त्रे पर्वतीयस्स पण्डितः ।
मूर्त्तिपूजां समुद्दिश्य प्रावोचन्मुनिपुङ्गवम् ॥२२॥

शास्त्र में अत्यन्त निपुण, वह पहाडी पण्डित मूर्तिपूजा को लक्ष्य करके मुनिश्रेष्ठ से बोला ॥२२॥

भगवन् देवपूजेयं श्रुतिस्मृत्यनुमोदिता ।
मन्यते न कथं मान्या चिरन्तनसमर्थिता ॥२३॥

भगवन्! श्रुति और स्मृतियों से अनुमोदित, और चिरन्तन काल से समर्थित, यह माननीय देवपूजा आप क्यों नही मानते ? ॥२३॥

देवपूजामहंमन्ये न मन्ये मूर्त्तिपूजनम् ।
ईश्वरामूर्त्ततायां तु प्रतितन्त्रसमर्थनम् ॥२४॥

अजस्यामूर्त्तदेवस्याऽऽनन्दमुक्तामृतस्य सा ।
वेदानभिज्ञैस्स्वार्थान्धैरकारि तनुकल्पना ॥२५॥

मैं देवपूजा को मानता हूँ किन्तु पत्थर की मूर्ति की पूजा नही मानता। ईश्वर की अमूर्तता में तो प्रत्येक शास्त्र का समर्थन है ॥ वेदों को नही जानने हारे, स्वार्थान्ध मनुष्योंने अकाम, अजन्मा, मरणधर्मरहित, मुक्त, आनन्द स्वरूप ईश्वर की शरीर कल्पना की है ॥२४-२५॥

क्लेशकर्मविपाकाशाद्यपरामृष्ट ईश्वरः ।
किमर्थं भोक्तृतां धृत्वा चेष्टेत प्राकृतोपमः ॥२६॥

क्लेश, कर्मफल, वासना आदि से अलिप्त परमेश्वर, सामान्य जनतुल्य भोक्तापन धारण करके क्यों चेष्टा करें ॥२६॥

अपापविद्धेऽस्मिन्नकाये परमात्मनि ।
वेदोक्ते सत्प्रमाणेऽपि प्राकल्पि तनुरैश्वरी ॥२७॥

इस अपापविद्ध, शुद्ध, अकाम परमात्मा में वेदोक्त--"सपर्यगाच्छुक्रमकाय०"-इत्यादि प्रमाण होते हुए भी ईश्वर मूर्ति की कल्पना की गई ॥२७॥

धर्मसंस्थापनार्थाय विनाशाय दुरात्मनाम् ।
त्राणाय च सतां देवो देहं नैव बिभर्त्ति किम् ? ॥२८॥

गीतायां कृष्णचन्द्रेण स्वयमेव परात्मना ।
संभवामीति वाक्यं तन् न्यगादीति किमर्थकम् ? ॥२९॥

पण्डित ने कहा धर्म के संस्थापन के लिये; सज्जनों के रक्षण और दुर्जनों के नाश के लिये क्या ईश्वर शरीर धारण नहीं करता ? गीता में स्वयं कृष्णचन्द्र परमात्माने-"संभवामि युगे-युगे०"-इत्यादि वाक्य किस प्रयोजन से कहे ? ॥२८-२९॥

स्वतः प्रमाणं निगमा हि सूर्यवत् तदन्यशास्त्राणि सुधांशुवत्ततः ।
श्रुतेर्विरुद्धं वचनं न मन्यते स्मृति र्हि सा या निगमानुगामिनी ॥३०॥

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि निश्चय से वेद सूर्य समान स्वतः प्रमाण हैं । वेदविरुद्ध वचन नहीं माना जाता; क्योंकि स्मृति उसे कहते हैं जो वेदानुगामिनी हो ॥३०॥

व्यासस्य कृष्णस्य च नामभिर्जनै र्गीताप्रणीता खलु साम्प्रदायिकैः ।
तस्यामनः स्पष्टतया प्रतीयते वेदाद् विरुद्धं वचनं पदे पदे ॥३१॥

सम्प्रदायी पण्डितों ने व्यास और कृष्ण के नाम से गीता बनाई हैं; इसी लिये उसमे स्पष्टरूप से स्थान स्थान पर वेद विरुद्ध वचन प्रतीत होते हैं ॥३१॥

प्रयोजनं नैव शरीरधारणे प्रभोः पुनर्दुर्जनदैत्यवारणे ।
वपुर्विनैवास्य हृदन्तरात्मनः समर्थता सज्जनरक्षणे यदा ॥३२॥

जब सर्वान्तर्यामि परमेश्वर देह धारण किये बिनाही, सज्जनों का रक्षण और दुर्जन दैत्यों का विनाश करने में समर्थ है; तब फिर उसको शरीर धारण करने का प्रयोजन ही नहीं रहता ॥३२॥

कैलासे शंकरो विष्णुर्वैकुण्ठे हरिरम्बुधौ ।
ब्रह्मा त्रिविष्टपे चास्ति व्यर्थेयं धूर्तवञ्चना ॥३३॥

कल्पितायां विमोर्मूर्त्तौ स्वर्णरुप्याश्मधातुभिः
अस्तित्वं नास्ति देवानां स्वस्वस्थाननिवासिनाम् ॥३४॥

ईदृशां जडमूर्त्तीनां पूजया किं फलं पुनः ।
भक्तानां रक्षणं दूरे ह्यशक्यं निजरक्षणम् ॥३५॥

कैलास में शंकर, वैकुण्ठ में विष्णु, समुद्र में हरि और त्रिविष्टप में ब्रह्मा रहते हैं । ये धूर्तों की व्यर्थ वञ्चना है ॥ सुवर्ण, चांदी और पत्थर की बनाई हुई ईश्वर की मूर्ति में अपने अपने स्थान में निवास करने वाले इन देवों का अस्तित्व संभव नहीं ॥ ऐसी जड मूर्तियों की पूजा से फिर क्या फल होगा ? भक्तो का रक्षणतो दूर रहा; जब कि अपना रक्षण ही नहीं कर सकतीं ॥३३–३४–३५॥

प्राणप्रतिष्ठां प्रतिमासु मन्दिरे तदिन्दिरेशस्य न कर्त्तुमीश्वराः ।
आवाहनञ्चापि जडासु पूजका जडार्चनाभि र्जडतां गता ह्यलम् ॥३६॥

मंदिर की जड मूर्तियों में उस विष्णु की प्राण-प्रतिष्ठा और उसका आवाहन भी पुजारी लोग नहीं कर सकते । निश्चय, जड पूजा से वे अत्यन्त जड बन गये हैं ॥३६॥

न देवपूजा गदितेदृशी श्रुतौ परं गुरुणां विदुषां सतां नृणाम् ।
प्रसूपितॄणाञ्च सुदेवसंज्ञिनां सदर्चनात्मोन्नतिदा सनातनी ॥३७॥

वेद में इस प्रकार की देवपूजा नहीं कही है; किन्तु देवसंज्ञक माता, पिता, आचार्य, विद्वान, अतिथि और सत्पुरुषों की पूजा (सत्कार) कही है जिससे आत्मा की सदा उन्नति होती है ॥३७॥

आनन्दरूपं दिवि राजमानं ब्रह्माणमीशानमुपास्यदेवम् ।
विज्ञानयोगामलचक्षुषाऽन्तः पश्यन्ति सन्तो विततं महान्तम् ॥३८॥

सन्त योगी लोग सर्वत्र विराजमान महान्, व्यापक, उपासनीयदेव, आनन्दस्वरूप, परब्रह्म परमेश्वर को, ज्ञानमय पवित्र नेत्र से हृदय में अनुभव करते हैं ॥३८॥

न नेत्रतः पश्यति कश्चनैनं न वाङ्मनोगोचरतां गतोऽयम् ।
निजात्मनैवात्मनि योगगम्यो विज्ञानिभिर्ध्यानिभिरेव विष्णुः ॥३९॥

कोई इसे नेत्र से नहीं देख सकता । वाणी और मन का भी यह ईश्वर विषय नहीं है; यह सर्वव्यापक प्रभु योगियों से योग द्वारा ही हृदय में आत्मा से जाना जा सकता है ॥३९॥

इत्थं प्रतर्कैः प्रबलैः प्रमाणैः प्रेक्षावतां प्राग्रहरः प्रवीणः ।
वादे विदांवर्यमपि प्रकामं विपक्षिणं पक्षिणमेव चक्रे ॥४०॥

इस प्रकार वाद में प्रवीण, बुद्धिमानों में अग्रेसर, दयानन्द ने प्रमाणों और प्रबल तर्कों से उस पण्डितप्रवर को अपने पक्ष का बना लिया ॥४०॥

सत्यप्रियः सत्यवतां वरस्य सत्यां गिरं मुक्तगलं सभायाम् ।
स्वीकृत्य सभ्यान्ननु मूर्त्तिपूजा न वैदिकी मेति रितिं संन्यगादीत् ॥४१॥

उस सत्यप्रिय पण्डितने सत्यवानों में श्रेष्ठ, ऋषि की सत्यवाणी को मुक्त कण्ठ से सभा में स्वीकार कर सभ्यों से कहा कि–"हे सज्जनों! सचमुच, मूर्तिपूजा अवैदिक है" ॥४१॥

निष्पक्षपण्डितस्येदं सत्योक्तं युगपन् नृणाम् ।
एकेषां हृदि पीयूषमन्येषां विषमाजनि ॥४२॥

निष्पक्ष पण्डित का यह सत्यकथन एक ही साथ कितनेक सज्जनों के हृदय में अमृत रूप हुआ और दुर्जनों के मन में विष रूप हुआ ॥४२॥

पौराणिकदलस्याशालतायां हिमवर्षणम्
ऋषेः शिष्यहृदम्भोजे जातं पीयूषसेचनम् ॥४३॥

पौराणिक दल की आशालता पर हिमपात हुआ और ऋषि के शिष्यों के हृदय कमल पर अमृत वर्षा हुई ॥४३॥

पौराणिकमतस्तंभोऽगण्यतायं सुधीमणिः ।
अभूत्सैकतभित्तिस्स प्रतिमार्चनसञ्चनः ॥४४॥

यह विद्वद्रत्न, प्रतिमापूजारूप भव्य भवन का पौराणिक मतवादी स्तभ गिना जाता था वह आज रेती का स्तभ बन गया ॥४४॥

अम्बादत्तपराभूते र्यतेः ख्यातिश्चतुर्गुणा ।
वितेने तेन राजन्याः शतशो वेदमार्गगाः ॥४५॥

पण्डित अम्बादत्त की हार से यतिराज की ख्याति चौगुनी हो गई; अतः सैंकडों क्षत्रिय वेदमार्गगामी बन गए ॥४५॥

पौराणिकदलाकाशं नैराश्याम्बुदसंवृतम् ।
वेदभक्ताम्बरश्चालं सदाशारश्मिरञ्जितम् ॥४६॥

पौराणिक दल का आकाश निराशा के बादलों से घिर गया और वेदभक्तों का अन्तरिक्ष उत्साह की किरणों से अतिरञ्जित हो गया ॥४६॥

मन्दिरान्मूर्त्तयः कण्ठान्मालिका हृदयात्तमः ।
ललाटात्तिलकश्चागाद् गंगाम्भो मुक्तिलब्धये ॥४७॥

मन्दिरों से मूर्तियाँ, कण्ठों से मालाएँ, हृदय से अज्ञान अन्धकार और ललाटों से तिलक, गगा में मुक्ति पाने के लिये गये ॥४७॥

बुद्धाभिधः संस्कृतवाग्धुरन्धरो वादं व्यधाद् देवगिरा विदांवरः ।
चिरं परं शास्त्रबलेन योगिना वशम्वदोऽकारि सुतर्कशालिना ॥४८॥

बुद्धा नामक एक सस्कृत के धुरंधर पडित ने स्वामीजी के साथ संस्कृत में देर तक शास्त्रार्थ किया; किन्तु सुतर्कशाली योगीने शास्त्रबल से उसे जीत लिया ॥४८॥

भक्तमौक्तिकमालायां बुद्धो मणिरिवाबभौ ।
अभ्यधान्मुनिरेनं यद् वात्सल्याद् बुद्धिसागरम् ॥४९॥

भक्तरूपी मोती की माला में यह बुद्ध हीरे के तुल्य चमकता था । इसलिये मुनिराज इसे बुद्धिसागर कहते ॥४९॥

भागीरथीतटमनोहररामतीर्थे
पद्मासनस्थमुनिराजमथैकदाऽमुम् ।
निष्पन्दगात्रमविरुद्धमनोऽभिवृत्ति
भक्त्यैक्षतैक जडपूजक आदिनान्तम् ॥५०॥

फिर एक समय, सायकाल एक मूर्तिपूजक ने भागीरथी के तट पर मनोहर राम घाट में समाधिमग्न, अचलगात्र, पद्मासनस्थ इस योगिराज को श्रद्धा से देखा ॥५०॥

ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा पश्यन्ति यं योगिनः
इत्येकं कवितापदं सहृदयो गायन्नगादन्तिकम् ।
संन्यासी स्मितचन्द्रिकाभिरभितो गां शुक्लयन्नब्रवीद्
ओ३मित्येकपदं तदर्थनवशो यातश्च शर्वालयम् ॥५१॥

वह सहृदय "ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः"-इस कविता के पद को गाता हुआ योगिवर के पास पहुंचा । सन्यासी ने मन्द हास्यरूपी चन्द्रिका से चहुं ओर की भूमि को श्वेत बनाते हुए, 'ओ३म्' ऐसा कहा और उस की प्रार्थना से शिवालयमें गए ॥५१॥

मूर्त्तीनां भारमारोप्य तुरं मूर्त्तिपूजकः ।
सानुग स्स्वामिनं निन्ये वनखण्डीश्वरालयम् ॥५२॥

वह एक मूर्तिपूजक था, मूर्तियों के भार को घोडे पर लादकर लाया था, उसके साथ एक नौकर था, वह स्वामीजी को वनखण्डी महादेव के मन्दिर में ले गया ॥५२॥

त्रिपुण्ड्रं मस्तके कण्ठे रुद्राक्षाणां सुमालिकाः ।
हस्तयोश्चापि विभ्राणश्चर्चांमङ्गेषु चान्दनीम् ॥५३॥
जिह्वायामिष्टदेवाख्यां स क्षेमकरणाभिधः ।
नाज्ञासीद् ब्रह्मचारी तु ब्रह्मचारीन्द्रमद्भुतम् ॥५४॥
मूर्त्तिपूजामहाशत्रुं घोरोऽयं मूर्त्तिपूजकः ।
गां गतं दिव्यतेजस्कं भास्वन्तं ध्वान्तहारकम् ॥५५॥

उसने ललाट में त्रिपुण्ड्र, गले में रुद्राक्ष की मालाएँ और दोनों हाथों तथा अङ्गों पर चन्दन का लेप धारण किया था । उसकी जिव्हा पर इष्टदेव का नाम था । उसका नाम क्षेमकरण था । वह ब्रह्मचारी नही जानता था कि-"ये दयानन्द पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ अज्ञान अन्धकारहारक, दिव्य तेजधारी अद्भुत आदित्य ब्रह्मचारी श्रेष्ठ है । वह घोर मूर्तिपूजक था । और दयानन्द मूर्तिपूजा का घोर शत्रु था ॥५३-५४-५५॥

तत्राचलद् विबुधयोः सुरम्यात्रि वाद-
स्तस्मिन्नयं यमिवरोऽपि सुसंगतोऽभूत् ।
आकर्ण्य तां सरलसुन्दरदेववाणीं
देवस्य चित्रलिखिताविव तावभूताम् ॥५६॥

उस मन्दिर में दो विद्वानों का देववाणीमे शास्त्रार्थ हो रहा था; उसमें ये सयमीश्वर भी संमिलित हुए । दयानन्द देव की सरललालित देववाणी सुनकर दोनों पण्डित चित्रलिखित से स्तब्ध हो गये ॥५६॥

यामिन्यां रामचन्द्रेण कृतातिथ्यो मुदा यतिः ।
अश्मोपधानः सुष्वाप क्ष्माशय्यो हरिदम्बरः ॥५७॥

रात में रामचन्द्रजीने आनन्दसे इस यति का आदर आतिथ्य किया: फिर स्वामीजी पृथ्वी को शय्या, दिशाओं का वस्त्र और पत्थरका तकिया बनाकर सो गए ॥५७॥

लोकोत्तरस्य यतिनो विमला सुविद्या
वार्त्तेव कौतुकमयी प्रससार लोके ।
कस्तूरिकासुरभिवत् सुचरित्रकीर्त्ति-
र्गुप्ताऽपि तस्य रिपुभि र्विदिता बलात्सा ॥५८॥

लोकोत्तर यतीश्वर की विमल, उत्तम विद्या, लोकोंमें उपन्यास की कथा के तुल्य फैल गई । उन के सुचरित्र की कीर्ति, कस्तूरी की गुप्त सुगन्धि के तुल्य शत्रुओं को हठात् विदित हो गई ॥५८॥

तीर्थावतारादिपुराणलीला - लतां सुदम्भद्रुममाश्रितां ताम् ।
कठोरतर्काख्यकुठारपातै र्वाग्मिप्रवीरः प्रलयं निनाय ॥५९॥

वक्तृत्वकलाचतुर ऋषिने कठोर तर्करूपी कुठारों (कुहाडों) से पाखण्ड वृक्षसे लिपटी हुई तीर्थ, अवतार, आदि पुराण-लीलारूपी लताओं को काट डाला ॥५९॥

कृष्णानन्दो वाममार्गी प्रसिद्धः संन्यास्यासीत्पण्डितः संस्कृतज्ञः ।
शास्त्रार्थाय प्रेरितो बाधितोऽयं स्वाम्यग्रेऽस्थाद् दम्भिभिस्तत्र विप्रैः ॥६०॥

वहाँ कृष्णानन्द सन्यासी संस्कृतज्ञ पण्डित रहता था । वह प्रसिद्ध वाममार्गी था । पाखण्डी ब्राह्मणोंने उस को शास्त्रार्थ के लिये विवशकर स्वामीजी के आगे खडा कर दिया ॥६०॥

अद्भुतस्स चमत्कारः श्रीदयानन्दनामनि ।
विद्रवन्ति श्रुतेऽमुष्माच्छ्येनादिव कुपक्षिणः ॥६१॥

दयानन्द नाममे वह अद्भुत, चमत्कार था कि इनका नाम सुनते ही विपक्षी पण्डित इनसे दूर भागते: जैसे बाजसे पखी ॥६१॥

वश्येन्द्रियस्य पुरतो विवशीकृतोऽयं
मध्यस्थसभ्यनियमाय स निर्बबन्ध
शास्त्राणि सभ्यमणितां ननु भो ! भजन्ता-
मित्युक्त एष कथमप्युररीचकार ॥६२॥

वश्येन्द्रिय के सामने विवश होकर जब वह कृष्णानन्द आया तब उसने सभापति की नियुक्ति के लिये हठ किया । स्वामीजीने कहा—"हे संन्यासीजी ! हमारे सभापति तो शास्त्र ही है ! तब कहीं वह मान गया ॥६२॥

रज्ज्वां भुजङ्ग इव शुक्तिषु रूप्यवद्वा
मिथ्या जगन्निखिलमस्ति हि केवलं तत् ।
ब्रह्मैव सत्यमिति संयमिनं जगाद
वेदान्तवादमवलम्ब्य निजां प्रतिज्ञाम् ॥६३॥

उसने वेदान्त वाद का अवलम्बन कर इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई – 'जैसे रज्जु में सर्प का और छीप में चान्दीका अभाव है; वैसे यह सारा जगत् मिथ्या है; केवल एक ब्रह्म ही सत्य है" ॥६३॥

सर्पज्ञानं मनुजहृदये विद्यमानं हि सत्यं
रज्ज्वां भ्रान्तिं तमसिजनयेत्सर्पसारूप्यबुद्धेः ।
दीपालोके फणिधरभयं यद्वदस्यां विनश्येत्
तद्वज्ज्ञाने सति स जगतोऽसत्यभावोऽप्यपेयात् ॥६४॥

स्वामीजीने कहा "मनुष्य के हृदयमें विद्यमान सर्पज्ञान सत्य है, अन्धकार में रस्सी को देखकर उसमें सर्प का भ्रम हो जाता है; दीपक के प्रकाश में इस रस्सी में रहा हुआ सर्प का भय नष्ट हो जाता है; वैसे ही ज्ञान होने पर जगत् का मिथ्यापन भी दूर हो जायँ" ॥६४॥

भुजङ्गमेनोपमितं जगत्तत् सत्येन मिथ्या वद कीदृशं स्यात् ? ।
जगत्यसत्ये ननु रज्जुसत्तां कुतः प्रमाणीकुरुषे मनीषिन् । ॥६५॥

"हे विद्वन् ! सच्चे सर्पसे उपमा दिया गया हुआ जगत् असत्य कैसे हो जावेगा ? कहो; जगत् के असत्य होने पर भला रज्जु की सत्ता कहाँसे मानोगे ?" ॥६५॥

सत्ये विषधरे रज्ज्वां सत्यायां तमसो वशात् ।
भ्रमोत्पत्तिर्जनस्वान्ते विना नागं कुतो नु सा ॥६६॥

सर्प सत्य है । रज्जु भी विद्यमान है । तभी अन्धेरेमें मनुष्य के हृदयमें भ्रम पैदा होता है । विना सर्प के भ्रम कहाँ से हो ?" ॥६६॥

सति कुड्ये भवेच्चित्रं निराधारे कुतोऽन्वदः ।
किमालम्ब्य भ्रमो जज्ञे मिथ्यात्वे जगतः पुनः ॥६७॥

"दिवाल हो तभी चित्र बन सकेगा । निराधार में वह चित्र कहाँ से बनेगा ? जब जगत् की ही सत्ता न हो; तब किसका आश्रय करके भ्रम हुआ ?" ॥६७॥

ब्रह्मसत्यं जगत्सत्यं जीवास्सत्याश्च संसृतौ ।
ज्ञानतो दृश्यमानं तन्निखिलं सत्यमात्मवत् ॥६८॥

"इस लिए संसार में ब्रह्म सत्य, जगत सत्य, और जीव भी सत्य है । यदि ज्ञान से देखा जाय तो आत्मवत् सर्व सत्य है" ॥६८॥

द्वासुपर्णेति मन्त्रेऽस्मिन् स्पष्टतः प्रत्यपादि तत् ।
ब्रह्मजीवप्रकृत्याख्यं तत्त्वत्रयमनादि सत् ॥६९॥
ब्रह्मसर्वज्ञमल्पज्ञो जीवस्तु प्रकृतिर्जडा ।
साक्षि भोक्ता च भोग्येयं वेदतो युक्तितोऽप्यहो ॥७०॥

"द्वासुपर्णा" इस मन्त्र मे स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि–'जीव, ईश्वर और प्रकृति ये तीनों पदार्थ अनादि हैं । उनमे ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वसाक्षी है। जीव अल्पज्ञ और भोक्ता है; तथा प्रकृति जड एवं भोग्य है; इस प्रकार प्रमाण और युक्तिसे तुम्हारा मत मिथ्या है ॥६९-७०॥

स्वप्नावलोकित दृश्यं प्रबुद्धे भाति यन्मृषा ।
दृश्यत्वाज्जगदेवं तन्मिथ्यैवास्तीति सोऽवदत् ॥७१॥

कृष्णानन्दने कहा–जिस प्रकार स्वप्न में देखा हुआ दृश्य जागृत होने पर मिथ्याप्रतीत होता है; उसी प्रकार दृश्यरूप होने से जगत मिथ्या ही है ॥७१॥

जागरेक्षितवस्तूनां दृश्यत्वाद् यद्यतथ्यताम् ।
स्वप्नवन्मनुते श्रीमान् स्वप्नोद्भूतिरसंभवा ॥७२॥

स्वामीजी बोले–"श्रीमान्जी ! यदि आप दृश्यरूप होनेसे (जागरणमें) देखी हुई वस्तुओंकी स्वप्नवत् असत्यता मानते हैं; तो स्वप्न की उत्पत्ति ही असभव ही है" ॥७२॥

जाग्रद्दशायां मनुजेन यद्यन् मनोहरं वस्त्वमनोहरं वा ।
वीक्ष्येापभुक्तं भयतश्च मुक्तं स्वप्नेऽपि तत्तद्धयनुभूयतेऽलम् ॥७३॥

जागृत अवस्थामें मनुष्य अच्छी या बुरी जो जो वस्तु देखता है, भोगता है और भयसे छोड देता है; निश्चयसे स्वप्नमें भी वही २ वस्तु उसके सामने आती है ॥७३॥

छिन्नं शिरो वीक्ष्य निजं मनुष्यः स्वापे स्वयं रोदिति सार्द्धमिष्टैः ।
सतिप्रबोधे हृदयप्रकम्पान् न भिन्नशीर्षं न जनाः प्रियास्ते ॥७४॥

कृष्णानन्दने कहा–स्वप्नमें मनुष्य अपना कटा हुआ सिर देखकर प्रियजनों के साथ स्वयं रोता है; और जागने पर कम्पित होता है; किन्तु न तो कटा हुआ सिर और न तो उन प्रिय जनों को देखता है ॥७४॥

स्वाद् भिन्नं जाग्रता जातु शिरश्छिन्नं जनेन तत् ।
रुदन्नैक्षि जनश्चेष्टो निद्रायां तस्य दर्शनम् ॥७५॥

स्वामीजीने उत्तर दिया–कभी जागते हुए उस मनुष्यने अपने से भिन्न किसी का कटा हुआ सिर और रोते हुए उस के प्रियजन देखे थे; जिससे निद्रामें उस का दर्शन हुआ ॥७५॥

स्वप्ने कदाचिद् विपरीतदृश्यं यद्दृश्यते सा तमसाभिभूते ।
विवेकशून्ये मनसि स्वबुद्धेः प्रमत्ततैवास्ति निदानमस्मिन् ॥७६॥

स्वप्न में तमो गुण से तिरस्कृत, अत एव विवेक शून्य, मनमें कभी २ जो विपरीत दृश्य दिखाई देता है; उस में अपनी बुद्धि का प्रमाद ही एक मात्र कारण है ॥७६॥

ब्रह्मातिरिक्तं वितथ यदि स्यात् स्वप्नोऽपिदृष्टान्ततयाऽस्ति मिथ्या ।
न रज्जुशुक्त्यादिमरीचिकान्ताः प्रमाणमर्हन्ति भवन्मतञ्च ॥७७॥

यदि ब्रह्म के विना सब असत्य है तो दृष्टान्तरूप से स्वप्न भी मिथ्या है तथा रज्जु, छींप से लेकर मृगजल तक सारे दृष्टान्त और आपका मत भी प्रमाण योग्य नही है ॥७७॥

आदौ तु युष्मन्मतमेव नाभूत् स्थास्यत्यथान्तेऽपि न वर्त्तमाने ।
न चास्ति सत्यं मततस्तवैव युक्तयाऽनुमोदे मतमर्हणीय ? ॥७८॥

पूजनीयजी ? "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपितत्तथा ।" इस कारिका के अनुसार पहले आपका मत ही न था और आगे भी नहीं रहेगा अतः वर्तमान समय में भी नहीं है । आप के ही मत से यह मत सत्य नहीं है; इसका मै भी अनुमोदन करता हूँ ॥७८॥

देहोऽपि तेऽयं न पुरा भवत्स तिष्ठेन्न पश्चान्ननुभो ? विपश्चित् ? ।
किमर्थमेतं रुचिरान्नपानैः पुष्णासि नाशान्नितरां बिभेषि ॥७९॥

हे विद्वन् ! यह आपका देह भी प्रथम न था, पश्चात् भी न रहेगा; तो किस लिये मधुर, अन्नपानसे आप उसकी रक्षा करते हैं और क्यों इसके नाशसे इतने डरते हैं ॥७९॥

ब्रह्मासि चेत्त्वं वपुरप्यसत्यं दाह्यं तदेदं दहनेन नूनम् ।
ब्रह्मैव सत्यं तनुरस्ति मिथ्या प्रत्याययासत्यतनूं तदेताम् ॥८०॥

आप यदि ब्रह्म हैं: तो तदतिरिक्त यह शरीर मिथ्या है । अतः इसे सचमुचअग्नि से जला देना चाहिये । ब्रह्म ही सत्य है और देह मिथ्या है; इस मतका शरीर जलाकर आप विश्वास दिलाइये ? ॥८०॥

शब्दप्रभृत्यर्थरसोपभोगेसंस्कारचित्रं जनचित्तभित्तौ
आलेखयत्येव सुवर्णरम्यं विशुद्धबुद्ध्युत्तमशिल्पिनीयम् ॥८१॥
भूयोऽपि तत्तद्विषयेोपलब्धौ तत्पूर्वभोगस्मृतिरात्मनः सा ।
संस्काररूपोज्ज्वलवासनातः प्रवर्त्तयत्यर्थरसोपभुक्त्यै ॥८२॥

विशुद्ध बुद्धिरूपी उत्तम चित्रकारिणी स्त्री, शब्द, स्पर्श, आदि विषयों का आनन्द भोगने पर मानव के मनरूपी दिवालमें अनेक वासनाओं के रंग से सुन्दर, संस्काररूपी चित्र बनाती है ॥ पुनः जब उस २ विषय को प्राप्ति होती है; तब संस्काररूप तीव्र वासना के कारण वह प्रथम भोग की स्मृति, जीवात्माओंको विषयरस भोग के लिये प्रवृत्त करती है ॥८१–८२॥

पूर्वानुभूतस्मृतिदर्शनं यत् तां प्रत्यभिज्ञां प्रवदन्ति विज्ञाः ।
जाग्रद्दशास्वप्नदशास्वतो हि प्रक्रीडतीवात्ममनः प्रकामम् ॥८६॥

दार्शनिकलोग पूर्वानुभूत स्मृतिज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं; इसी लिये जागृत और स्वप्न दशामें वह मनको नितान्त खिलाया करती है ॥८३॥

जीवो ह्यसौ तद्विषयोपभोक्ता स्वप्नेऽपि न ब्रह्म विनिस्स्पृहं तत् ।
जीवात्मने कर्मफलप्रदातृ ब्रह्माण्डकर्त्तृ प्रकृतेः सुतत्त्वैः ॥८४॥

क्योंकि यह जीव स्वप्नमें उन २ विषयों को भोगता है । वह ब्रह्म तो निस्पृह है । जीवों को कर्मफल देता है और प्रकृति के पञ्चतत्वों से सृष्टि बनाता है ॥८४॥

कस्याजनि जगद्भानं ब्रह्मणीदं विदां मणे ? ।
जीवस्य कुत एषोऽभूदज्ञानात्तत्कुतः कनु ? ॥८५॥
अज्ञानं तिष्ठति ब्रह्मण्यनादि ब्रह्म किं गुणम् ।
ज्ञानस्वरूपं तन्नित्यमज्ञानं कथमीश्वरे ॥८६॥
मायया तद्धि माया का भासमानाऽप्यरूपिणी ।
अरूपं भासते किन्नु ? मिथ्योन्मत्तप्रजल्पनम् ॥८७॥

स्वा०–हे विद्वन्मणे ? ब्रह्ममें यह जगत् का भान किसको हुआ ? कृ०–जीव को । स्वा०–वह अज्ञान किसमें और क्यों ? कृ०–ब्रह्ममें अज्ञान रहता है और वह अनादि है । स्वा०–ब्रह्मका क्या स्वरूप ? कृ०–वह नित्य ज्ञान स्वरूप है । स्वा०–फिर ईश्वरमें अज्ञान कहाँसे ? कृ०–मायासे । स्वा०–वह माया क्या चीज है ? कृ०–वह भासमान होती हुई भी अरूप है । स्वा०–अरूप होती हुइ कैसे भासती है ? यह सब तुम्हारा उन्मत्त बकवाद है ॥८५–८६–८७॥

इत्यादिशास्त्रतर्काभ्यां तार्किकेशो दिनत्रयम् ।
कृष्णानन्दस्य दुष्पक्षं निरास्थज्जनताग्रतः ॥८८॥

इत्यादि प्रमाण और तर्कों से तार्किक सम्राट् दयानन्द ने तीन दिन तक कृष्णानन्द के असत्य पक्ष को जनता के समक्ष खण्डित कर दिया ॥८८॥

कृष्णानन्दयतिं विवादसमयेऽपृच्छज्जनः कोऽपि तं
स्वामिन्नीरमिदं शिवोपरि परिस्राव्याहमायानि किम् ? ।
मध्ये द्रागवदन्मुनिर्नरममुं नायं प्रभुः शङ्करः
पाषाणः परमेष तिष्ठति तदा रुष्टो भवन्नालपत् ॥८९॥

विवाद के समय किसी मनुष्यने उस कृष्णानन्द यति से पूँछा कि–हे स्वामीजी । यह जल मैं शिवजी पर चढाकर आऊँ क्या ? तब शीघ्रता से बीच में ही ऋषि ने उस मनुष्य से कहा कि–'ये शिव प्रभु नहीं है किन्तु यह तो पत्थर है; तब वह कृष्णानन्द रुष्ट होकर कुछ न बोल सका ॥८९॥

नात्रास्ति किं महादेवः सर्वत्रैव सदा शिवः ।
मन्दिरादन्यदेशेऽपि मन्दिरे गमनं वृथा ॥९०॥

कृ०—क्या इसमें महादेव नहीं है ? स्वा०—वह शिव तो सदा सर्वत्र ही है: मन्दिरसे अन्य स्थानमें भी है; तो मन्दिरमें जाना व्यर्थ है ॥९०॥

मूर्त्तावपि तदाव्याप्तो जनानां हृदयेऽप्ययम् ।
मूर्तौ भावनया लभ्यो मिथ्येयं भावनेदृशी ॥९१॥

कृ०—तब मूर्तिमें भी व्याप्त है । स्वा०—मनुष्यों के हृदयों में भी वह है। कृ०—मूर्तिमें भावना करने से मिल जाता है । स्वा० ऐसी यह भावना मिथ्या है ॥९१॥

वेदोपनिषदि क्वापि योगानुष्ठानमन्तरा ।
निराकारेश्वरप्राप्ति र्नावर्णि प्रस्तरार्चया ॥९२॥

कहीं भी वेदों और उपनिषदों में योगाभ्यास विना पत्थर की पूजा से निराकार ईश्वर की प्राप्ति नहीं कही है ॥९२॥

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' ? ।
इति गीतावचः किन्नो मन्यते विदुषा सता ॥९३॥

कृ०—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।" इस गीता वचन को आप विद्वान् हो कर क्या नहीं मानते ? ॥९३॥

'ईश्वरो हि निराकारो देहं नैव बिभर्त्ति सः ।
'स पर्यगादिति' श्रौतं वचनं मन्यतां विदा ॥९४॥

स्वा०-निश्चय से वह निराकार है अतः वह देह धारण नहीं करता । 'सपर्यगात्०'—इत्यादि वेदवचन आप विद्वान् को मानना पड़ेगा ॥९४॥

कृष्णानन्दो निगमविदुषा स्वामिना शास्त्रशस्त्रै-
रित्थंवादे प्रतिहतमना रुद्धबुद्धिः परास्तः ।
विक्षिप्तोऽयं विमुखवदनः श्रीदयानन्ददेवा-
लोकान् पश्यन् न्यगददहह न्यायमुद्दिश्य वाक्यम् ॥९५॥

इस प्रकार वाद में वेदों के विद्वान् स्वामीजी ने कृष्णानन्द स्वामी को शास्त्ररूपी शस्त्रों से कुण्ठित बुद्धि एवं आहत मनवाला बनाकर हरा दिया; तब वह पागल सा होकर दयानन्द देव से विमुख होकर लोगों की ओर देखता हुआ न्यायशास्त्र का वाक्य बोलने लगा ॥९५॥

महीगन्धवती वह्नि र्धूमवानित्यनर्गलम् ।
प्राजल्पल्लक्षणस्यापि लक्षणं चास्यसौ यतिः ॥९६॥

गन्धवती पृथ्वी । धूमवान् वन्हिः । लक्षणका भी लक्षण होता है; इत्यादि अनर्गल बकने लगा ॥९६॥

लक्ष्यस्य लक्षणं धीमँ लक्षणस्य न लक्षणम् ।
पिष्टस्य न यथा पिष्टं कारणस्य न कारणम् ॥९७॥

स्वा०—हे धीमन् ! लक्ष्य का लक्षण होता है; लक्षण का लक्षण नहीं; जैसे आटे का आटा और कारण का कारण नही होता है ॥९७॥

इत्युक्ते वाग्मिनां वर्य्ये जहसुर्निखिला जनाः ।
कृष्णानन्द स्सनिस्तेजा ग्लौरिवेनस्य संनिधौ ॥९८॥

फेनास्यः स्तब्धवाक्कण्ठः संत्रस्तो लज्जया तदा ।
उत्थाय संसदो यातः सत्वरं निजमाश्रमम् ॥९९॥

वाग्मिश्रेष्ठ स्वामी के इस प्रकार बोलने पर सारी सभा हँस पडी और सूर्य के सामने जैसा चन्द्र निस्तेज हो जाता है; वैसे वह दयानन्द के सामने कृष्णानन्द फीका पड गया ॥ उस के मुख से झाग निकली, उसकी वाणी रुक गई और लज्जा से सत्रस्त होकर शीघ्र वह सभासे उठकर अपने आश्रम को चला गया ॥९८–९९॥

शास्त्रार्थस्य प्रभावेण श्रीक्षेमकरणो व्रती ।
मूर्त्तिपूजाबृहद्भारं गंगाया आर्पयन्मुदा ॥१००॥

त्रिपुण्ड्रंमस्तकात् कण्ठाद् रुद्राक्षाणां स्रजः करात् ।
गात्राच्च चान्दनं लेपं सो ह्याक्षीत् तमसा समम् ॥१०१॥

इस शास्त्रार्थ के प्रभाव से ब्रह्मचारी क्षेमकरणजीने हर्षसे मूर्तियों का बडा भार गंगा को अर्पण कर दिया, उसने ललाट से तिलक, गले से रुद्राक्षमाला, और हाथ तथा गात्रों से चन्दन का लेप अज्ञान के साथ साथ छोड दिया ॥ ॥१००–१०१॥

सन्ध्यां पञ्चमहायज्ञं स्वीकृत्य बहवो द्विजाः ।
गंगायां व्यसृजन्मूर्त्तीं निश्शंका लब्धलोचना ॥१०२॥

ज्ञाननेत्र पाकर पण्डित बालमुकुद ब्रह्मचारी नन्दकिशोर आदि बहुतसे द्विजोंने सन्ध्या तथा पचमहायज्ञ को स्वीकार किया और निश्शङ्क होकर उन्होंने गगामें मूर्तियों को विसर्जन कर दिया ॥१०२॥

आजीविकावशात् केचिन्मन्वानास्सत्यतामपि ।
पाखण्डाचरणं हातुं साहसं नैव चक्रिरे ॥१०३॥

कितनेक पण्डित सत्यता को स्वीकार करते हुए भी, आजीविका के कारण, पाखण्डाचरण को त्यागने का साहस न कर सके ॥१०३॥

गोस्वामी स्वामिभक्तेषु श्रद्धालुस्तत्र योगिनः ।
विशुद्धानन्दविद्याया विद्यां मेनेऽधिकां तदा ॥१०४॥

वहाँ भैरवनाथ नामक गोस्वामी स्वामी भक्तों में था, वह इस योगी की विद्या को विशुद्धानन्द की विद्या की अपेक्षा अधिक मानता था ॥१०४॥

तुलसीदलमानीय प्रदाय यतये वदत् ।
शालिग्रामो मम श्रीमान् श्रीमन्नस्तु विनोदतः ॥१०५॥

वह श्रद्धालु रोज तुलसीदल लाकर और स्वामीजी को देकर विनोद से कहता कि श्रीमन्‌जी ! आप ही तो हमारे शालिग्राम है ॥१०५॥

तुलसीपत्रमश्नन्तसन् भोजनान्ते यतिर्जगौ ।
मुखशुद्धिर्भवत्यस्मात् सेवनीयं सदाजनैः ॥१०६॥
गृहाणां प्राङ्गणे लोकैः संरोप्यस्तुलसीतरुः ।
पावनः पवमानस्य रसनारुचिदायकः ॥१०७॥

भोजन के बाद स्वामीजी तुलसीपत्र खाते हुए उसकी प्रशंसा किया करते कि "इसके खानेसे मुखशुद्धि होती है; अतः सदा इसका सेवन करना चाहिये । गृहस्थों को गृहाङ्गणमें तुलसी लगानी चाहिये; क्योंकि यह वायुको शुद्ध करती है और स्वाद के लिये रुचिकर है" ॥१०६–१०७॥

रामघट्टजननां सतां वरो वेदधर्मपथगां विधाय सः ।
पुण्यविल्ववनमागमद भ्रमन् पिप्पलद्रुमतलेऽवसत्ततः ॥१०८॥

वे सन्तशिरोमणि दयानन्द रामघाट की जनता को वेदमार्गानुगामी बनाकर घुमते हुए "बैलोन" आए और पीपल के नीचे ठहर गए ॥१०८॥

छादितं शरतृणैरथोपरि – स्थानमुत्तममृषेस्तदाश्रवैः ।
तूलिकाञ्चितसुदारुमञ्चिका – तस्थिवानुपदिदेश सोऽनुगान् ॥१०९॥

ऋषि भक्तोने उस उत्तम स्थान को (सिरकियों से आच्छादित) सरकण्डों से छा दिया और अन्दर चौकी तथा गद्दा बिछा दिया जिसपर बैठ कर वे उपदेश दिया करते थे ॥१०९॥

गायत्रीमन्त्रपाठं चाशिक्षयत् संगतिं गतान् ।
स्वयमेभ्यो विलिख्यादात् सहस्रावृत्तिबोधकम् ॥११०॥

सत्सङ्ग में आए हुए जनों को स्वामीजी गायत्री मंत्र पढाया करते और स्वयं अपने हाथों से लिखकर १००० (आवृत्तिबोधक) चिन्हाङ्क के साथ उनको दे देते ॥११०॥

पण्डितेन्द्रमणिस्तत्र न्यवसन्ना प्रतिष्ठितः ।
गायत्रीप्रतिलेखान्त्स लिखित्वा मुनयेऽददात् ॥१११॥

वहाँ पण्डित इन्द्रमणिजी नामक एक प्रतिष्ठित व्यक्ति रहते थे वे गायत्री की अनेक प्रतियाँ लिखकर स्वामीजी को दिया करते थे ॥१११॥

महर्षिर्यंतरलेखान् पञ्चाशत्प्रमिताञ्जने ।
तत्र विल्वकानने भक्ता अनेके ह्यभवन्मुनेः ॥११२॥

स्वामीजी ने वहां कोई पचास मनुष्यों को गायत्री की प्रतियाँ वितरण कीं। बेलोन में अनेक सज्जन महर्षि के भक्त बन गये ॥११२॥

नाभूतामवतारौ किं रामकृष्णौ प्रतापिनौ ।
राजानावेव तावास्तां जन्मगृह्णाति नेश्वरः ॥११३॥
रासलीलाऽपि गोपीभिः कृष्णचन्द्रस्य योगिनः ।
कलङ्कमिव चारित्र्ये तनुतेऽतोऽनृता हि सा ॥११४॥

श्रीकृष्ण नामक पण्डेने पूँछा कि महाराज ! श्रीराम और श्रीकृष्ण अवतार नही थे ? स्वा०—नहीं; वे केवल प्रतापी राजे थे। परमेश्वर जन्म धारण नही करता। कृष्णचन्द्र योगी थे। गोपियों के सङ्ग की गई हुई रासलीला उनके चरित्र को कलङ्कित करती है अतः वह मिथ्या ही है ॥११३-११४॥

दण्डवन्मुनिवर्य्यास्तु त्वमेव स्या नु दण्डवत् ।
गंगेयं मोक्षदा किन्नो ? केवलं सुजला नदी ॥११५॥

एक सज्जन ने समीप आकर कहा-'स्वामीजी ! दण्डवत्'। स्वामीजीने हसकर कहा-'दण्डवत् तुम्ही होओ'। सज्ज०—क्या गगा मोक्षदायिनी नही है ? स्वामी०-यह तो केवल उत्तम जलवाली नदी है ॥११५॥

गंगा जलेन विमलेन हि केवलं सा
बाह्यं शरीरममलीकुरुते निकामम् ।
पीयूषतुल्यजलपानमथादसीयं
नीरोगतां वितनुते निजतीरभाजाम् ॥११६॥

स्वा० वह गगा स्वच्छ जल से केवल बाह्य शरीर को अति पवित्र बनाती है। और इसका पानी अमृत तुल्य है जिस के पान करने से तीरवासी जनों का आरोग्य बढता है ॥११६॥

एवं सुबोधामृतवर्षणैर्नृणां संप्लावयन्मानसमेदिनीं मुनिः ।
द्वित्राण्यहान्येव स विल्वकानने श्रीकर्णवासाय चचाल चारुवाक् ॥११७॥

इस प्रकार बेलोन में दो तीन दिन तक मधुरभाषी, मुनीन्द्र दयानन्द सुबोधामृत वर्षा से मानवों की मनोमेदिनी को संप्लावित करके कर्णवास की ओर चल दिये ॥११७॥

कर्णवासे कृतावासे पौषमासे जगद्गुरौ ।
ग्रामेभ्यो मनुजग्रामाः सत्सङ्गाय तदागमन् ॥११८॥

कर्णवास में जगद्गुरुने पौष मास में निवास किया। तब चारों ओर के ग्रामों में से सत्सङ्ग के लिये मनुज मण्डलियाँ आया करतीं ॥११८॥

वेदधर्मोपदेशं ते समाकर्ण्य समादधुः ।
शंकां धर्मगतां लीलां दाम्भिकीं च मुदा जहुः ॥११९॥

वे वैदिक धर्म का उपदेश सुनकर धर्म विषयक रही हुई शंकाओं का समाधान प्राप्त कर लेती और आनन्द से पाखण्ड लीला का त्याग करतीं ॥११९॥

अम्बादत्तपराभूत्या व्याकुलोऽपि पुनर्भृशम् ।
पौराणिकदलाम्भोधिः संक्षुब्धः खण्डनानिलः ॥१२०॥

पण्डित अम्बादत्त के पराजय के कारण पूर्व से ही व्याकुल हुआ पौराणिक सम्प्रदाय-सागर खण्डनरूपी आन्धी से अतीव क्षुभित हो गया ॥१२०॥

द्रुतं तदाऽऽनूपपुरं प्रगम्य ते श्रुतिस्मृतिव्याकरणेषु शिक्षितम् ।
प्रसिद्धकीर्त्तिं दृढमूर्त्तिपूजकं समानयन्त्सादरमन्तिकं मुनेः ॥१२१॥

तब पौराणिक लोग शीघ्र अनूपपुर (शहर) जाकर श्रुति, स्मृति और व्याकरणमें निष्णात, विख्यात कीर्तिवाले कट्टर मूर्तिपूजक 'हीरावल्लभ' नामक पण्डित को आदर पूर्वक बुला लाये और स्वामीजी के सामने उनको उपस्थित किया ॥१२१॥

अतिविद्याभिमानी स हीरावल्लभपण्डितः ।
मूर्त्तो दर्प इवास्थान्यामुपस्थाय प्रगल्भवाक् ॥१२२॥
देवमूर्त्तीर्निजाः पूज्या भद्रासनगता मुदा ।
प्रतिष्ठाप्य पुरोऽवादीदिति तारं प्रतिज्ञया ॥१२३॥

वह पण्डित बड़ा अभिमानी था । साक्षात् दर्प का स्वरूप था । सभामें उपस्थित होकर उसने आनन्द से सिंहासन पर अपनी पूजनीय देवमूर्तियों को प्रतिष्ठापित करके सभा समक्ष उच्च स्वर से प्रतिज्ञा की ॥१२२-१२३॥

"शृणुतेदं सभास्तारा वचनं मे समाहिताः ।
अमूभ्यो देवमूर्त्तिभ्यो दयानन्दस्य पाणिना ॥१२४॥
नैवेद्यं दर्शयित्वैवोत्थास्यामीतः सभागृहात् ।
आवयोः शूयतां वादो भवद्भिः शान्तमानसैः" ॥१२५॥

हे सभ्यमहानुभाव ! सावधान होकर आप मेरे वचन को सुनिये—"मैं दयानन्द के हाथ से इन देवमूर्तियों को नैवेद्य दिखलाकर ही शास्त्रार्थ सभास्थलसे उठूँगा । आप शान्त चित्त से हमारा शास्त्रार्थ सुनिये ।" ॥१२४-१२५॥

वादिदिग्गजयोर्वादः प्रावर्त्तिष्ट दिनानि षट् ।
द्विसहस्रजनेष्वेष न्यायेन नियमेन च ॥१२६॥

छः दिन तक दो हजार जनों के बीच इन वादी दिग्गजों का शास्त्रार्थ न्याय और नियम पूर्वक चला ॥१२६॥

देववाण्यामविरतं शास्त्रार्थस्समभूदहो ! ! ।
हीरावल्लभसाहाय्यं व्यधुरन्येऽपि पण्डिताः ॥१२७॥

अहा ! यहशास्त्रार्थ निरंतर देववाणीमे हो रहा था; इतर पण्डित भी हीरावल्लभ की सहायता करते रहते थे ॥ १२७ ॥

केषामाकृतयो धीमन् ! देवानां मूर्त्तयो मुने ।
केऽमी ब्रह्माच्युतेशानाः स्रष्टृपालकनाशकाः ॥१२८॥

देवतालक्षणं किन्नु घटतेऽमूषु मूर्त्तिषु ।
निरुक्तिं ब्रूहि देवस्य निरुक्ताचार्यसम्मताम् ॥१२९॥

दानाद्वा दीपनाद्वायं द्योतनाद्दिविषस्त्वतः ।
लक्षणं प्रतिमास्वासु युज्यते किं जडार्चक ? ॥१३०॥

स्वा०—हे विद्वान् ! ये किनकी आकृतियाँ हैं ? ही०—मुनिवर्य ये देवोंकी मूर्तियाँ हैं । स्वा०—ये कौनसे देव ? ही०—ये ब्रह्मा, विष्णु, महेश । सृष्टिके कर्ता, धर्ता और सहर्ता । स्वा०—क्या इन मूर्तियों में देवता का लक्षण घटता है ? यास्काचार्य सम्मत देवपद का निर्वचन कीजिये । ही०—"देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थाने भवतीति वा" । स्वा०—हे जडपूजक ! इन प्रतिमाओंमें यह लक्षण घटता है क्या ? १२८–१३० ॥

नद्योतनत्वं न च दीपनत्वं न दानिता नापि दिविश्रितत्वम् ।
त्वदीयदेवप्रतिमासु विद्वँल्लाभः परः केऽर्चनया तदासाम् ॥१३१॥

हे विद्वन् ! आपकी देवमूर्तियोंमें न दानशीलता, न दीपनता, न प्रकाशकत्व और नहीं द्युस्थानाश्रयत्व प्रतीत होता है तो इनकी अर्चनासे क्या लाभ ? ॥१३१॥

जडार्चनाया जडता फलं परं बुधार्चनाया बुधता फलं परम् ।
धुरन्धरेणैव विचिन्त्यतां त्वया बुधेन्द्रताऽलम्भि कुतो नु तत्त्वतः ॥१३२॥

जडपूजाका केवल जडता ही फल है और विद्वद् पूजाका विद्वत्तारूप उत्तम फल है । आपही यथार्थरूप से सोचिये कि आपने यह बुधेन्द्रता कहाँ से प्राप्त की ! ॥१३२॥

आनन्दकन्दपरमेश्वरलाभहेतो-
स्त्वं मूर्त्तिपूजनमये ! कुरुषे यदीदम् ।
मुक्तिञ्च वाञ्छसि भवोदितदुःखचक्रान्
मन्यस्व वेदमतमेव सनातनं तत् ॥१३३॥

हे मतिमन् ! आप यदि आनन्द स्वरूप परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये मूर्तिपूजा करते हैं तो यह वृथा है । यदि आप सांसारिक दुःख चक्रसे छुटकारा चाहते हैं तो सनातन वेद मतको ही मानिये ॥१३३॥

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
अत्येति मृत्युं तमयं विदित्वा नान्योऽस्ति पन्था अयनाय तस्मात्" ॥१३४॥

परमेश्वर प्राप्ति और मुक्तिके लिये वेद मन्त्रका यह प्रमाण है – "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्"—इत्यादि । इसका भाव यह है कि अज्ञात अंधकारसे रहित, सूर्यसम प्रकाशक उस महान् पुरुष परमात्मा को यथार्थरूप से जानकर ही उपासक योगी मृत्यु से तर जाता है और प्रभु को प्राप्त करता है । परमात्म ज्ञान सिवाय मुक्तिका दूसरा मार्ग नहीं है ॥१३४॥

'ज्ञानादृते नैव मनुष्य मुक्तिः' शास्त्राणि चैवं हि समामनन्ति ।
ज्ञानं विना कर्म च नैव लभ्यं सत्यं ततो ज्ञानमुपार्जनीयम् ॥१३५॥

"ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" ज्ञान के सिवाय मनुष्य की मुक्ति नहीं है । सारे शास्त्र निश्चय से यही प्रतिपादन करते है । विना कर्म के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता अतः यथार्थ ज्ञान उपार्जन करना चाहिये ॥१३५॥

जीवेश्वरप्रकृतितत्वरूपं भिन्नस्वरूपं त्रयमेव वेद्यम् ।
यथार्थबोधे सति सत्यभक्ति र्भक्त्या ह्युपास्तिः सुकरेश्वरस्य ॥१३६॥

मनुष्य को जीवात्मा, परमात्मा तथा प्रकृति इन तीनों का भिन्न स्वरूप तत्त्वरूप से जानना चाहिये ! यथार्थ बोध होने पर ही सत्यभक्ति अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न होती है क्योंकि सच्ची भक्ति से ही ईश्वर की उपासना सरलता से हो सकती है ॥१३६॥

अष्टांगयोगाचरणेन चित्तं समाहितं निर्विषयं विधाय ।
आत्मा परब्रह्मसुयोगमाप्य प्रकृष्टमानन्दमथोपभुङ्क्ते ॥१३७॥

अनन्तर जीवात्मा अष्टाङ्गयोगानुष्ठान से चित्त को विषय विमुख एवं एकाग्र बनाकर परब्रह्म के साक्षात्कार को पाकर उत्तम आनद का उपभोग करता है ॥१३७॥

वेदेषु शास्त्रेष्वपि मूर्त्ततेयं विष्णो र्विधातु र्न मनागवर्णि ।
अमूर्त्ततायां पुनरस्य पूजा वन्ध्यासुतोद्वाह इवास्ति मिथ्या ॥१३८॥

वेदों और शास्त्रोंमें भी विष्णु भगवान् की मूर्तिमत्ता का जराभी वर्णन नहीं मिलता । फिर प्रभु की मूर्ति न बन सकने के कारण कपोल कल्पित मूर्तिपूजा वन्ध्या पुत्र के विवाह के समान मिथ्या है ॥१३८॥

सर्वादीनीतिसूत्रेऽपि वादं व्यधित पण्डितः ।
महाभाष्यप्रमाणानि श्रुत्वर्षेः स्तब्धवागभूत् ॥१३९॥

ऋषि के इस प्रकार प्रबल मूर्तिपूजा का खंडन करने पर हीरालाल पण्डितने "सर्वादीनि-सर्वनामानि" इस सूत्रपर शास्त्रार्थ किया । ऋषि के महाभाष्य विषयक प्रमाण सुनकर वह तो स्तब्ध ही हो गया ॥१३९॥

श्रुतितर्कनखप्रहारतो निगृहीतो गजराडिवाभितः ।
यतिपञ्चनखेन पण्डितो नमिताङ्गः स्थितवान् मदोज्झितः ॥१४०॥

यतिसम्राट्रूपी मृगराज के श्रुति और तर्करूपी नखों के प्रहारों से सर्वथा निगृहीत हुआ, गजराज सा पण्डित हीरावल्लभ मद को त्याग कर नम्र बन कर के खडा हो गया ॥१४०॥

परमहंसवियन्मणिनिर्गतै निगमवाक्किरणै द्विजशालिनः ।
विबुधचन्द्रमसो मतिसुप्रभाः सुविमला जनतासु चकाशिरे ॥१४१॥

परमहँस दयानन्दरूपी प्रभाकर से निकली हुई, वैदिक वाणीरूपी किरणों से सुशोभित हुए, द्विजरूपी नक्षत्रों से वेष्टित, पण्डित हीरावल्लभरूपी चन्द्र की अति विमल बुद्धिरूपी सुप्रभा जनतामें चमकने लगी ॥१४१॥

योगीन्द्रेण पराजितः सहृदयः सत्यप्रियः पण्डितो-
हीरावल्लभआत्मनैव समितौ प्रावोचदेवं जनान् ।
सभ्यास्सत्यमहं जितोऽस्मि यतिना वेदोक्तिसद्युक्तिभिः
सत्यालोकमवाप्य मे विकसितं प्रज्ञाम्बुजं हंसतः ॥१४२॥

योगीन्द्र ने जब हीरावल्लभ पण्डित को मूर्तिपूजा के शास्त्रार्थ में पराजित किया; तब उस सत्यप्रिय सहृदय पण्डित प्रवरने स्वयं ही सभामें सभ्यों को सम्बोधन करके कहा कि-"हे भद्र पुरुषो ! सचमुच ! मुझे पूज्य यतिराज ने वेदों के प्रमाणों एवं उत्तम युक्तियों से जीत लिया। परमहँसरूपी सूर्य से सत्यका प्रकाश पाकर आज मेरा बुद्धिरूप कमल विकसित हो गया ॥१४२॥

शास्त्रानुशीलनमपारमगाधविद्या-
सिन्धोरमुष्य कथनं सकलं हि सत्यम् ।
प्रामाणिकञ्च निगमागमसम्मतं तद्
धन्या ममाजनि जनिर्यतिवादसंगात् ॥१४३॥

इन अगाध विद्यासागर का शास्त्रानुशीलन अपार है । निश्चय से इनका सारा कथन निगमागम सम्मत, प्रामाणिक एवं सत्य है । यतिराज के साथ वाद करने से आज मेरा जन्म सफल हो गया ॥१४३॥

दर्पो मयाऽद्यविजितः फलिता सुविद्या
ह्यानवद्यगुणमण्डनताऽप्यवापि ।
ध्वान्तंनितान्तमपयातमहो ! हृदन्तान्
मन्येऽभिषङ्ग इह मे सुफलान्यसूत ॥१४४॥

आज मैंने अहङ्कार को जीत लिया, मेरी विद्या सफल हो गई, मनोहर एवं निर्दोष गुणरूपी रत्न मैंने प्राप्त किये; मेरे हृदय से अज्ञान अन्धकार नितान्त नष्ट हुआ । अहा ! ! आज मेरे पराजय ने यहाँ उत्तम फल उत्पन्न किये ॥१४४॥

इत्थंनिगद्य जनतां स नतोत्तमांगो-
लोकाभिनन्दितगुणो गुणिनां वरेण्यः ।
योगीन्द्रपादकमलं शिरसाऽभिवन्द्य
वादे क्षमामिममयाचत धृष्टतायाः ॥१४५॥

[यह देखकर जनता ने इसके गुणों की प्रशसा की] इस प्रकार जनता को निवेदन कर वह गुणी, श्रेष्ठ, विनयशील, पण्डित योगीन्द्र के पदारविन्द को बन्दन करके शास्त्रार्थ प्रसगमें हुई धृष्टता की ऋषिवर से क्षमा मांगने लगा ॥१४५॥

न्यायप्रियत्वमवलोक्य स लोकवन्द्यो-
हीरावल्लभबुधस्य सगद्गदोऽभूत् ।
स्नेहेन मुक्तगलतः प्रशशंस तीव्रं
सत्यप्रिया हि बिबुधा विरला इहेति ॥१४६॥

विश्ववन्द्य दयानन्द हीरावल्लभ पण्डित की न्यायप्रियता को देखकर गद्गद् हो गये और मुक्त कण्ठ से उन्होंने स्नेहभरी वाणी में प्रशसा की कि-"इस संसारमें ऐसे सत्यप्रिय विद्वान् विरले ही होते है" ॥१४६॥

सिंहासनात्सकलसुन्दरदेवमूर्त्ती-
रादाय पाणियुगलेन प्रसन्नचेताः ।
पश्यत्सु सभ्यनिवहेषु सविस्मयं स
चिक्षेप ता अमरशैवलिनीतरङ्गे ॥१४७॥

आश्चर्य पूर्वक सभ्यगण के देखते २ उस पण्डित प्रवर ने प्रसन्न मन से सिंहासनस्थ सकल सुन्दर देवमूर्तियों को हस्तयुगल में लेकर गगा के तरंग में प्रवाहित कर दिया ॥१४७॥

निष्पक्षाणां वदनकमलं साधुवादं ददानं
हर्षोद्गारैर्विकसितमभूदेकतोऽस्मै सभाब्धौ ।
अन्यत्रासीद्धृदयकुमुदं मुद्रितं मूर्त्तिभाजां
शोकोद्वेगैरहह ! धिषणाधिक्कृताः शोचनीयाः ॥१४८॥

सभा सागर में एक ओर धन्यवाद देते हुए निष्पक्ष सभ्यों के मुख कमल, हर्षोद्गार से विकसित हो गये; दूसरी ओर मूर्तिपूजकों के हृदय कुमुद शोकावेग से मुर्झा गये । अहह ! ! बुद्धिसे तिरस्कृत जन शोचनीय दशा को प्राप्त हुए ॥१४८॥

मूर्त्तीनां वृन्दवृन्दं सुरसरिदमृतं मुक्तिदं प्राप्य मुक्तं
श्रद्धा तत्पूजकानामनुपमगगनाकारतामाप्य लीना ।
सावित्रीमन्त्रघोषो बधिरितमतनोद् व्योमगंगाश्च लोकान् ।
योगेन ब्रह्मचिन्तां वितनुत विबुधा इत्यजस्रंगृणन्तः ॥१४९॥

मूर्तियों के झुंड के झुंड, मुक्तिदायक सुरसरिता के अमृत को पाकर मुक्त हो गये। मूर्तिपूजकों की श्रद्धा अनुपमगगनाकारता को प्राप्त होकर शून्यता में लीन हो गई (नष्ट हो गई)। उस समय भक्त जनों से उच्चारित गायत्रीमन्त्र का घोष—'हे विद्वानों ! योग द्वारा ब्रह्म चिन्तन कीजिये" इस प्रकार निरन्तर गरजता हुआ गगनाङ्गण और गगा को गुंजित करने लगा ॥१४९॥

॥ इति १४ सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सच्चित्रे दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये परमहंसस्यादूभुतशास्त्रार्थेन गंगायां मूर्त्तिविसर्जनोनाम चतुर्दशः सर्गः ।

पञ्चदशः सर्गः ।

गङ्गातरङ्गजलशीतलगन्धवाहं
मन्दारचम्पकसुमोत्तमगन्धवाहम् ।
एकान्तशान्ततरकान्तवनं प्रगम्य
प्रातर्विधिं परिसमाप्य सदाऽऽत्मतृप्तः ॥१॥ [युग्मम्]

आनन्दधामनि चिदात्मनि सत्स्वरूपे
देवे निरुद्धसकलेन्द्रियचित्तवृत्तिम् ।
आत्मानमात्मसुखदायिनि शुद्धबुद्धे
शुक्ले नियुज्य सुखमास्त स दिव्यधामा ॥२॥

मन्दार=पारिजातक, चपक आदि पुष्पोंकी गन्ध से सुगन्धित, गगा के तरङ्गजलके सङ्ग से शीतल, मन्द पवनवाले अति शान्त, एकान्त कान्त वनमें दिव्य तेजधारी, आत्मतृप्त, योगी दयानन्द सदा जाया करते; और शौचादि क्रिया से निवृत्त होकर सच्चिदानन्द स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, परब्रह्म, परमात्मामें आत्मा को लगाकर ब्रह्मानन्द को लूटते हुए पद्मासन से बैठते ॥१-२॥

सूर्योदयेऽखिलविहङ्गरवच्छलेन
विश्वम्भरां प्रभुगुणान् प्रमुदाऽऽलपन्तीम् ।
प्रोत्फुल्लपुष्पपुलकामवलोक्य योगी
सन्ध्यां समाप्य निजमासनमाजगाम ॥३॥

एक दिन सूर्य के उदय होने पर विविध विहङ्गो के कलरव के मिष से आनन्दपूर्वक प्रभुगुणगान करती हुई, विश्वम्भरा वसुन्धरा को देखकर, योगी उपासना को समाप्त कर, अपने आसन पर आये ॥३॥

सत्सङ्गमामृतरसग्रहणोत्सुकां तां
सन्मण्डलीं शुभहृदा स्वभिनन्द्य देवः ।
मन्त्राशयै र्विबुधमण्डलमण्डनोऽयं
प्रेम्णा नुनाव विमलेन तदैवमिन्द्रम् ॥४॥

वहाँ सत्संगामृत रसग्रहण के लिये सज्जन मण्डली उत्कठित होकर प्रतीक्षा कर रही थी । विबुध मण्डल के अलङ्कार स्वरूप इस दयानन्द देव ने शुभवाणी से उन का अभिनन्दन किया और विमल भक्ति भाव से वेदमन्त्रों द्वारा इन्द्र देव की इस प्रकार स्तुति प्रार्थना की ॥४॥

देवाधिदेव ? करुणामय ? दीनबन्धो ?
सृष्टिस्थितिप्रलयकारण ? सौख्यसिन्धो ? ।
जीवात्मने विविधकर्मफलप्रदाता
पाता त्वमेव जगतां प्रकृतीश्वरोऽसि ॥५॥

मेधां प्रदेहि भगवन् ? निगमावगन्त्रीं
बुद्धिञ्च निर्मलगुणां शुभमार्गनेत्रीम् ।
शक्तिं शरीरमनसो द्युतिधारयित्रीं
भक्तिं भवद्विषयिणीं भवभीतिभेत्रीम् ॥६॥

हे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के करने हारे, सुख के सागर, दयामय, दीनबन्धु, देवाधिदेव ! आप ही जीवों को कर्मफल प्रदान करते हैं, आपही चराचर जगत् के स्वामी हैं, आपही हमारे रक्षक पिता हैं; इसलिये हे भगवन् ! हमें वेदशास्त्र को जाननेहारी मेधा प्रदान कीजिये और हमें ऐसी निर्मल बुद्धि प्रदान करें कि जो कल्याण मार्ग की ओर ले जाने वाली हो । हे शक्तिस्वरूप ! हमें शारीरिक और मानसिक बल प्रदान कीजिये जिसके द्वारा हम अपने आत्मिक तेज को धारण कर सदा आपकी भक्ति करते रहें, जिससे हमारे भव बन्धन कट जाँय ॥५-६॥

आनन्दकन्दजननन्दनसच्चिदीशं
भक्त्येति तं समभिवन्द्य स संयमीशः ।
संप्रार्थ्य चात्मनिरतान् निगमोपदेशै-
राप्लावयत् प्रभुसुभक्तिसुरस्रवन्त्याम् ॥७॥

इस प्रकार उस संयमीश्वर ने सर्वात्मना आनन्दकन्द, जननन्दन, सच्चिदानन्दस्वरूप, ईश्वर की उपासना करके स्तुति की । पश्चात् ऋषि ने भक्त मण्डली को वेदोपदेश द्वारा प्रभुभक्ति की गंगा में आप्लावित कर आनन्द मग्न बना दिया ॥७॥

स्वामिस्वरे विभुवरैस्समपूर्यताऽलं
माधुर्यमेव कलकण्ठसुकण्ठजिष्णु ।
श्रीसामगानमतनोदयमेकदोच्चै-
र्भक्ताग्रहेण मधुरं मधुरान्तरङ्गः ॥८॥

परमात्मा ने स्वामीजी के स्वर में अपूर्व माधुर्य भरा था । उनके स्वर माधुर्य ने कोयल के कण्ठ को जीत लिया था । एक बार भक्तों के आग्रह से मधुर-हृदय दयानन्दने उच्च स्वर से मधुर सामगान किया ॥८॥

पीयूषवर्षणमुतात्मनि मोहिनीयं
नादस्य शक्तिरथवा हृदि मोदधारा ।
किंन्विन्द्रियेषु सुखसंचरणं नु चित्रं
संगीतमुग्धहृदयैरिति तर्कितं तैः ॥९॥

"क्या यह आत्मा में अमृत की वर्षा हो रही है ! अथवा यह नाद की मोहिनी शक्ति है ! या हृदयमें आनन्द की धारा बह रही है ! क्या इन्द्रियों में सुख का संचार है !" इस प्रकार स्वामीजी के संगीत से मुग्ध हुए भक्तों ने विविध कल्पनाएँ की ॥९॥

विस्मृत्य देशसमयं यमिगानमुग्धा
सर्वा सभाऽपि रससिन्धुतरंगमग्ना ।
तीर्थस्थली सुरसरित् सुरमन्दिराणि
स्वामिस्वरं मधुरमन्वदन्वमूनि ॥१०॥

संन्यासी के गायन से मुग्ध होकर समग्र सभा, देश काल भूलकर रसमागरमें गोते खाने लगी और तीर्थ स्थली, गगा तथा सारे देवमन्दिर मानों स्वामीजी के स्वरमें स्वर मिलाने लगे ॥१०॥

शालिख्यपत्रलिखितेव सुमूर्छितेव
संगीतरागहृतवृत्तिरियं मुहूर्त्तम् ।
पीयूषसिक्तहृदयेव सभासुखं सा
सुप्तोत्थितेव समशोभत सम्प्रसन्ना ॥११॥

संगीत से भान भूली हुई वह सभा चित्रलिखित सी, मुर्च्छितसी, अमृताभिषिक्त सी, सोकर ऊठी हुई सी, चिरकाल तक प्रसन्न प्रतीत होती थी ॥११॥

येाग्या मनोऽभिलषिता शुभसन्ततिस्सा
पूर्वेव सम्प्रति न संभवतीह किन्नु ? ।
भक्तेन केनचिदयं सुहृदाऽनुयुक्तो–
मुक्तः प्रियम्वद इमां तमुवाच वाचम् ॥१२॥

किसी सहृदय भक्तने इन प्रियंवद मुक्तात्मासे पूछा कि–हे भगवन् । इस समय ससारमें प्राचीन काल जैसी येाग्य, मनचाही, शुभ सन्तति क्यों नहीं उत्पन्न होती ! ऋषिने इस कार उत्तर दिया ॥१२॥

प्रागार्यवर्यगृहिणेा निगमानुकूलं
संस्कारयज्ञमनुकालमतन्वतामी ।
येनात्माजाननसरेाजदलं सदेाजो–
मार्त्तण्डरश्मिभिरलं व्यलसत्सुहासम् ॥१३॥

प्राचीन कालमें आर्यरत्न–गृहस्थ समय २ पर वेदानुकूल सन्तति के सस्कार यज्ञ किया करते थे । जिसके कारण उनके सन्तानों के हास्य–मधुर मुखकमल उत्तम ओजरूपी सूर्य-किरणों से तेजोमय सुहाते थे ॥१३॥

तेजस्विता मुखपतिं सुपतिंवरेव
शौर्यं सुमित्रमिव बाडुजनस्य सेवाम् ।
संस्कारदीपितशरीरजुषां सुतानां
स्वान्तं सदैव वधरे च पितेव धैर्यम् ॥१४॥

सत्कारोज्वल शरीरधारी पुत्रों के मुखरूप पति को पतविरा कुमारी सी तेजस्विता सदा वरती थी; उनके बाहुरूपी जनकी सेवा सुमित्र के समान शौर्य किया करता था और उनके हृदय को पिता के समान धैर्य-सान्त्वना देता था-अर्थात् उनकी सन्तति के मुखमें तेजस्विता, बाहुमें शौर्य और हृदयमें धैर्य सदा विराजमान था ॥१४॥

विद्यातपोविनयशीलगुणाभिरामा-
रामाः पवित्रहृदया गृहराजलक्ष्म्यः ।
तादृग्गुणाश्च गृहमेधिनरा यदासन्
कान्तो तदा समभवत् सुतरत्नमाला ॥१५॥

जिस समयमें विद्या, तप, विनय, शील, एवं सद्गुणों से शोभित, पवित्र हृदयवाली गृहराज्य की लक्ष्मीसी महिलाएं थीं; और इन्हीं गुणों से अलङ्कृत गृहस्थ सज्जन थे । उस समय उत्तम सन्तति उत्पन्न होती थी ॥१५॥

अस्मिन् युगे तु मनुजा मनुजातधर्मं
विस्मृत्य वेदविहिताश्च विहाय दीक्षाः ।
नानेन्द्रियार्थसुखमेव परं विदन्तः
पुण्यं स्वजीवनमये ! ! पशुवन्नयन्ति ॥१६॥

इस युगमें तो मनुसन्तति मानव-धर्म को भूलकर वेद विहित संस्कारों का त्याग करके विषयसुख विलास को ही उत्तम जानती हुई इस पुण्य मानव जीवन को अहह !' पशु समान बिता रही है ॥१६॥

नानाकुरीतिनवरूढि निशाचरीभि-
ध्वान्ताध्वनिश्छलबलेन विनीयमानाः ।
मूढा हिताहितविवेकविधौ कथं भो-
अन्धा इवाद्य न पतन्त्वसुखोदपाने ॥१७॥

अनेक कुरीतियां एवं नई २ रूढियां-निशाचरी के समान इन विषय विलासी, हिताहित विवेक रहित मानवों को अज्ञानाधकार-पूर्ण मार्गमें छलबलसे ले जाती हैं । तो हे भक्तजनो ! ऐसे मनुष्य अन्धे के समान दुःखरूपी कूपमे क्यों न गिरे ? ॥१७॥

एतादृशां गृहजुषां सुविलासभाजा-
मज्ञानकल्पित मतान्तरसंश्रितानाम् ।
दीनाः प्रभाव विकला अति दुर्गतान्ताः
पुत्रा भवन्ति शुनका इव कामलोलाः ॥१८॥

ऐसे अज्ञान जन्य मतमतान्तरों के आश्रय लेने वाले विलासी गृहस्थों के पुत्र, कुत्तों के समान कामी अत एव निस्तेज होकर क्यों न अति दुर्गति को प्राप्त हों ? ॥१८॥

दिव्यप्रभां वदनसूर्यततां ललाटे
वाणीसुधाञ्च मुखचन्द्रमसाभिवृष्टाम् ।
आपीय नेत्रयुगकर्णपुटैर्महर्षेः
शिष्यो बभूव बलदेवगिरिर्महात्मा ॥१९॥

महर्षि के ललाटमें मुख सूर्य की फैली हुई दिव्य प्रभा को, एवं मुखचन्द्रमासे बरसाई हुई वाणी सुधा को नेत्र युग एवं कर्णपुट से पानकर महात्मा बलदेवगिरी शिष्य बन गया ॥१९॥

आख्यानुरूपवपुरस्य महोक्षलीलं
पुष्टं बलेन गिरिवद् गुरुतां दधानम् ।
आसीत् प्रतिष्ठितजनोऽपि स देवतुल्यो-
देवस्वरूपमिति जात्ववदद् व्रतीन्द्रम् ॥२०॥

नाम के समान ही महोक्ष की सी शोभावाला इसका हृष्टपुष्ट बलाढ्य शरीर था ! यह गिरि के समान ऊँचा था । यह गुसांई बडा प्रतिष्ठित था । देवतुल्य इसका स्वभाव था । वह एक दिन देवस्वरूप व्रतीन्द्र दयानन्द से कहने लगा ॥२०॥

श्रीभारताभिजनवन्दितसूकराख्यं
क्षेत्रं वराहवपुरुत्तममन्दिरान्तम् ।
स्वामिंश्चकास्ति सुरनिर्झरिणीप्रतीरे
चक्राङ्कितै र्दशसहस्रजनैः परीतम् ॥२१॥

हे स्वामीजी ! गंगा के किनारे सोरों नामका एक बडा भारी तीर्थ है । सारे भारतवासी वहाँ स्नान करने के लिये आते हैं । वहाँ चक्राकितों का माननीय, सर्वश्रेष्ठ वराह-अवतारी-विष्णु का मन्दिर है । कोई दस सहस्र ब्राह्मण वहाँ एकत्र होते हैं । वहाँ आप चलिये ॥२१॥

चक्राङ्कितद्विजकदुर्मतकूटयंत्रान्
मूर्त्यर्चनाऽवटतलाच्च समुद्धिधीर्षुः ।
मुग्धाण्डजान् करुणया करुणार्द्रचेता-
देवोऽद्य येतु निगमागमचक्रपाणिः ॥२२॥

वेद और शास्त्ररूप सुदर्शन चक्र हाथमें लेकर चक्रांकित ब्राह्मणों के दुर्मतरूपी कूटयन्त्रों से एवं मूर्तिपूजारूपी गंभीर गर्त से भोले भाले मानवरूपी पंखियों के उद्धार करने की इच्छा से आप दयालु भगवान् उस सूकरतीर्थ (सोरों) क्षेत्रमें चलने की कृपा कीजिये ॥२२॥

ओमित्युदीर्य बलदेवगिरिं दयालु-
र्धर्माविबोधनहिताय धृतावतारः ।
तीर्थं जगाम सहसा सहसाधुनाऽसौ
कल्याणकर्मणि सतां हि विलम्बनं नो ॥२३॥

धर्मोपदेशरूपी कल्याण के हेतु अवतार धारण करनेवाले, दयालु दयानन्ददेव बलदेवगिरि को स्वीकृति देकर उस गुसांई के साथ (सोरों) तीर्थमें शीघ्र आगये क्योंकि कल्याण कर्म में सत्पुरुष विलम्ब नहीं किया करते ॥२३॥

अम्बागढाश्रममिमं यमिनं स तस्मान्
नीत्वाऽध्यवासयदलं सुविधानुकूलम्।
वासं निशम्य यतिनोऽत्र समाययुस्त-
त्संदर्शनाय विबुधाबुधमण्डलानि ॥२४॥

गुसांईजी ने स्वामीजी को अम्बागढ के स्थान में ले-जाकर टिकाया। वहाँ उन्होने सब प्रकार की सुविधा कर दी। यतिराज का निवास सुनकर उनके दर्शन के लिये बुध, अबुध जन वहाँ आने लगे ॥२४॥

स्नानार्थमत्र जनताऽगणिता समेता
चैत्रे सुपार्वणतिथौ सुकृतार्जनाय।
नान्यत्र पुष्करपदादित आर्यभूमौ
वाराहमन्दिरमतिप्रथितं विरेजे ॥२५॥

संवत् १९२५ चैत्र पूर्णिमा के पर्व प्रसंग पर स्नान द्वारा पुण्योपार्जन करने के लिये असंख्य जनता यहाँ एकत्रित हुई थी। आर्यभूमिमें पुष्कर तीर्थ से अन्यत्र ऐसा प्रसिद्ध, विशाल, वराह मन्दिर नहीं हैं ॥२५॥

चक्राङ्किनामृतमतं मतिमान् मुनीन्द्र-
स्तीव्रेण तर्कनिकरेण निराकृतायम्।
हेयञ्च भागवतमेवमशुद्धमाख्यत्
तेनेह तन्मतरतै रिपुता वितेने ॥२६॥

मतिमान मुनीन्द्र ने चक्रांकितों के मिथ्या मत का तर्क द्वारा तीव्रता से खण्डन किया और भागवत ग्रन्थ अशुद्ध एवं त्याज्य है—ऐसा प्रतिपादन किया। इस कारण से यहाँ चक्रांकित सम्प्रदाय के लोग उनसे शत्रुता करने लगे ॥२६॥

निस्त्रिंशदण्डधरपाणिभिरात्मभृत्यै-
रेको विराडसिकरो मुनिमाजिघांसुः।
स्वामिस्थलं समुपगम्य समं निषण्ण-
औद्धत्यमाचरदसौ पशुवत्प्रमत्तः ॥२७॥

एक ठाकुर हाथ में तलवार लेकर दण्डधारी नौकरों के साथ मुनिवर को मारने की इच्छा से स्वामीजी के आसन के पास आकर उनसे सटकर बैठ गया और पशु के समान प्रमत्त होकर अविनयाचरण करने लगा ॥२७॥

दुष्टत्वमेव स ततान विबोधितोऽपि
प्रायात्तदान्यमठमेष ततो विरक्तः ।
आच्छिद्य शस्त्रममुतो बलदेवसिंह-
आक्रम्य तान् खलगजान् दलितानकार्षीत् ॥२८॥

स्वामीजी ने उसे समझाया किन्तु वह दुष्टता ही करने लगा तब उससे विरक्त होकर स्वामीजी अन्य मठ में चले गये। यह देखकर बलदेवसिंह ने उससे तलवार छीनकर उसको धर दबाया और सारे दुष्ट रूपी गजों को पीट डाला ॥२८॥

रुष्टो भवेत् किमु गुरुर्मम कर्मणाऽस्मा-
दित्यात्मनैव बलदेवगिरिस्स भीतः।
यावन्मुने निकटमेति स तावदेतं
सौम्यान्नयाशनमिहेति मुदा जगाद ॥२९॥

क्या मेरे गुरुजी मेरे कर्म से रुष्ट होंगे ? इस प्रकार स्वयं ही सोचकर डरते २ बलदेव गिरि ज्योंहि मुनिवर के पास गये; त्योंहि गुरुजी ने-"वत्स ! भोजन यहाँ ले आओ," ऐसा आनंद से कहा ॥२९॥

अन्येद्युरात्मरतिरात्मविनेयवृन्दं
देवेन्द्रपूजनविधिं निगमोदितं तम् ।
उद्दिश्य भक्तिभरितं शिवभक्तमित्थं
भक्ताग्रणीरुपदिदेश स देशिकेन्द्रः ॥३०॥

दूसरे दिन आत्मरति, भक्ताग्रणी, आचार्य दयानन्द ने प्रभुभक्त भक्तिशाली अपने शिष्यवृन्द को वेदोक्त ईश्वरोपासना विषयक इस प्रकार उपदेश दिया ॥३०॥

आनन्दमन्दिरमिवामलभक्तिगंगा-
स्रोतोऽम्बुवृन्दविमलीकृतचन्दिराङ्गम् ।
औङ्कारनादरणितं मतिदीपकान्तं
स्वान्तं प्रविश्य मनुजोविभुमर्चयेत्तम् ॥३१॥

हे भद्रपुरुषो ! अपना हृदय ही आनन्दस्वरूप प्रभु का मन्दिर है। उसे विमल भक्ति गंगाजल से धो डालना चाहिये जिससे वह सारे का सारा पवित्र तथा आह्लादक बन जाय। उसमें मनोहर प्रज्ञारूपी दीपक जला दीजिये और ओंकार का घण्टानाद बजाइये। उसके भीतर विराजमान प्रभुदेव की अर्चना कीजिये ॥३१॥

ब्रह्माण्डगं खमिव कं तमनन्तशक्तिं
युक्तात्मनानुभवनीयमजं महेन्द्रम् ।
आलोक्य योगकलया सलयेन्द्रियेन्द्रं
ब्रह्मात्मसंगतिरसं स हृदोपभुङ्क्ताम् ॥३२॥

वह परमात्मा आकाश के समान ब्रह्माण्ड में व्यापक है। उसकी अनन्त शक्तियाँ सब ओर फैली हुई हैं। वह अजन्मा, महान् इन्द्र, योगयुक्त आत्मा से ही अनुभव करने योग्य है। अतः इन्द्रियगण और इनके स्वामी मन को आत्मा में लीन करके योग कला से परमात्म देव का साक्षात्कार कर उपासक आत्मा और परमात्मा के संगतिजन्य आनन्द को भोगे ॥३२॥

सर्वज्ञमीशममरं बृहदन्तरिक्षात्
सूक्ष्मातिसूक्ष्मपरमाणुमतीत्य वर्त्ति ।
आकारनिर्गतमनन्तमनादि शुक्र
ब्रह्मात्मनैव हृदयस्थमुपासनीयम् ॥३३॥

वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्, अमर ईश्वर आकाश से भी बडा है और परमाणु से भी अति सूक्ष्म है। वह निराकार, अनन्त, अनादि, उज्वल स्वरूप है। उस हृदयस्थ ब्रह्म को आत्मा द्वारा ही उपासना करनी चाहिये ॥३३॥

चक्राङ्किता मुनिमिमं विजिगीषवस्ते
वादाहवे दलबलेन समं समेताः ।
प्रश्नोत्तरैस्त्रिचतुरैश्चतुरैकवाचा
कुण्ठीकृताः कृतरवा निलयं प्रयाताः ॥३४॥

इस मुनिवर को जीतने के लिये चक्रांकित पण्डितगण दलबल के साथ शास्त्रार्थ संग्राम में उपस्थित हुए। चतुर वाचस्पति ने तीन चार प्रश्नोत्तरों से ही उन सब बकवादियों को कुंठित कर दिया। अतः वे चुपचाप स्वस्थान को चले गये ॥३४॥

शैलेन व प्रतिहताः प्रबलेन तुङ्गाः
शान्ता स्सरन्त्यनुपदं जलधे स्तरङ्गाः ।
श्रीवाग्मिना प्रबलतर्कहताः प्रचण्डाः
पौराणिकाः प्रशममेत्य ततो निवृत्ताः ॥३५॥

महासागर के उत्तुग तरंग जैसे प्रबल शैल से टकराकर शान्त होते हुए क्रमशः लौटते हैं ठीक वैसे ही प्रचंड पौराणिक पण्डित वाग्मिवर के प्रबल तर्कों से परास्त हो शान्ति-पूर्वक वहाँ से लौट गये ॥३५॥

स्वां सम्प्रदायतरणिं तरसा ब्रुडन्ती-
मालोच्य दुःखजलधौ मतवादिनोऽमी ।
शास्त्रार्थसंख्यनिपुणाङ्गदशास्त्रिनाग-
मानिन्यिरे यतिहरे निकटे समाजौ ॥३६॥

वे मतवादी लोग अपनी सम्प्रदाय नौका को दुःखसागर में वेग से डूबती हुई देखकर शास्त्रार्थ युद्ध में निपुण अङ्गद नामक शास्त्री गजराज को यतिसिंह के सम्मुख सभा संग्राम में ले आये ॥३६॥

वादाहवेषु विजितान्यबुधोऽद्वितीयो-
वाक्चातुरीचकिततार्किकदिग्गजोऽयम् ।
दण्डीन्द्रतोऽपि विहितागमबोध आर्यो-
वादीन्द्रकेसरिपुरः स्थितवान् प्रसन्नः ॥३७॥

यह अद्वितीय विद्वान था। इस तार्किक दिग्गजने वाद युद्धों में वाक् चातुरी से दूसरे पण्डितों को अनेकवार जीत लिया था इसने दण्डीन्द्र विरजानन्द से व्याकरणशास्त्र पढा था! य प्रसन्न होकर वादीन्द्र केसरी दयानन्द के सामने खडा रहा ॥३७॥

युग्मम्-] **आरब्ध भाषितुमसौ सुरमूर्त्तिपूजा-**
मुद्दिश्य मण्डयितुमेव ततः प्रवृत्तः ।
यावत्क्षणानि कतिचित् सुरवाचि तावत्
तर्केण खण्डयितुमारभतार्यसूर्यः ॥३८॥

यह देव मूर्तिपूजा को लक्ष्य करके देववाणी मे बोलने लगा और ज्योंहि कितनेक क्षणतक मण्डन करने के लिये प्रवृत्त हुआ त्योंहि आर्यसूर्य, तर्क से उसका खण्डन करने लगे ॥३८॥

धाराप्रवाहसरलोत्तमदेववाचा
वाचांपतिः प्रथिततार्किकसार्वभौमः ।
वेदस्मृतिप्रबलवाक्यप्रमाणवारै-
र्लीलाञ्च भागवतकाव्यगतां सुतीव्रम् ॥३९॥

प्रसिद्ध तार्किक सार्वभौम वाचस्पति दयानन्द धारा-प्रवाह सरल ललित देववाणी में वेद और स्मृतियों के प्रबल वाक्य प्रमाणो से मूर्तिपूजा का खण्डन एव भागवत काव्यगत लीला का तीव्रालोचन करने लगे ॥३९॥

ओजस्विनीं कथनपद्धतिमुत्तमां तां
वक्तृत्वशक्तिमतुलां ललिताञ्चवाणीम् ।
तर्कप्रमाणनिचितां प्रतिभाप्रभाञ्च
प्रेक्ष्यैव पण्डितवरोऽस्य विसिस्मियेऽलम् ॥४०॥

इस महर्षि की उस ओजस्विनी कथन शैली को, उस उत्तम वक्तृत्व शक्ति को, उस अनुपम ललित वाणी को एव उस तर्क प्रमाण बहुल प्रतिभा प्रभा सुन और देखकर ही यह पण्डित प्रवर आश्चर्य सागर में डूब गया ॥४०॥

नासीद् दुराग्रहहृदङ्गदरामशास्त्री
तत्स्वीचकार यमिनो मतमागमोक्तम् ।
गंगाम्बुनिव्यसृजदेष च शालिमालां
मालाञ्चभागवतसंकथनं ततोग्रे ॥४१॥

यह बदरिया ग्राम निवासी अङ्गदराम शास्त्री दुराग्रही न था; इस लिये संन्यासी के वेदोक्त मत को उसने स्वीकार कर लिया। इसने शालिग्राम और कण्ठियों को गंगाजल में विसर्जित कर दिया और प्रतिज्ञा की कि भविष्य में भागवत कथा न करूगा ॥४१॥

वादीन्द्रदिग्गजजयाज्जयवैजयन्ती
वाग्मीश्वरस्य विललास दिगम्बरान्ते ।
चन्द्रप्रभेव विमला कमनीयकीर्त्तिः
सौजन्यपुष्पसुरभिश्च तता जवेन ॥४२॥

वादीन्द्र दिग्गज के विजय वाग्मीश्वर की विजय वैजयन्ती दिगन्त में फहराने लगी और उनकी चन्द्रप्रभासी विमल, मनोहर कीर्ति एवं सौजन्य पुष्प सुगन्धि सर्वत्र आकाश में फैल गई ॥४२॥

तस्मात्सहस्रश इमं निगमाग्र्यधर्मं
स्वीकृत्य मानववरैरुपचक्रमे तम् ।
सन्ध्याग्निहोत्रममलेन हृदा विधातुं
श्रेष्ठानुमोदितपथं हि जनाः प्रयन्ति ॥४३॥

इससे हजारों मानव इस श्रेष्ठ वैदिक धर्म को स्वीकार कर निर्मल मन से सन्ध्या और अग्निहोत्र करने लगे। निश्चय से जनता श्रेष्ठ महापुरुषानुमोदित मार्ग पर चलती है ॥४३॥

गोस्वामिवर्यबलदेवगिरिस्तदानी-
मावेशतः स्वप्रतिमा अपि गांगनीरे ।
संत्यज्य वैदिकपथे पदमादधौ स
शिष्यस्समं समधिगम्य यतेः सुदीक्षाम् ॥४४॥

उस समय गोस्वामी बलदेवगिरिजी ने आवेश से अपनी प्रतिभाए गंगाजल मे विसर्जन करदीं और शिष्यो सहित सन्यासिवर्य से दीक्षा ग्रहण कर वैदिक मार्ग में प्रवेश किया ॥४४॥

चक्राङ्कितास्कृनविधौ चतुरस्स रङ्गा-
चार्योऽनुवत्सरमिहैत्य नरांश्च नारीः ।
चक्रङ्किता अकृत सम्प्रति योगीसिंहात्
संत्रस्य कन्दरमिमेन्द्र इवेह नायात् ॥४५॥

वह प्रसिद्ध वृन्दावनवासी रंगाचार्य, प्रतिवर्ष यहां आकर इस प्रसंग पर हजारों नरनारियों को चक्रादि चिन्हों से देह पर चक्रांकित बना लिया करता था। किन्तु इस वर्ष योगी दयानन्द से डर यहां नहीं आया। जैसे गजराज सिंह से डरकर गुफा में नहीं आता ॥४५॥

वाराहमन्दिरगुरुर्नृपवृन्दवन्द्यः
कैलासपर्वत इहावसदेष विद्वान् ।
प्राक्संस्तुतो यतिवरस्य तपःप्रभावै-
विद्यागुणैश्च विजितोऽस्थित तूष्णीमेव ॥४६॥

यहां वाराहमन्दिर का महन्त कैलासपर्वत नाम का राजमान्य विद्वान् रहता था पहिलेसे ही यतिवर दयानन्द से वह परिचित था; अब ऋषि के तप, प्रभाव, विद्या एव सद्गुणों से आकर्षित हुआ चुपचाप ही बैठा था ॥४६॥

मूर्त्तिप्रपूजनविखण्डनकोपितोऽपि
नैवापशब्दमुदचारयदास्यतोऽयम् ।
भिन्ने मतेऽपि हृदये यतिशीलमान-
आसीदमुष्य हृदयं गुणगृह्यमेव ॥४७॥

मूर्तिपूजा के प्रबल खंडन से क्रोधित हुआ भी मुख से यह इनके विषय में अपशब्द नही कहता था । मत विरोध होने पर भी इसके हृदय में दयानन्द के चारित्र्य विषयक सम्मान था। क्योंकि इसका हृदय गुणों का पक्षपाती था ॥४७॥

आसीत्कवि र्बुधवरोऽङ्गद एष शिष्यः
संवृत्य योगिनृपतेरुपदेशमालाम् ।
श्लोकै र्जुगुम्फ ललितै र्जनताहितार्थं
कल्याणिनी खलु सतां सततं प्रवृत्तिः ॥४८॥

अङ्गद बुधेन्द्र कवि था ऋषि का शिष्य बनकर यह योगिराज की उपदेशमाला को लोक कल्याण के लिये श्लोको मे गुफित करता था। सचमुच सज्जनों की प्रवृत्ति सदा कल्याणकारक होती है ॥४८॥

अन्योऽङ्गदो भुवि बृहस्पतिताभिमानी
वादोत्सुको मुनिमणे र्निकटं प्रपेदे ।
शिष्यांगदं वृकमिवाग्रत उग्रवीर्यं
वीक्ष्यैव सत्वरमितः शशवद् द्रुतोऽयम् ॥४९॥

पीलीभीत का निवासी दूसरा अङ्गद, पृथ्वीपर अपने को बृहस्पति मानता था। वह वाद के लिये उत्सुक होकर मुनिरत्न के पास आया किन्तु सामने उग्रवीर्य, वृक (भेडिये) के समान शिष्य अंगद को देखकर ही खरगोश की तरह वहा से सत्वर भाग गया ॥४९॥

संन्यासिचित्सुख इहैत्य स मूर्त्तिपूजा-
सिद्ध्यर्थमुद्धतगिरा प्रजजल्प लोके ।
नायात्परं यतिमृगेन्द्रपुरो विवादं
कर्तुं शृगाल इव दूरत एष तस्थौ ॥५०॥

यहीं पर चिदानन्द नामक नंगा साधु आकार लोगों के सामने उद्धत वाणी से बकता था कि दयानन्द मेरे सामने आवें तो मैं मूर्तिपूजा सिद्ध करके दिखा दूं। किन्तु लोकों के बाधित करने पर भी यति मृगेन्द्र के सामने शास्त्रार्थ के लिये नहीं आता था। शृगाल की तरह दूर दूर ही रहता था ॥५०॥

क्षेत्रात्सरन्तमिममार्यगुरु र्विदित्वा
जग्राह गांगपुलिनेऽनुपदं प्रधाव्य ।
मूर्त्यर्चनाविषयकं वद वेदमन्त्र-
मित्यन्वयुङ्क्त च परं स बभार मौनम् ॥५१॥

आर्यगुरु ने तीर्थ से भागते हुए इस नंगे बाबा को जानकर, पीछे दौड गंगा के तट पर उसे पकडा और पूछा कि मूर्तिपूजा विषयक वेद मन्त्र बोलो, परन्तु उसने मौन ही धारण कर लिया ॥५१॥

भास्वत्प्रतापपुरतो मृगलाञ्छनस्य
सिंहोग्रपाणिपतितस्य यथा मृगस्य ।
रामेषुदर्शनकृतो भृगुनन्दनस्य
यद्वद्दशाऽजनि तथार्यपुरोऽस्य साधोः ॥५२॥

सूर्य तेज के सामने चन्द्र जैसे निस्तेज हो जाता है। सिंह के पंजे में पडा हुआ मृग जैसे घबरा जाता है, रामचन्द्रजी के बाण के लक्ष बने हुए भार्गवमुनि परशुराम जैसे लज्जित हो गये थे वैसे ही दयानन्द के सामने नंगा बाबा निस्तेज, त्रस्त और लज्जित हो गया ॥५२॥

मिथ्यार्गलेन पिहितं वदनाररं ते
नूनं निरर्गलमपि प्रथमं ममाग्रे ।
नाद्य ब्रवीषि यदि सत्यमिहैकहोरा
नीतेत्युदीर्य तमयं न्यवृतद् यतीन्द्रः ॥५३॥

"पहले तेरा मुख कपाट निरर्गल था; अब मेरे सामने तेरा मुह रूपी किवाड मिथ्या अर्गल से बन्द हो गया। यदि सच है तो क्यों बोलता नहीं ? यहां एक घंटा बिता दिया" इस प्रकार यतीन्द्र उसको कहकर लौट आये ॥५३॥

अन्येऽपि भागवतमानिबुधा बुधेन्द्रं
द्रष्टुं गता ऋषिमुखाच्छुभमन्त्रजातम् ।
व्याख्यातमद्भुततयैव निशम्य नित्यं
शान्तभ्रमा अनुगताः परिमुच्य जाड्यम् ॥५४॥

कामगंजवासी पं. सुखानन्द, पं. अयोध्याप्रसाद, तथा पं. चेतराम आदि भागवत को माननेवाले पण्डित, बुधेन्द्र दयानन्द के दर्शन के लिये आते थे। ऋषि के मुख से नित्य वेद मन्त्रों की अद्भुत-व्याख्या सुनकर उनके भ्रम निवृत्त हो जाते। वे लोग पाखण्ड जाल को छोडकर पश्चात् ऋषिभक्त बन गये ॥५४॥

वेदोपदेशकिरणैर्नृमनोगतानि
व्याख्यानगीष्पतिरयं तिरयंस्तमांसि ।
आस्थानमण्डपगतोऽपगतोष्णरश्मी
रेजे सभाप्यमितपद्ममयी प्रफुल्ला ॥५५॥

व्याख्यान बृहस्पति सभा मंडप में सूर्यसमान देदीप्यमान होकर वेदोपदेश किरणों से मानवहृदय स्थित अज्ञान अंधकार को दूर कर देते। उस समय असंख्य सभामुखपद्म खिल जाते थे ॥५५॥

दण्डोपवेशनसुमुद्गरचालनासु
व्यायामखेलनकलासु सुदक्ष एकः ।
स्कन्धे निधाय पृथुलं करशालिदण्ड
जाटोऽभ्यगान्मुनिपदं नृसरो विभिन्दन् ॥५६॥

दंड बैठक, मुदगर चलाना आदि व्यायाम के खेलों में अति चतुर एक जाट स्कंध पर एक बडा गोटा लेकर सभा सरोवर को चीरता हुआ मुनिराज के आसन के पास आया ॥५६॥

स्थित्वाऽमुना निजगदे जगदेकधीरो-
वीरोद्धतेन निकटे विकटेक्षणेन ।
साधो ! विनिन्दसि कथं सुरमूर्तिपूजां
गंगाञ्च मातरमरे ! ! गुरुवन्दनीयाम् ॥५७॥

निकट खडे रहकर इस वीरोद्धत ने जगद्गुरु को विकट दृष्टि से देखकर कहा "अरे बाबा! तू देवमूर्तिपूजा की, और जगन्मात्र वन्दनीय गंगा मैया की क्यों निन्दा करता है!" ॥५७॥

भाषस्व कुत्र मम दण्डमिमं त्वदङ्गे
कुर्यां समाप्तिमधुना तव संप्रहृत्य ।
इत्याकलय्य वचनं कुपितस्य तस्य
सर्वा सभा विचलिताऽभवदेकवारम् ॥५८॥

बोल! किस अंग मे दण्ड प्रहार करके अब तुझको समाप्त कर दूं! उस क्रोधित जाट का यह वचन सुनकर एक बार सारी सभा विचलित हो गई ॥५८॥

मृत्युञ्जयस्य न मनागपि धैर्यभङ्गः
शान्तित्वहानिरपि नाजनि किन्तु शान्त्या ।
गाम्भीर्यसिन्धुरतिनिन्दितचन्द्रकान्ति-
मन्दस्मितं तमवदन्मधुरं मदान्धम् ॥५९॥

मृत्युञ्जय दयानन्द का जरा भी धैर्यभंग एवं शान्तिनाश न हुआ । उनका मुख, चन्द्र कान्ति को लज्जित करता था । गाम्भीर्य के सागर दयानन्द मन्दस्मित करके उस मदान्ध से शान्तिपूर्वक मीठे शब्दों में बोले ॥५९॥

धर्मप्रचारणमिदं यदि भद्र ? मन्तुं
त्वं मन्यसे मम तदाह्यपराधकारि ।
मस्तिष्कमेव तदिदं जडमूर्त्तिपूजा-
निन्दाप्रवर्तकमतः प्रहर त्वमस्मिन् ॥६०॥

हे भद्रपुरुष ! यदि धर्मप्रचार को अपराध मानता है तो ऐसा अपराध करनेवाला यह मेरा मस्तिष्क ही है । वह मुझे जडमूर्तिपूजा की निन्दा करने में प्रवृत्त करता है । अतः तू इसपर प्रहार कर ! ॥६०॥

वाक्यैस्समं स समलोकत लोकवन्द्यो-
निक्षिप्य तन्नयनयो र्नयनप्रभां स्वाम् ।
सौदामनीव पलदीप्तरवा तदासौ
जाटाकृतिः शममवाप यथाम्बुनाग्निः ॥६१॥

इन वाक्यों के साथ विश्ववन्द्य महात्मा ने उस जाट के दोनों नेत्रों में अपनी नेत्र कान्ति डालकर देखा । उसी समय जाट की आकृति, क्षणभर चमक कर गरजने वाली बिजली की तरह शान्त हो गई जैसे जल से अग्नि ॥६१॥

हिंस्रत्वबुद्धिमपहाय स दीनबन्धोः
पादाम्बुजेष्वविरताश्रुजलं विमुञ्चन् ।
मन्तोः क्षमाममुमयाचत नम्रमौलिः
क्षम्यो विमूढमतिरित्यभिधाय योगिन् ? ॥६२॥

हिंसा बुद्धि को त्यागकर वह दीनबन्धु के पदाम्बुज में गिरा और निरन्तर अश्रुधारा बहाता हुआ नम्र मस्तक होकर मुनिवर से अपने अपराध की क्षमा, यह कहकर मांगने लगा कि हे योगिराज ! मुझ मूढ़ बुद्धिवाले को क्षमा प्रदान कीजिये ॥६२॥

नागस्त्वया कृतमये ! ! प्रहरेर्यदित्वं
मां स्यात्तदा किमपि वृत्तमहो ! ! वृथा मा ।
रोदीः प्रदर्शयतु सत्पथमीश्वरस्त्वां
याहीत्युदीर्य तमसान्वयदेव देवः ॥६३॥

अरे भाई ! तूने कोई अपराध नहीं किया है । तूने मुझे मारा होता तो कुछ बात भी थी । वृथा रोओ मत । ईश्वर तुझे सन्मार्ग बतावें तू जा ! ऐसा कहकर ऋषि ने उसे सान्त्वना दी ॥६३॥

दृश्यं विलोक्य यमिनश्च सहिष्णुतां ते
क्षान्तिं च शान्तिमतुलां प्रशशंसुरेवम् ।
तीर्थेऽत्र साधुमणयो बहवो नु दृष्टा-
नेदृक् क्षमी शमिविनिर्भयसाधुरैक्षि ॥६४॥

लोक यह दृश्य देखकर संयमीश्वर की सहिष्णुता एवं अनुपम शान्ति की प्रशसा करने लगे और आपसमें कहने लगे कि इस तीर्थ में हमने बहुत से साधु रत्न देखें किन्तु ऐसा क्षमावान्, शान्तशील, निर्भय साधु कभी नही देखा था ॥६४॥

मूर्त्तिप्रपूजकदलं कुपितं खलं द्राक्
प्राणान्मुनेस्तदपहर्तुमनो रजन्याम् ।
साध्वन्तरं यतिवरं ह्यवगम्य गंगा-
नीरे निमग्नमकरोन्ननु वञ्चितं तत् ॥६५॥

दुष्ट मूर्तिपूजक दल अति रुष्ट हो गया और मुनीन्द्र के प्राणहरण करने के लिये उसने संकल्प किया । एक रात को किसी दूसरे साधु को यति दयानन्द जानकर गगाजल में डुबा दिया । सचमुच ! वंचक दल स्वयं वंचित हो गया ॥६५॥

गंगाप्लवोत्सवविभूषितकर्णवासं
भूयः प्रयाय निजपूर्वकुटीमवात्सीत् ।
देवोऽवबोधयितुमागमधर्मतत्त्वं
रूढीश्च खण्डयितुमारभतार्यहेयाः ॥६६॥

ज्येष्ठ शुक्ला दशमी सवत् १९२५ को कर्णवासमें गगास्नान का बडा भारी मेला लगता है । इस लिये महर्षि पुनः वहाँ जाकर, अपनी पूर्व कुटी में ही रहे । वहाँ वे वैदिक धर्म का तत्त्व लोगों को समझाने लगे एवं आर्यों को त्यागने योग्य रूढियों का खडन करने लगे ॥६६॥

आकर्ण्य विश्वगुरुमागतमात्मतीर्थं
भक्ताः प्रसन्नहृदयाउपतस्थिरे तम् ।
शुश्रूषितुं सकलमंगलमूलधर्म-
प्राणं परोपकरणे प्रवितीर्णचित्तम् ॥६७॥

मंगलमूल, धर्म के प्राण, परोपकार परायण, जगद्गुरु दयानन्द को अपने तीर्थस्थान में आए हुए सुनकर उनकी शुश्रूषा करने के लिये भक्तजन प्रसन्नता से उपस्थित हो गये ॥६७॥

तत्रैव तेषु दिवसेष्ववसन्महीभुक्
चक्राङ्कितेश्वर विनेयतया प्रसिद्धः ।
गंगाम्बुमज्जनमहार्थमुपस्थितोऽसौ
श्रीकर्णसिंह ऋषिवासमनाग् विदूरे ॥६८॥

वहीं उन्हीं दिनों में वृंदावनीय रंगाचारी का प्रसिद्ध शिष्य राव कर्णसिंह ठाकुर गंगास्नान महोत्सव के लिये आया हुआ था । वह ऋषिनिवास के समीप जरा दूर ही रहता था ॥६८॥

नित्यं बभूव भवने निशि रासलीला
श्रीरंगचारिगुरुशिष्यवरस्य तस्य ।
सन्यासिनो बुधजना अपि तत्र जग्मु-
स्तां वीक्षितुं रसमयीं रसिकाभिनेयाम् ॥६९॥

उस चक्रांकित आचार्य के शिष्य के भवन में रात्री को सदा रासलीला हुआ करती थी। रसिक पात्रों से खेली जाती हुई उस रसमयी रासलीला को देखने के लिये वहाँ पंडित लोग और संन्यासी महानुभाव भी जाया करते थे ॥६९॥

आयन्निमन्त्रयितुमस्य जना महर्षिं
नेदृग् विनिन्द्यतरकर्मणि सम्मिलामि ।
स्वीयार्च्यपुण्यपुरुषस्य विधाय वेषं
रंगेषु नर्त्तयथ तं ह्यतिगर्ह्यवृत्तम् ॥७०॥
लज्जास्पदञ्च तदिदं स्मृति भिर्निषेद्धं
सत्पूरुषैस्तु न कदापि निरीक्षणीयम् ।
इत्याद्युदीर्य मनुजान्मनुजार्चनीयः
प्रास्थापय न्मुनिवचश्च तमभ्यधुस्ते ॥७१॥

(उस) कर्णसिंह के नौकर महर्षि को निमत्रण देने आये। महर्षिः-मैं ऐसे निंद्यतर कर्म में सम्मिलित नहीं होता । तुम अपने पूज्य-पुण्यपुरुषों के वेष धारण कर उनको रंगभूमि में नचाते हो । यह अति गर्हणीय एवं लज्जास्पद बात है । स्मृतियों ने इसका निषेध किया है; सत्पुरुषों को तो कदापि इसे नहीं देखना चाहिये । इस प्रकार लोकमान्य ऋषिने उन मनुष्यों को कहकर विदा किया और नौकरो ने जाकर मुनिका वचन कर्णसिंहसे कहा ॥७०-७१॥

उत्तेजितोऽतिरचनैर्वचनैरमीषा-
मन्येद्युरागमदयं यमिवाससमुग्रः ।
सायं सशस्त्रसुभटैरुपदेशकाले
श्रोता जनश्च वचनामृतपानमग्नः ॥७२॥

उन सेवकों के अतिशयोक्ति भरे वचनों से उत्तेजित हुआ वह कर्णसिंह दूसरे दिन सायंकाल उपदेश के समय शस्त्रधारी सैनिकों सहित महर्षि के निवास स्थलपर आया; उस समय श्रोतागण वचनामृत पान कर रहे थे ॥७२॥

आगम्यतां स्थलमलङ्क्रियतां भवद्भि-
र्भद्रा इति ब्रुवति संयमिसार्वभौमे ।
आसामहै क्नु वयं भवतां यतस्स्याद्
वाञ्छा ततस्तव कटे सुखमास्स्व सौम्य ? ॥७३॥

भद्र पुरुषो ! आइये, आसन को सुशोभित कीजिये (इस प्रकार) संयमीश्वर ने कहा। हम कहाँ बैठें ? कर्णसिंहने पूछा। स्वा०–जहाँ आपकी इच्छा हो। कर्ण०–तेरी चटाई पर बैठेंगे। स्वा०–सौम्य ! सुख से बैठो ! ! ॥७३॥

गर्वोद्धतो यतिकटान्तमसौ निषद्य
स्वामिन् ? कथं मम निमंत्रणतो नु रासे ।
नायाद् भवाननुचितं कृतमेतदेवं
संन्यासिनापि भवता भवतेत्यवादीत् ॥७४॥

वह गर्वोद्धत ठाकुर यतिवर की चटाईपर बैठकर बोला ! 'अरे बाबा ! मेरे निमन्त्रण पर आप रासलीला में क्यों नहीं आये। संन्यासी होते हुए भी आपने यह अनुचित किया ॥७४॥

श्रीमत्पवित्रपुरुषाकृतिवेषभाजो
नृत्यन्ति नीचमनुजा भवतां पुरस्तात् ।
आलोक्य नन्दथ तदा न मनाङ् नु लज्जा
याथात्मपुण्यपुरुषानुकृतिं विनिन्द्याम् ॥७५॥
त्वं क्षत्रियो भवसि चित्रमहेनु कीदृङ्
नो लज्जसे यदवलोक्य पृथग्जनोऽपि ।
पित्रोस्स्वरूपमभिनीय सभासमक्षं
नृत्यन्तमाः ! ! कमपि किन्नु सहेत भृत्यम् ॥७६॥

स्वा०–नीच मनुष्य आपके सामने आपके पवित्र पुरुषों के वेश धारण कर नाचते हैं और आप लोग देखकर प्रसन्न होते हैं ! ! उस समय अपने पूज्य पुरुषों का निन्दनीय अनुकरण देखकर जराभी लज्जित नहीं होते हैं। आश्चर्य है कि तू कैसा क्षत्रिय है ! तुझे लज्जा नहीं आती ? अरे सामान्य जन भी सभा की समक्ष मा बाप के स्वरूप का अनुकरण कर नाचते हुए अपने किसी नौकर को देख सकेगा क्या ? ॥७५–७६॥

देवावतारमतिनिन्दसि चार्यगंगां
त्वं सर्वदेति जनतः श्रुतमस्ति साधो ? ।
निन्दामि नैव परमस्ति यथा यथार्थं
वस्तु प्रवच्मि तदहं हि तथा विशङ्कः ॥७७॥

कर्ण०–अरे बाबा ! मैंने लोगों से सुना है कि तू सदा देवावतार एवं पूज्य गंगा मैय्या की अति निन्दा करता है। स्वा०–मैं निन्दा नहीं करता हूँ, परन्तु जो वस्तु जैसी है वैसी ही मैं निःशंक होकर कहता हूँ ॥७७॥

गंगां तदा न मनुते किमु माननीयां
यन्नामकीर्त्तनविलोकनमज्जनाद्यैः ।
पापं विनश्यति जनस्य च मोक्षलाभो
माहात्म्यमीदृगिति संगदितं मुनीन्द्रैः ॥७८॥

कर्ण०–तब जिसके नाम कीर्तन, दर्शन, स्नानादिसे मनुष्यों का पाप नष्ट होता है और उनको मुक्तिलाभ होता है ऐसा उसका माहात्म्य मुनीन्द्रों ने (कहा है) वर्णन किया है उस माननीय गंगा को आप नहीं मानते ? ॥७८॥

माहात्म्यमेतदखिलं खलु गण्यवृत्तं
श्लोका इमे विरचिता मतवादिलोकैः ।
तर्काच्च वेदवचनाच्च विरूद्धरूपा-
वेदोक्तपुण्यकरणैरघनाशमोक्षौ ॥७९॥

स्वा०–यह सारा माहात्म्य गप्पाष्टक है । "गंगा गंगेति" यह श्लोक पौराणिक पण्डितों ने बनाये हैं । इन श्लोकों के भाव वेद वचन और तर्क से विरुद्ध हैं । पापका नाश और मोक्ष लाभ तो वेदोक्त पुण्यकर्म करने से ही होते हैं ॥७९॥

रेखेव भद्र ? किमियं तव भाति भाले
श्रीरेव मंगलकरी निटिले ममेयम् ।
चाण्डाल एव स तु यो न बिभर्त्ति लक्ष्मीं
कालः कियानतिगतो भजतः श्रीयं ते ॥८०॥

स्वा०–हे भद्र पुरुष ! तेरे ललाटमें यह रेखा सी क्या है ? क०–मेरे भाल में यह मंगलकारिणी श्री ही है । जो इस लक्ष्मी को नहीं धारण करता वह चाण्डाल ही है । स्वा०–भला तुझे इस श्री को धारण करते कितना समय बीता ? ॥८०॥

कालो महानतिगतो भजतो ममैतां
नूनं तदा त्वमभवः समयात्ततः प्राक् ।
चाण्डाल एव वचनेन तवैव सिद्ध-
स्त्वत्पूर्वजा अपि तथा तिलकं विना ते ॥८१॥

कर्ण०–इसे धारण करते हुए बहुत समय बीत गया है । स्वा०–तब उस समयसे पहिले तो सचमुच तू चाण्डाल ही था । यह तेरे वचनसे ही सिद्ध हो गया । तिलक के बिना तेरे वे पूर्वज भी फिर चाण्डाल सिद्ध हो गये ॥८१॥

इत्यन्तिमं मुनिवचः स निशम्य कर्ण-
सिंहः कृपाणमणिमात्मकरेण धृत्वा ।
प्रोवाच वाचमयि ! संवृणु तापसेति
सत्याग्रही किमु बिभेति हि नैजमृत्योः ॥८२॥

इस अन्तिम मुनिवचन को सुनकर कर्णसिंह ने अपने हाथमें तलवार पकडी और स्वामीजी से कहा–'अरे बाबा ! अपनी वाणीको रोक ले। क्या सत्याग्रही पुरुष अपनी मृत्यु से डरता है ? ॥८२॥

तस्यानुयायिषु सुशस्त्रधरेषु काश्चिद्
भक्तान् भयेन विकलानवलोक्य धीरः ।
मा भैष्ट मा कुरुत कामपि मेऽङ्गचिन्तां
सत्यं मयोक्तमिति यन्नु किमप्युवाच ॥८३॥

जब कर्णसिंह के नौकरों ने शस्त्र उठाए; तब ऋषि के कुछ भक्त भयसे व्याकुल बन गये । यह देखकर धैर्यशाली दयानन्दने भक्तों से कहा—सज्जनो ! आप मत डरिये मेरे शरीर की आप चिन्ता न कीजिये । मैंने जो कुछ भी कहा है सत्य कहा है ॥८३॥

कर्णोऽप्यतः कुपितपन्नगवन्नु यष्ट्या
रोषारुणाक्षियुगलोऽरुणवर्णवक्त्रः ।
आस्याम्बरादविरतं कुवचोऽम्बुधारां
प्रारब्ध वर्षितुमसौ सविषां नरेन्द्रे ॥८४॥

कर्ण की आँखें और मुख क्रोध से लाल हो गये । डंडे से उत्तेजित किये हुए सर्पकी तरह वह पुरुष श्रेष्ठ-दयानन्दरूपी विष वैद्य पर मुखरूप गगनसे कुवचनरूपी विष की वर्षा निरन्तर करने लगा ॥८४॥

चर्चां चिकीर्षसि यदि त्वमुपानय स्वं
श्रीरंगचारिगुरुमत्र ममाग्रतो द्राक् ।
जेतुर्मतं तदुररीकरणीयमन्यैः
पक्षैः प्रतिश्रुतमिति त्वयका विलेख्यम् ॥८५॥

स्वा०—यदि तू चर्चा करना चाहता है तो तू शीघ्र मेरे सामने अपने गुरु रंगाचारी को ले आ । 'जो जीते उसका मत अन्य पक्ष स्वीकार करें;' ऐसी लेखबद्ध प्रतिज्ञा तुझे करनी पड़ेगी (ऐसा प्रतिज्ञापत्र तुझे लिखवाना होगा) ॥८५॥

श्रीरंगदेशिकवरेण किमीश्वरस्त्वं
वादं विधातुमयि ? तापस ? तेन साकम् ।
तस्याग्रतोऽसि ननु कीट इवादसीया-
स्त्वादृग्जनाः परिमृजन्ति हि पादुकाश्च ॥८६॥

अरे बाबा ! क्या तू रंगाचारी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये समर्थ है ? उनके आगे तू कीट जैसा है । तेरे जैसे आदमी तो उनके जूते साफ करते हैं ॥८६॥

शास्त्रार्थ एव हि विधास्यति निर्णयं तं
गच्छानय स्वगुरुमाशिवह सज्जितोऽस्मि ।
शस्त्रार्थ मिच्छसि यदि व्रज सत्वरं त्वं
युध्यस्व तै र्जयपुरादिनरेन्द्रवर्गैः ॥८७॥

स्वा०—शास्त्रार्थ ही इसका निर्णय करेगा । तू जा, अपने गुरु को यहां ले आ, मैं तैयार हूँ । और यदि शस्त्रार्थ चाहता है; तो जल्दी जा और जयपुर आदि नरेन्द्रों के साथ युद्ध कर ! ॥८७॥

पद्मासनस्थयमिनीति गिरं ब्रुवाणे
गम्भीरहास्यविमलां विमलान्तरङ्गे ।
अभ्यद्रवद् यतिमसावसिना प्रहर्तुं
क्रोधान्धकर्णवृक उग्रविकम्पितौष्ठः ॥८८॥

पवित्रात्मा पद्मासनस्थ योगीराज ने जब गंभीर हास्य के साथ इस प्रकार की वाणी कही; तब वह कर्णवृक क्रोधान्ध होकर होठों को फडफडाता हुआ यतिराज को तलवार से मारने के लिये दौडा ॥८८॥

रे धूर्त्तराडिति यतिर्हरिवद् विनद्य
प्रोत्थाय तं स्वकरतस्तरसाऽपसार्य ।
आच्छिद्य खड्गमवनीश्रयतश्च भङ्क्त्वा
हस्तौ प्रगृह्य किमये ! ! खलचक्रवर्त्तिन् ? ॥८९॥

अरे धूर्तराज ! ठहर ! ! इस प्रकार सिंह के समान गर्जना कर स्वामीजी उठे और जोरसे अपने हाथों से उसको हटाकर उसकी तलवार छीनकर उन्होंने भूमिके सहारे उसके दो टुकडे कर डाले और उसके दोनों हाथ पकडकर क्यों रे ? दुष्टराज !— ॥८९॥

त्वामाततायिहतकं नु हनानि सद्यः
कौक्षेयकं वपुषि ते नु निवेशयानि !!!
संन्यास्यहं तव दुराचरणैस्तु रुष्टोऽ-
निष्टं करोमि न च दुष्ट ? न चिन्तयामि ॥९०॥

तुझ हत्यारे को मैं अभी मार डालूँ ! तेरे शरीरमें इस तलवार को घुसेड दूँ ! मैं संन्यासी हूँ । अरे ! दुष्ट ! तेरे दुराचरणसे रुष्ट होकर तेरा अनिष्ट नहीं करूँगा । नाही तेरा अहित चिन्तन करूँगा ॥९०॥

याहीश्वरो वितरतात्सुमतिं सदा ते
व्याहृत्य कर्णमिति शान्तिनिधिः सुधीन्द्रः ।
तन्मण्डलाग्रशकलद्वयमास्य दूरे
शान्त्या व्यसर्जयदहो ! ! खलकर्णसिंहम् ॥९१॥

चला, जा ! ! ईश्वर तुझे सदा सुमति दे; ऐसा कहकर शान्तिसागर, सुधीन्द्र दयानन्दने उसकी तलवार के दोनों टुकडे दूर फेंककर दुष्ट कर्णसिंह को शान्ति से विदा किया ॥९१॥

निर्वर्ण्य घोरघटनां घटितां शताद्धं-
श्रद्धालुभि र्निजगदे जगदेकधीरः ।
न्यायालये सकलवृत्तमिदं निवेद्यं
कार्योऽभियोग इति ते विनतैस्सदस्यैः ॥९२॥

पचास एक श्रद्धालु सभ्योंने बनी हुई इस भयङ्कर घटना को देखकर जगदेकवीर ऋषिसे कहा-'महाराज ! न्यायालयमें सारा समाचार निवेदनकर इस पर अभियोग चलाना चाहिये ॥९२॥

स्यात् क्षत्रियोऽपि पतितः स यदि स्वधर्मात्
किं ब्राह्मणेन भवताऽपि मया स्वधर्मः ।
हेयो भयेन मरणस्य सुखैकहेतुः
श्रेयस्करी मृतिरियं हि नृणां स्वधर्मे ॥९३॥

स्वा०-यदि वह क्षत्रिय होकर भी अपने धर्म से पतित हो जाय तो क्या मैं ब्राह्मण होकर भी अपना कल्याणकारी धर्म, मरण के भय से छोड दूँ । निश्चय; मनुष्यों का स्वधर्ममें मरण श्रेयस्कर है ॥९३॥

भद्रा निहन्ति निहतो ननु धर्म एव
संरक्षितोऽथ खलु रक्षति रक्षकं सः ।
हन्तव्य एव न ततो मनुजै स्स्वधर्मो-
मानोऽवधीद् विनिहतो मनुजं स धर्मः ॥९४॥

हे भद्र पुरुषो ! नाश किया हुआ धर्म अपने को ही नष्ट करता है और वही संरक्षित हुआ अपने रक्षक को बचा लेता है; अतः मनुष्य को अपना धर्म न नष्ट करना चाहिये । जिससे नष्ट किया धर्म मनुष्य को न मार डाले ॥९४॥

जाता न हानिरपि मेऽल्पतराऽपि तस्मात्
सन्तोष एव परमो ननु विप्रधर्मः ।
लज्जैव साऽलमियती प्रथितस्य दण्डः
कुर्यान्न कर्म पुनरीदृगयं यदि ज्ञः ॥९५॥

उससे मेरी जरा भी हानि नही हुई है । सचमुच ! ब्राह्मण का परम धर्म सन्तोष ही है । प्रसिद्ध पुरुष की इतनी ही लज्जा उसके लिये पर्याप्त दंड है । यदि वह समझदार होगा तो फिर वह ऐसा कर्म नहीं करेगा ॥९५॥

प्राणापहारसमयेऽपि स शान्तभावः
प्राणापहर्तृपुरुषेष्वपरोषता सा ।
अद्वेषताऽप्यपकृतेऽप्युपकारिताऽस्य
ब्रह्मर्षिकारुणिकवेदविधो हि शीलम् ॥९६॥

प्राणहरण समय में भी ऋषि की वह शान्तिशीलता, घातक पुरुषों पर भी उनकी वह अक्रोधता; अपकार करने वाले पर भी उनकी अद्वेषता तथा उपकारिता, सचमुच !! यह कारुणिक वेदवेत्ता ब्रह्मर्षि का ही आचरण है ॥९६॥

यान्ते गृहं भृशविलज्जितकर्णसिंहे
शान्त्या तयैव सुमनस्कतयोपदेष्टुम् ।
भक्तानुपाक्रमत संयमिचक्रवर्त्ती
वृत्तं न विघ्नकरवृत्तमितीव शान्तः ॥९७॥

संयमि सम्राट–कर्णसिंह के अतिलज्जित होकर घर लौट जाने पर उसी प्रकार की शान्ति और सुमनस्कता से भक्तों को उपदेश देने लगे। मानो कोई विघ्नकारी घटना ही न घटी हो ॥९७॥

गांभीर्यधैर्यशमताक्षमता दयालो–
रालोक्य शीलविभवस्य विनेयवृन्दम् ।
सन्तोषिणोऽस्य हृदि विस्मितमादरोत्थां
श्रद्धां सहस्रगुणितां प्रियताञ्च बभ्रे ॥९८॥

दयालु, शीलधन, संतोषी दयानन्द की गंभीरता, धीरता, शान्ति, क्षमा और निर्भीकता देखकर शिष्यवृन्द के हृदय में विस्मय, आदर और स्नेह उत्पन्न हुआ तथा उनकी ऋषि में सहस्रगुण भक्ति बढ गई ॥९८॥

तस्योत्तमः प्रियतुरङ्गम एव सद्यो–
रोगेण मारकनिभेन ममार तीर्थे ।
पूर्णा बभूव न च प्रावृषि रामलीला
कर्णस्य शूलगदजा च सुदीर्घपीडा ॥९९॥

उस कर्णसिंह का उसी तीर्थ में अति प्यारा उत्तम घोडा मारक रोग से तुरन्त मर गया। वर्षाकाल में रामलीला पूर्ण न हुई और उसको शूल रोग की पीडा चिरकाल तक रही ॥९९॥

एतत्फलं तव महात्मनिपीडनस्य
ज्योतिर्विदेति गदितो निजमन्तुमेषः ।
मिष्टान्नदानसहितं स्वहितं चिकीर्षुः
क्षन्तुं क्षमाम्बुनिधिमार्यतार्यदेवम् ॥१००॥

उसे ज्योतिर्विद ने कहा–किसी महात्मा को पीडा देने का तुझे यह फल मिला। तब उस कर्णसिंह ने क्षमासागर आर्यदेव से अपने अपराध की क्षमा मंगवाई और पुष्कल मिष्टान्न दान भेंट भिजवाकर उनसे अपना हित चाहा ॥१००॥

नागस्कृतं मम किमप्यमुनेत्युदीर्य
मिष्टान्तमस्य यतिना विनिवर्त्तितं तत् ।
सन्तः स्वयंजनहिते पितृवन्निलीना-
बालापराधमिह नो गणयन्ति नूनम् ॥१०१॥

मेरा कुछ भी उसने अपराध नही किया है ऐसा कहकर यतिराज ने मिष्टान्न फलादि भेंट लौटा दी। सत्पुरुष स्वयं पितृतुल्य लोक कल्याण में निमग्न रहते हैं, सचमुच ! ! वे मूर्खों के अपराध को गिनते नही ॥१०१॥

श्रीपूर्णिमाशुभदिने शरदिन्दुरम्ये
गङ्गाप्लवाय पुनरेव स कर्णसिंहः ।
आगम्य कर्णवसतिं रमणीयमेलां
पट्टस्तम्भयुग्मरुचिरालयमध्युवास ॥१०२॥

शरदिन्दु रमणीय पूर्णिमा के शुभदिन गगा स्नान के लिये कर्णसिंह आया। कर्णवास में सुन्दर मेला था। वह वहा बारहदरी वाले सुन्दर भवन में रहा ॥१०२॥

संवीक्ष्य योगिनमुपस्थितमेव कुट्या
वेदप्रतीपमतखण्डनकारिणं तम् ।
निश्शंकतोऽनिशममुष्य पुनः प्रबुद्धा-
दुष्टात्मनोऽतिमलिना हृदि वृत्तयस्ताः ॥१०३॥

उसी कुटी में योगिराज को बसते हुए उसने देखा। निःशङ्कता से निरन्तर मुनिवर वेदविरुद्ध मत का खडन कर रहे थे। यह सुनकर फिर उस दुष्टात्मा की अतिमलिन वृत्ति हृदय में जागृत हुई ॥१०३॥

साफल्यमाप न पुरैष विनिन्द्यकाय
तीव्रं तिरस्कृततया ह्यपमानशल्यम् ।
स्वान्तेऽस्य खातमभवत् प्रतिशोधनाय
तस्य व्यचिन्तयदुपायमयं दुरात्मा ॥१०४॥

पहिले यह दुरात्मा अपने निन्दित कर्म में सफल न हुआ था; प्रत्युत अति तिरस्कृत हुआ था तब से अपमान का शल्य उसके हृदय में गड गया था उसके प्रतिशोध के लिये फिर उपाय सोचने लगा ॥१०४॥

छेदाय योगिशिरसः स विरागिलोका-
नुत्तेजितानकृत दुष्कृतकर्मशीलान् ।
द्रव्यव्ययेन भवतो ननु रक्षितास्मि
प्रोचे परं न चिकला इति मेनिरेऽमी ॥१०५॥

उसने पापकर्म में लीन वैरागी लोगों को स्वामीजी के लिये उत्तेजित किया और कहा–"मैं आपको यदि अभियोग हुआ तो द्रव्यव्यय से बचा लूंगा" किन्तु वे घबरा गये और उन्होंने इसके वचन को स्वीकार न किया ॥१०५॥

श्रीन् सेवकानथ कृपाणकरान् वधाय
देवस्य जातु निशि स प्रजिघाय धूर्तः ।
कुट्यन्तिकं कथमपि प्रययुर्भयेन
नान्तः प्रवेष्टुमभवन्ननु धैर्यमेषाम् ॥१०६॥

पश्चात् एक बार रात में उस धूर्त ने तलवार धारी तीन सेवकों को भगवान् के वध के लिये भेजे। महा कष्ट से वे स्वामीजी के कुटिया तक पहुंचे किन्तु भय के मारे अन्दर प्रवेश करने का उनको साहस न हुआ ॥१०६॥

दन्तावलस्य खलु सन्तु सुदीर्घदन्ता-
स्तीक्ष्णा नखा अपि भवन्तु नु भल्लुकानाम् ।
कण्ठीरवस्य ननु कन्दरमन्दिरान्त-
र्गन्तुं सुसाहसमपेक्ष्यमभुष्य जन्तोः ॥१०७॥

गजराज के भले ही बडे लम्बे चौडे दांत हों। रींछ के भले ही पैने नख हों! किन्तु सिंह की गुफा के अन्दर प्रवेश करने के लिये उस प्राणी को साहस तो चाहिये न! ॥१०७॥

आशाम्बरो धृतिधनोऽस्वपदात्मकुट्यां
नक्तं सुशीतसमयेऽपि ततः सुभक्तैः ।
आच्छादनाय शयितोपरि कम्बलस्य
भक्तो नियुक्त इह कैथलसिंहनामा ॥१०८॥

दिशारूप वस्त्रवाले, धैर्य धनी दयानन्द आधी रात के ठंडे समय में भी बिना वस्त्र के अपनी कुटी में सोते; इस लिये सोये हुए स्वामीजी के उपर कंबल डालने के लिये ऋषि भक्तों ने कैथलसिंह नामक भक्त को नियुक्त किया था ॥१०८॥

याता निवृत्य करवालकरास्सुवीरा-
दुष्कर्णसिंह निकटे विकलान्तरक्षाः ।
नो साहसं भवति नो यतिनो वधार्थं
स्वामिन्निति प्रजगदुर्जगदुत्तमस्य ॥१०९॥

वे सिपाही तलवार हाथ में होते हुए भी व्याकुल हृदय से फिर दुष्ट कर्णसिंह के निकट लौटकरके आये और कहने लगे–"हे प्रभु! उस लोकोत्तर यति के वध के लिये हमारा साहस नहीं होता है ॥१०९॥

संभर्त्सिताः पुनरिमे प्रहिताः परं ते
कुट्यां निधातुमपि नो पदमेव शेकुः ।
त्रिस्तु प्रकामकुपितेन सगालिदानं
संप्रेषिता यतिनमाक्रमितुं भटास्ते ॥११०॥

उसने धमका कर फिर उन सिपाहियों को भेजा; किन्तु कुटी में पैर रखने का उनका साहस ही न हुआ। वे फिर लौट आये। तिसरी बार तो अत्यन्त कुपित होकर उसने नौकरों को खूब गालियां दीं और सन्यासी पर आक्रमण करने के लिये भेजा ॥११०॥

सर्वाङ्गवेपथुजुषो भयसन्नचित्ता-
व्याप्तान्धकारनयना अयने पतन्तः ।
आसेदुरन्तिकमृषीश्वरपर्णकुट्याः
कर्णस्य किंकरभटास्तु कथं कथंचित् ॥१११॥

कर्णसिंह के किंकर कांपते २ भयभीत चित्त होकर चक्कर खाते हुए, मार्ग में गिरते हुए, महाकठिनता से महर्षि के पर्णकुटी के पास आये ॥१११॥

पादाहतिश्रवणतोऽस्य यतेस्समाधे-
र्भङ्गोऽजनीति तरसोत्थित एष भूत्वा ।
हुङ्कारनादमतनीदवनौ पदाभ्यां
प्राहत्य सिंहरवजित्वरमार्यसिंहः ॥११२॥

पैरों की आहट सुनने से सन्यासी के समाधिका भंग हुआ; अतः वेग से उठकर आर्यसिंह ने सिंहनाद को जीतने वाला हुंकार नाद किया और जमीन पर पद प्रहार किया ॥११२॥

आकर्ण्य संयमिभयङ्करहुङ्कृतिं तां
दुष्कर्णकिंकरगणस्स पपात भूम्याम् ।
आपन्नमूर्च्छ इव तस्य कराच्च सद्यः-
श्रीचन्द्रहासनिकरोऽपतदेव भीत्या ॥११३॥

संयमी का भयंकर हुंकार सुनकर दुष्कर्ण के किंकरगण मूर्छा खाकर जमीन पर गिर पडे; और उनके हाथों से डरके मारे तलवारें गिर पडीं ॥११३॥

कालादनन्तरमयं कियतोऽथ संज्ञां
सम्प्राप्य सैनिकचयः परिगृह्य पाणौ ।
स्वं स्वं कृपाणमृषिपर्णकुटीरतो द्राग्
विद्रुत्य नाथशरणं प्रययौ विषण्णः ॥११४॥

कुछ काल के अनन्तर भान में आकर सैनिकों ने अपनी २ तलवारें सम्हालीं; और विषण्ण होकर द्रुतगति से पर्णशाला से भाग अपने प्रभु की शरण में वें जा पहुंचे ॥११४॥

गंभीरगर्जनरवश्रवणेन साधो-
रुन्मीलिते सपदि कैथलसिंहनेत्रे ।
भीतेःऽवदद् गुरुमयं क्वचनान्यगुप्त-
स्थाने प्रगम्य भगवन् ! रजनीं नयेति ॥११५॥

महात्मा की गभीर गर्जना सुनकर कैथलसिंह की आंखें झट खुल गईं; और वह डरता हुआ गुरुदेव से बोला ! 'भगवन् ! कहीं अन्य गुप्त स्थान में जाकर रात बिताइए' ॥११५॥

नात्मानमायुधगणः प्रभुरेव भेत्तुं
नैतं प्रदग्धुमनलः प्रभवेन्नितान्तम् ।
न क्लेदयन्त्यमरमेनमहो ! जलानि
नालञ्च शोषयितुमेनमयं समीरः ॥११६॥

आत्मा को आयुधगण काट नहीं सकते । इसे अग्नि जला नहीं सकता । न इस अमर आत्मा को पानी भीगो सकता है: और नाही पवन इसे सुखा सकता है ॥११६॥

इत्येकपद्यमभिधाय स वज्रकाय-
आश्वासयन्निति विनेयमिमं बभाषे ।
मां कोऽपि नैव मनुजः प्रभवेन्निहन्तुं
तस्यैव शस्त्रनिवहेन तमेव हन्याम् ॥११७॥

इस प्रकार यह एक पद्य बोलकर, वज्रकाय ब्रह्मचारीन्द्र, शिष्य को आश्वासन देते हुए बोले कि-'वत्स मुझे कोई मनुष्य मार ही नहीं सकता; उसी के शस्त्र से मैं उसको मार सकता हूं' ॥११७॥

दुर्गं विशन्ति यतयो गिरिकन्दरं वा
त्राणार्थमात्मन इमे किमु दुर्जनेभ्यः ।
श्रीभक्तवत्सलविभुर्भगवान् सदा नः
संरक्षकोऽस्ति स परं जगदन्तरात्मा ॥११८॥

क्या संन्यासी जन दुर्जनों से डरकर अपनी रक्षा के लिये दुर्ग, गिरि, कन्दरा में जा छिपते हैं ? हमारा सदा वह जगदान्तरात्मा, भक्त वत्सल सर्वशक्तिमान् भगवान् सर्वत्र संरक्षक है ॥११८॥

संत्रस्य किन्तु नगरं द्रुतमेष गत्वा
तत्कालमेव मुनिभक्तजनान् प्रबोध्य ।
संश्राव्य वृत्तमखिलं यमिपर्णशालां
तानानिनाय बहुशस्त्रधरान् धरापान् ॥११९॥

किन्तु वह कैथलसिंह डरकर तत्काल ही शीघ्र नगर की तरफ दौडा, और वहां जाकर उसने ऋषि भक्तों को जगाया और सारा वृत्तान्त सुना दिया । वे क्षत्रिय भक्त हाथ में शस्त्र लेकर ऋषि की पर्णशाला के पास आ पहुचे ॥११९॥

भीरुः स्वयं स इति नैव ममापकुर्या-
दित्युत्तमेन विदुषां बहु बोधितास्ते ।
श्रीकृष्णसिंह मुखबाहुजवीरभक्ता-
दुष्कर्णकेरुगृहमेत्य तमूचुरित्थम् ॥१२०॥

स्वामीजीने श्रीकृष्णसिंहादि वीर क्षत्रिय भक्तों को बहुत समझाया कि वह कर्ण स्वयं भीरु है । वह मेरा क्या बिगाड सकता है ? किन्तु उन भक्तों ने दुष्ट कर्णसिंहरूपी शृगाल के घर के पास जाकर इस प्रकार ललकारा—॥१२०॥

रे क्षत्रियाधम ! ! यदि त्वयि वीर्यवत्ता ! !
संनह्य शस्त्रनिवहैः पुर एहि नस्त्वम् ।
गोमायुवन्नरपशो ? निलये निलीनः
किन्नु स्थितोऽसि बहिरेत्य पराक्रमस्व ॥१२१॥

'हे क्षत्रियाधम ! यदि तुझ में शौर्य है; तो शस्त्रों से सुसज्जित होकर हमारे सामने आजा । अरे नरपशु ! लोमडी की तरह घर में क्यों छिपा बैठा है ? बाहर आकर पराक्रम दिखा' ॥१२१॥

त्वां चूर्णयानि शठकर्णक ? तूर्णमेव
रे लम्बकर्ण ? तव शीर्णमवेहि शीर्षम् ।
दुर्वर्ण ? कर्णवसतेरपयाहि सद्यो-
नो चेत्तवाद्य शरणं मरणं विना नो ॥१२२॥

'हे शठकर्ण ! तुझे शीघ्र चूर्ण कर डालूं । अरे 'लबम्कर्ण' गधे ! तेरा शिर विदीर्ण हुआ ही समझ ! हे क्षत्रिय कुलागार ! इस कर्णवास से इसी क्षण भाग जा । नहीं तो आज मरण विना तेरा कोई शरण नहीं है" ॥१२२॥

भयविकलितचित्तः कर्णसिंहोऽप्यधत्त
स्वकभवनगतानि द्वारजातानि शीघ्रम् ।
श्वसुरवचनबुद्धकुद्धकृष्णप्रतिज्ञो-
निशि शशकनिभोऽयं विद्रुतो वञ्चकेन्द्रः ॥१२३॥

कर्णसिंह ने भय से व्याकुल होकर शीघ्र अपने भवन के सारे दरवाजे बन्द कर लिये । उसके श्वसुर ने जब उसको क्रुद्ध कृष्णसिंह की प्रतिज्ञा सुनाई; तब तो वह वंचकेन्द्रकर्ण रातही रात में (शशांङ्क) खरगोश की तरह भाग निकला ॥१२३॥

गृहगमसमकालं भग्नधैर्यः स रुग्णो-
व्यलपदलमलर्को यद्वदुन्मत्तशीलः ।
अगमदवगतिं स्राक् श्रीप्रयागाभियोगे
प्रतिबलविजितोऽयं सामिलक्षार्थराशौ ॥१२४॥

घर जातेही हतोत्साह होकर वह रोगी हो गया और उन्मत्त पागल कुत्तेकी तरह वह भोंकने लगा । पश्चात् जब वह रोग मुक्त हुआ तब उसका एक प्रयाग का जो अभियोग चल रहा था । उसमें वह हारा । उसीमे उसके पचास हजार रुपये डूब गये । इस प्रकार इसकी अति दुर्गति हुई ॥१२४॥

यो विश्वाभयदानदक्षिणकरः प्रेमामृताम्भोधरः
सत्यज्ञानदिवाकरः करुणया चार्द्रान्तरः शंकरः ।
यत्तेजो निजघातकान्तरतमः सद्यो विलुम्पत्यहो
ब्रह्मानन्दधरः कथं रुचिकरो न स्यान्नृणांसोऽनिशम् ॥१२५॥

जिसका हाथ प्राणीमात्र को अभयदान देनेमें दक्ष था, जो प्रेमामृत का जलधर था, जो सत्यज्ञान का सूर्य था, दयासे जिसका हृदय आर्द्र था, जो मानव मात्र का कल्याण करनेवाला था । अहो !! जिसका तेज अपने हत्यारे के हृदयान्धकार को तत्क्षण नष्ट करता था; ऐसा वह ब्रह्मानन्दधारी आदित्य ब्रह्मचारी क्यों न सदा मानव मात्रको रुचिकर हो ? ॥१२५॥

॥ इति १५ सर्ग ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ
सचित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्मार्के महाकाव्ये महर्षे विलक्षणतेजोबलेन
दुर्जनाहंकारदलनो नाम पञ्चदशः सर्गः ।

॥ षोडशः सर्गः ॥

विशेषकम्] आनन्दपीयूषधरस्समाधौ श्रीधर्ममेघे खलु निर्विकल्पे ।
आनन्दनं ब्रह्म विलोकमानो योगीन्द्र आभात् कमलासनस्थः ॥१॥
अन्नेनपूतेन मनः पवित्रं निर्माय सोऽयं विषयान् निरुद्धम् ।
सर्वत्रगं तद् विमलप्रवृत्ति प्राणैस्समं चक्रदले नियोज्य ॥२॥
प्राणान्मनोभूमिषु मानसं तद् विज्ञानरूपे विनिधाय कोशे ।
विज्ञानमानन्दमये च कोशे ज्योतिः परं स्वात्मनि राजमानम् ॥३॥

आनन्दामृत को धारण करने वाले, पद्मासनस्थ योगीन्द्र, दयानन्द, 'धर्ममेघ' नामक निर्विकल्प, समाधिमें आनन्द स्वरूप, परमज्योति, परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार करते हुए विराज रहे थे। उन्होंने पवित्र सात्विक अन्न से मन को पवित्र बनाकर विषयों से रोक लिया था। विमल प्रवृत्तिवाले, सर्वत्रगामी, उस मन को प्राणों के साथ 'मूलाधार' से लेकर 'भ्रमरगुहा' (ललाट) चक्र तक वे घुमाया करते थे। इसप्रकार उनके अन्नमय, प्राणमय, और मनोमय कोश परम शुद्ध हो गये थे। अतः प्राणों को मनो भूमिमें, मनको विज्ञानमय कोशमें, और विज्ञान को आनन्दमय कोशमें लगाकर सदा हृदय मन्दिरमें विराजमान ब्रह्मज्योति का साक्षात्कार किया करते थे ॥१-२-३॥

युग्मम्] हेमन्तकाले रुचिरेन्दुभाले प्रालेयवर्षिण्यनिलेऽङ्गशूले ।
लेखापगासैकतशीतकूले निर्लेपकौपीनसुचैलशाली ॥४॥
बाह्यार्थजालं परिहाय चालं यस्येन्द्रियालीप्रतिभामराली ।
अन्तःसरोजे परिलीय भेजे शान्तिं स पीड्येत कथन्नु शीतैः ॥५॥

हेमन्त काल था। उसके रुचिर भालमें चन्द्र चमक रहा था। देह को काटनेवाला वायु हिम बरसा रहा था। देव तरंगिणी का बालुकामय शीतल तट था। उस जगह निर्लेप योगी के देहमें केवल एक कौपीन थी। जिसकी इन्द्रियावलि की प्रतिभा ज्ञानरूप मराली (हंसी) बाह्य विषयजाल को नितान्त त्यागकर अन्तःकरण कमल में लीन होकर शान्ति को धारन करती थी उसे शीतोष्णादि द्वन्द्व कैसे सता सकता है ! ॥४-५॥

ग्रीष्मे प्रचण्डांशुमरीचितापा वर्षासु वर्षोपलनीरपाताः ।
प्रालेयकालेषु हिमाम्बुघाता देहेन सोढाः किमु नास्य साधोः ॥६॥

इस साधु शिरोमणी के देहने क्या ग्रीष्म कालमें सूर्य की किरणों के ताप, वर्षामें वर्षा और ओले के प्रहार, तथा हिमकालमें बर्फ नही सहन किये ? ॥६॥

भिक्षां विभिक्षे नहि कश्चिदार्यः प्रायः स भिक्षुः स्वयमेव कश्चित् ।
आदाय दद्याद् रसतोऽपि हीनं यः पूर्वमन्नं तदकृक्त तस्य ॥७॥

यह आर्यभिक्षु प्रायः कभी किसीसे भिक्षा नहीं मांगते थे, जो कोई मनुष्य पहिले स्वयमेव रसहीन अन्न भी जाकर दे दे तो उसे खा लेते ॥७॥

वीतस्पृहस्स्वागमनप्रवृत्तिं प्रस्थानवार्त्तामथवा जनेषु ।
भक्तेष्वनाख्याय स जोपमायात् प्रायाच्च वस्तून्यसमर्प्य वासात् ॥८॥

निःस्पृह स्वामी भक्त जनों को अपने आगमन या प्रस्थान की खबर न देकर चुपचाप आते या जाते थे, निवास से जाते समय वस्तुओं को बिना सौंपे चले जाते ॥८॥

वाग्वाणवर्षिष्वपि मानुषेषु भक्तेष्वपि प्राणसमर्पकेषु ।
साम्यामृतस्यन्दिकृपार्द्रचक्षु र्निष्पक्षभिक्षो र्मनुजै र्निरैक्षि ॥९॥

वाग्वाण बरसानेवाले मनुष्यों पर तथा प्राण समर्पण करनेवाले भक्तो पर इस निष्पक्ष भिक्षु की साम्यामृत बरसाने वाली दयार्द्र दृष्टि लोगोंने देखी ॥९॥

पद्मायते स्मामलभक्तमालापद्माकरे निर्ममतार्द्वितीयः ।
तस्यान्तरङ्गामलदिव्यगंगा न द्वेषरागोर्मिकलङ्किताऽभूत् ॥१०॥

निर्ममतामें अद्वितीय यह योगी निर्मल भक्तमाला रूप पद्माकरमें श्रेष्ठ पद्म समान थे। इनकी हृदयरूप विमल दिव्यगंगा रागद्वेष के तरंगों से कलङ्कित न थी ॥१०॥

गंगाप्रदेशे निगमोपदेशं श्रीदेशिकेन्द्रो विदधान इत्थम् ।
श्रीसूकरक्षेत्रत एव पञ्चक्रोशस्थभूमौ न्यवसद्वरायाम् ॥११॥

गगा प्रदेश में जगद्गुरु इस प्रकार वेदोपदेश करते हुए सोरों तीर्थ से पांच कोस पर आये हुए शाहबाजपुरमें रहे ॥११॥

नारायणान्ता बलदेवमुख्या भक्ता वियोगाकुलमानसास्ते ।
प्राप्य प्रवृत्तिं स्वगुरोरुपान्तं संगन्तुकामा ययुरञ्जसाऽऽर्यम् ॥१२॥

स्वामीजी के भक्त बलदेवगिरि, पं. अयोध्याप्रसाद और नारायण पण्डित उनके वियोग से व्याकुल हो रहे थे। जब अपने गुरुदेव का समाचार उनको विदित हुआ तब शीघ्र ही वे उनके सत्सग की इच्छा से वहाँ आये ॥१२॥

तैरेव दण्डीन्द्रमहागुरोः सा निर्वाणवार्त्ता विनिवेदिताऽस्मै ।
आचार्यदेवाय विनेयवारै र्मर्मान्तपीडाजनिका तदानीम् ॥१३॥

उन्ही भक्तोंने आचार्य देव को दण्डीन्द्र महागुरु विरजानन्दजी की मर्मान्त पीडा जनक निर्वाण वार्ता निवेदन की कि–आश्विन कृष्णा १३ सवत् १९२५ को गुरुदेव दिवगत हो गये ॥१३॥

विद्यागुरोः स्वर्गमनं निशम्य श्रीमद्दयानन्दमुखाम्बुजंतत् ।
म्लानिं बभाराशनिपातदूनं वल्लीप्रसूनं मृदुलं यथेदम् ॥१४॥

विद्यागुरु का स्वर्गमन सुनकर श्रीमद्दयानन्द का मुखकमल वज्रपात से मुरझाये हुए कोमल लता पुष्प के समान म्लान हो गया ॥१४॥

अन्तर्व्यथां तामनुभूय तीव्रां शिष्यानगादीदिति शोकविघ्नः ।
अस्तं गतो व्याकरणांशुमाली सोऽद्यार्षविद्यागमरश्मिशाली ॥१५॥

शोकोद्विग्न दयानन्दने तीव्र अन्तर व्यथा अनुभव करके शिष्यों से कहा कि "हे भद्र-पुरुषों ! आज आर्यभूमि से आर्षविद्या के ज्ञानकिरणों से शोभित व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया" ॥१५॥

देवस्ततः पर्यवधार्यचित्तं धैर्येण धीरो भवभङ्गुरत्वम् ।
भक्तानुपादिक्षदयं प्रलक्ष्य लक्ष्याभिगामी शुभमार्यधर्मम् ॥१६॥

ध्येय की ओर जानेवाले, धैर्य से धीर देव दयानन्दने फिर अपने चित्त को संभाल कर भक्तो को संसार की भंगुरता का कुछ विवेचन करके शुभ आर्य धर्म का उपदेश दिया ॥१६॥

स्वाभाविकस्नेहरसार्द्रचित्तान् सम्बधिनो मित्रजनेष्टलोकान् ।
सम्पत्तिभाजं गृहसौख्यराजं यः संजहन्नाप मनाङ् नु शोकम् ॥१७॥
स्वर्यानमाकर्ण्य गुरो हितस्य चित्तेन्दुबिम्बे गुरुशोकराहोः ।
छायाऽपतन् कञ्चिदहो नुकालं शिष्योपशास्त्रोः खलुदिव्ययोगः ॥१८॥

जो दयानन्द अपने सर्वबंधियों, स्वाभाविक स्नेह रससे सने मित्रों एवं प्रियजनों को तथा सम्पति शालि सुखयुक्त गृह को छोडते हुए जरा भी शोकातुर न हुए थे । उसके चित्तचन्द्र-मण्डल में गुरुका निर्वाण सुनकर अतिशोकरूपी राहु की छाया अहा ! ! किंचित् समय तक रही । सचमुच ! गुरुशिष्य का सबध दिव्य वस्तु है ॥१७-१८॥

धर्मान्धलोकैर्मतवादलीलासंग्रामवीरस्य निकन्दनाय ।
तत्कुटयन्त्रं हि पदे पदेऽस्य प्रायुज्यतेवाजनि किन्तु वन्ध्यम् १९॥

धर्मान्ध लोकोंने मतवाद लीलारूप संग्राममें वीर दयानन्द के निकदन के लिये स्थल स्थल पर षड्यन्त्र रचा था । किन्तु वह निष्फल हुआ ॥१९॥

गप्पाष्टकस्वामिशिरो विभेत्तुं खड्गं प्रदेहीति विरागियुग्मम् ।
ऋषेकभक्तं निजगाद वीर श्छेद्यं शिरो वस्त्विति तौ स उचे ॥२०॥

पौराणिक लोकोंने दयानन्द का गप्पाष्टक स्वामी नाम रक्खा था । एक दिन दो वैरागीने एक ऋषि भक्त के पास आकर "हमको गप्पाष्टक स्वामीका सिर काटने के लिये तलवार दो" ऐसा कहकर तलवार मांगी ! उस वीरने उनसे कहा-'तुम्हारा ही सिर काट लेना चाहिये' ॥२०॥

स क्षत्रियो मस्करिरक्षणाय द्वित्रैर्भटैः शस्त्रधरैः परीतः
कर्मेन्द्रियत्वेन निवारितोऽपि चिन्ताकुलः कृत्स्ननिशामजागः ॥२१॥

उसका नाम गगासिंह था, वह दो तीन शस्त्रधारी सैनिकों के साथ स्वामीजी की रक्षा के लिये आया। संन्यासीरत्नने अपनी रक्षा के लिए उसे मना कर दिया तथापि वह सारी रात चिन्तासे जगता ही रहा ॥२१॥

निन्दन्तिविप्रा यतिमित्युदीक्ष्य वेदान्तिसाधुर्यमिनं महात्मन् ? ।
मूर्त्तिप्रपूजादिकखण्डनेन शत्रून् किमर्थं कुरुषे जनाँस्त्वम् ॥२२॥
त्यागी भवन् व्यर्थमनात्मजाले मग्नोऽसि मादृक्सुखमात्मलीनः ।
संवृत्य निर्लेपतया ह्यशान प्राप्तान्नमानन्दत इत्युवाच ॥२३॥

ब्राह्मणलोग यतिवर दयानन्द की निन्दा करते हैं यह देखकर एक वेदान्ती साधु स्वामीजी से कहने लगा कि–"हे महात्मन् ! आप मूर्तिपूजा आदि के खण्डनसे क्यों व्यर्थ ही मनुष्यों को शत्रु बनाते हैं ? त्यागी होकर अनात्मजालमें डूबते हैं। मेरे जैसे आप निर्लेप होकर आत्मलीनता से सुख भोगीए और आनन्द से प्राप्त अन्नका उपभोग कीजिये ॥२२–२३॥

वेदप्रचारेशनिदेशरक्षाकार्येऽनिशं लोकहितप्रकर्षे ।
आनन्द एवास्ति ममात्रभूयानित्येनमात्मम्भरिमार्य ऊचे ॥२४॥

ऋषिने उस पेटभरु साधु से कहा कि–"मुझे वेदप्रचार, ईश्वराज्ञापालन और लोकहित के कार्यमें सदा विपुल आनन्दही आता है ॥२४॥

तीर्थं ककोडाभिधमेष वेदधर्मोपदेशाय जगाम तस्मात् ।
स्थानात् प्रचारं विदधत्पुरेषु प्राप्तेषु मार्गे जनमंगलार्थी ॥२५॥

शाहबाजपुरसे कादिरगज, नरदौलि आदि नगरों में धर्मप्रचार करते हुए लोककल्याणकारी, आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द वेदधर्म उपदेश के लिये ककोडा नामक तीर्थ पर गये ।।२५॥

भक्ताग्रयायी बलदेववीर इछायेव संन्यासिनमन्वियाय ।
अन्यै र्वदान्यैः सुजनैः समं स स्वाम्येकसेवां विदधे सभाद्यैः ॥२६॥

भक्ताग्रणी वीर बलदेवगिरि–गुसाई छाया की तरह संन्यासी के पीछे २ गए और अन्य दानवीर सज्जनों के साथ स्वामीजी की आसन, भोजन तथा सभा आदि की व्यवस्था करके सेवा करने लगे ॥२६॥

तीप्रचारेण पराप्रसिद्धिं मैलेऽखिलेऽभून्मुनिपुंगवस्य ।
श्रीवैष्णवाः पादरिमौलघोषाः प्रश्नोत्तरं प्राप्य नितान्तशान्ताः ॥२७॥

तर्कांशुजालात् प्रतिवादिभीष्मात् सिद्धान्तसूर्यात् परितस्ततं तम् ।
तर्कातपं सोदुमसक्नुवन्तः सन्तप्य तूष्णीं स्वपदं प्रयाताः ॥२८॥

मुनिपुगव की तीव्र प्रचार के कारण सारे मेलेमें परम प्रसिद्धि हो गई थी। सैकडों वैष्णव आते रहे और शान्त तथा मौन होकर लौट जाते थे। पादरियों और मौलवियोंने भी प्रश्न किये। स्वामीजी का उत्तर पाकर शान्त हो गये। प्रतिवादी भयङ्कर, सिद्धान्त के सूर्य, तर्कांशुजाल को फैलाने वाले दयानन्द के प्रखर प्रताप को वे देर तक सहार न सके और संतप्त होकर चुपचाप अपने स्थान पर लौट गये ॥२७-२८॥

शास्त्रार्थयुद्धाय स पण्डितोमादत्तो बरेलीनगरात् तदायात् ।
मूर्त्तिप्रपूजामवलम्ब्य कैश्चित् प्राज्ञैः समं तत्र ऋषे स्समीपम् ॥२९॥

बरेली नगरसे पण्डित उमादत्तजी शास्त्रार्थ सग्राम के लिये उस मेले में आये, कई पण्डितों सहित ऋषि के समीप आकर उन्होंने मूर्तिपूजनपर वाद चलाया ॥२९॥

अल्पेन कालेन निरुत्तरोऽसौ भिल्लैकलव्यः प्रतिमां विरच्य ।
द्रोणस्य पूजामकरोद् गुरोः स तस्या इति व्याहृतवान् प्रमाणम् ॥३०॥

परन्तु अल्प समयमें ही वे लडखडा गये, जब कहीं पांव न टिका तो कहने लगे कि एकलव्य नामक भीलने द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर पूजा की थी ॥३०॥

अज्ञानिनो भिल्लजनस्य कर्म प्रामाणिकं धर्मविधौ न गण्यम् ।
सभ्यस्य कस्यापि वद प्रमाणं शास्त्रस्य सत्यस्य च वेत्यगादीत् ॥३१॥

ऋषिने कहा 'अज्ञानी भील का कर्म धर्म विधिमे प्रमाणभूत नही गिना जायगा। किसी सभ्य मनुष्य का अथवा सत्यशास्त्र का प्रमाण दो" ॥३१॥

दुर्योधनोदाहरणं वितीर्णं तेनाथ शास्त्रार्थकृता बुधेन ।
मूढेश्वरस्यास्य वचः कृतं वा धर्मे न मान्यं हि सुयोधनस्य ॥३२॥

तब उस शास्त्रार्थ कर्त्ता पण्डितने दुर्योधन का उदाहरण दिया, जिसपर स्वामीजीने कहा कि-'महामूढ दुर्योधन का कथन कर्म धर्ममें अमान्य है" ॥३२॥

गीतागताश्च श्लोकगणानपाठीत् पुष्टौ मतस्याथ निजस्य विद्वान् ।
व्याख्यां मुनीन्द्रेण कृतां तदीयां श्रुत्वाऽद्भुतां विस्मयमापदेषः ॥३३॥

पश्चात् अपने मत की पुष्टि में उसने कितनेक गीता के श्लोक कहे। मुनीन्द्रने उन श्लोकों की ऐसी अद्भुत व्याख्या की कि वह पण्डित सुनकर दग रह गया ॥३३॥

सभ्याः प्रसेदुर्जहृषुश्चविज्ञा विज्ञं परास्तं प्रतिमेश्वरस्य ।
आलोच्य वाग्भिः श्रुतितर्कभाग्भिः खद्योतकान्तिर्द्युमणेः पुरः का ॥३४॥

३४–प्रतिभा के धनी, मुनिवर की वेद और तर्क की प्रभासे शोभित वाणी द्वारा उस पण्डित को पराजित हुआ देखकर सभ्यलोग प्रसन्न हुए और विज्ञगण हँसे। सूर्य के सामने खद्योत (जुगनू, पटबीजना) की ज्योति ही क्या! ॥३४॥

पुण्यामृतं तत्र सधर्ममेघो वर्षं सु वर्षं जनचातकानाम्।
विधाय तृप्तं हृदयं ककोडातीर्थाच्चचालान्यपुरं महात्मा ॥३५॥

धर्ममेघ समान महात्मा दयानन्दने वहाँ खूब पुण्यामृत बरसाकर मनुज चातकों के मन तृप्त किये और वहाँसे नरडोलि गांव की ओर चल दिये ॥३५॥

जीवेश्वरैक्ये यतिमेकमार्यो वादे विजिग्ये नरदौलिमेत्य।
गोस्वामिनैकेन निशम्यसूक्तिं क्षिप्तास्ग मूर्त्तिर्सरित्तरङ्गे ॥३६॥

नरदौलि जाकर स्वामीजीने जीव और ईश्वर की एकता पर एक यति से शास्त्रार्थ कर उसे जीत लिया। वहाँ उनके उपदेशों से गुसाईं रामपुरी इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपने ठाकुरजी गंगा की धारा में बहा दिये ।। (मार्गशीर्ष शुक्ल सं. १९२५को) ॥३६॥

स्वामी ततः कायमगंजवासं चक्रे चिरं शंकरमन्दिरस्थः।
सन्ध्याग्निहोत्रं दिनरात्रिसन्धौ कार्यं द्विरेवेति जनान् दिदेश ॥३७॥

वहाँसे चलकर स्वामीजीने कायमगंजमें निवास किया। हरिशंकर पांडये के शिवालयमें डेरा डालकर लोगों को उपदेश देने लगे और उपदेशमें दिन और रात की सन्धिवेलामें दो ही बार सन्ध्या और हवन करना चाहिये ऐसा वे कहते ॥३७॥

श्रीसत्यनारायणसंकथायै यत्प्रार्थयामो द्रविणं निधाय।
सिद्धं भवत्येव हि कार्यमेतत् स्वामिन् कथं निन्दसि विप्र ऊचे ॥३८॥

एक ब्राह्मणने कहा कि "आप सत्यनारायण कथा की निन्दा क्यों करते हैं? हम लोग उस कथा के लिये एक रुपये मनौती मनाते हैं तो हमारा कार्य सिद्ध हो जाता है" ॥३८॥

पञ्चेह रूप्याणि निधाय याचे लक्षेश्वरस्स्यामिति किं भवेयम्।
उत्कोचलोभी परमेश्वरस्स्यात् स्यात्सिद्धिरेषा यदि तन्निधाने ॥३९॥
विद्यादिवस्तु श्रमसाध्यमेव कष्टं विना चेदुपलब्धिरेषाम्।
कुर्याच्छ्रमं कस्तदुपार्जनाय कायेन वाचा मनसर्षिरूचे ॥४०॥

महर्षिने उत्तर दिया कि–हम पांच रुपये मनौतीमे रखकर प्रार्थना करते हैं कि हम लखपति हो जांय तो क्या हो जायँगे? यदि उस धन के रखनेसे सिद्धि हो जाय तो परमेश्वर रिश्वतखोर बन जाँय। विद्या, ऐश्वर्य आदि पदार्थ परिश्रमसे ही प्राप्य है। यदि कष्ट के विना इनकी प्राप्ति हो जाय तो फिर उसके उपार्जन के लिये तन, मन और वाणीसे कौन परिश्रम करें ॥३९–४०॥

स ब्राह्मणो विष्णुविभोः स्वरूपं वेदज्ञवर्यान्निगमोदितं तत् ।
आश्चर्यकृत्कर्म निशम्य तस्य प्राप्तिप्रकारञ्च बभूव तूष्णीम् ॥४१॥

वह ब्राह्मण वेदवेत्ता दयानन्दसे वेदानुमोदित विष्णु प्रभु का स्वरूप तथा आश्चर्यकारक कर्म और उसकी प्राप्ति का प्रकार सुनकर चुप हो गया ॥४१॥

वंशीधरः स्वाग्युपदेशतोऽसौ मुक्त्वाऽश्मपूजां विदधेऽत्र सन्ध्याम् ।
भावं मुनेः संस्कृतभाषणस्य लोकान्मुदाऽबोधयदेव विज्ञः ॥४२॥

यहाँ बंसीधर नामक पण्डित था, दयानन्द देव के उपदेश से वह पाषाण पूजा छोडकर संन्ध्या करने लगा और आनन्द से मुनिके सस्कृत भाषण का भाव लोगों को समझाया करता था ॥४२॥

मोहम्मदाः पञ्चदश स्वधर्मं संदेशहर्त्तुं र्महिमानमग्र्यम् ।
उद्दिश्य वार्त्तां मुनिमेत्य चक्रु र्योग्योत्तरैः स्तब्धगिरो बभूवुः ॥४३॥

मुर्शिदाबाद परगना कम्पिलसे १०, १५ मुसलमान आये और उन्होंने अपने धर्म और पैगम्बर के महत्वपर बातचीत की परन्तु स्वामीजीने युक्ति युक्त उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर कर दिया ॥४३॥

उत्पत्तिमालम्ब्य जनस्य चर्चा जातर्षिणाऽन्यस्य कुरानमन्तः ।
हव्वाधियोगोऽभवदादमस्य स्नेहस्तयोः किं न हृदि व्यधायि ॥४४॥

मौलवी अहमदअली टूबान से ऋषि को मनुष्योत्पत्ति विषय पर बातचीत हुई । ऋषिने पूछा कि—आदम हव्वा का वियोग क्यों हुआ ? खुदाने उनके मनमें प्रेम क्यों न उत्पन्न कर दिया ॥४४॥

ईशेन चेत्प्रेम हितं हृदि स्यात् स्यातां वियोगार्त्तिसहौ न तौ तत् ।
नात्रोत्तरं किञ्चिदपि प्रदातुं शक्तो बुधेन्द्राय स मौलवीयः ॥४५॥

यदि प्रभुने उनके हृदयमें प्रेम रक्खा होता तो वे दोनों वियोग का दुःख न सहते । इसका मौलवी कोई उत्तर न दे सका ॥४५॥

स्वाम्युक्तिपुष्टिं स चकार हृष्ट स्तुष्टाव तं भूरि निगद्य चैवम् ।
स्वामी महान् पण्डितमण्डनोऽयं मूर्त्तिप्रपूजानिरतश्च नास्ति ॥४६॥

वह स्वामीजी की बातसे प्रसन्न हुआ और उनके कथनकी पुष्टि करता रहा । उसने महाराज की बहुत प्रशसा की और लोगोंसे कहा कि यह फकीर बहुत बडा आलिम (विद्वान्) है और बुतपरस्त (मूर्तिपूजक) नहीं है ॥४६॥

लिङ्गार्चनं किंनु निषिध्यतेऽलं शास्त्रोक्तमेवेति विराडपृच्छत् ।
क्लीबं शिवोऽभूद् यदि तस्य लिङ्गं भूत्वा पृथक् तेऽन्तिकमागतं तत् ॥४७॥

मन्दाक्षवार्त्ता खलु मन्दवृन्दै र्निन्द्यं मदान्धै र्मतिमान्यतोऽदः ।
लिङ्गार्चनं कल्पितमीश्वरस्य लिंगे विहीनस्य विभोरजस्य ॥४८॥

एक क्षत्रियने पूछा—आप शिवलिङ्ग पूजन का क्यों निषेध करते हैं ? इसकी तो शास्त्रोंमें आज्ञा है । स्वामीजीने कहा—जब शिवलिङ्ग अलग होकर तेरे पास आ गया तो तेरा शिव हिजडा रह गया । यह तो सचमुच लज्जा की बात है कि मदान्ध मूढ जनोंने मतिमन्दता के कारण लिङ्गरहित सर्वव्यापक, अजन्मा प्रभुका लिङ्गार्चन कल्पित किया ॥४७–४८॥

इत्थं स लोकानुपदिश्य तत्त्वं लोकम्पृणः फल्गुपुर ततोऽगात् ।
विश्रान्तघट्टालयमध्यवात्सीदासी ज्जगन्नाथ इहास्य नाथः ॥४९॥

इस प्रकार लोकानन्ददायी दयानन्द लोगों को सत्य का उपदेश देकर संवत् १९२५ के पौस मासमें कायमगंजसे फर्रुखाबाद पहूँचे और लाला जगन्नाथ के विश्रान्त घाटपर ठहरे ॥४९॥

श्रद्धालुभक्तो यमिनोपदिष्टां गृह्यक्रियां प्राक्रमतैष कर्तुम् ।
पुत्राभिधानं विधिवद् व्यतानीदन्त्येष्टिसंस्कारमपि स्वमातुः ॥५०॥

जगन्नाथ उनके श्रद्धालु भक्त बन गये । स्वामीजी के उपदेशानुसार सब गृह्य संस्कार करने लगे । उन्होंने विधिवत् पुत्रका नामकरण किया और अपनी माता का अन्त्येष्टि संस्कार भी विधिवत् ही कराया था ॥५०॥

कस्तूरिकामोदनिभं महर्षे श्चारित्र्यसौगन्ध्यमनन्तकीर्त्तेः ।
एकान्तगुप्तस्थलशालिनोऽपि वायुप्रवेगेन ततं समन्तात् ॥५१॥

आश्चर्यनीरैः परिपूरितान्ताः स्ववासशैलाद् द्रुतमास्रवन्त्यः ।
विद्यासमुद्रं गुणरत्नकान्तं संगन्तुमायञ्जनतास्रवन्त्यः ॥५२॥

एकान्त गुप्त स्थानवासी, महाकीर्तिशाली महर्षि के चरित्र की सुगन्ध कस्तूरिका के समान वायु वेग से चारों ओर फैल गई और अपने निवास पर्वतसे आश्चर्यजलभरी जनतारूपी नदियाँ वेगसे बहती हुई गुणरत्नोंसे रमणीय दयानन्द विद्यासागरसे मिलने आईं ॥५१–५२॥

प्रत्येकवर्गीयसहस्रपौरा धर्मामृतं मंगलकृन्निपीय ।
अज्ञानजन्यामपनीय शंकां सन्ध्यामशिक्षन्त ऋषेः सयज्ञाम् ॥५३॥

प्रत्येक श्रेणी के सहस्रों नागर नित्य मङ्गलकारी धर्मामृत पीते, प्रश्न पूछते भ्रम मिटाते और ऋषिसे सन्ध्या हवन सीखते थे ॥५३॥

विश्रान्तघट्टे विरचय्यवेदिं यज्ञोपवीतं विधिवद् गृहीतम् ।
आढ्यै र्जनै र्हव्यचयं हुताशे हुत्वा यतीन्द्राद् गुरुमन्त्रपूतम् ॥५४॥

ला० द्वारकाप्रसाद, गिरधारीलाल, जगन्नाथ और बाबू दुर्गाप्रसाद आदि धनाढ्य सज्जनोंने विश्रान्तघाट पर वेदि बनवाकर अग्निमें खूब हव्य द्रव्य डालकर विधिपूर्वक गुरुवर दयानन्दसे गुरुमन्त्र सहित यज्ञोपवीत ग्रहण किया ॥५४॥

एकादशाहं गुरुमन्त्रपाठं विप्रा व्यधुस्तत्र मखञ्च तीर्थे ।
वेदोक्तरीत्या यजमानमुख्याः ख्यातिर्यदीया विततातिमात्रम् ॥५५॥

पण्डित पीताम्बरदास आदि विप्रोंने उस घाटपर ११ दिन तक गायत्री जप और हवन किया, सब कार्य वेदोक्त रीतिसे उन याज्ञिकोंने किया था; अतः उनकी विपुल ख्याति हुई ॥५५॥

यज्ञोपवीतं भविताऽशुभंवो हेरम्बपूजा विहिताऽऽमुखे नो ।
शुक्रास्तवेलाकृतमस्ति तच्च पौराणिकास्तं यजमानमूचुः ॥५६॥

लाला जगन्नाथ के यज्ञोपवीत पर पौराणिक पण्डितोंने यजमानसे कहा कि–"यह यज्ञोपवीत अमङ्गलकारी होगा; क्योंकी प्रथम गणेशादि का पूजन नहीं हुआ, दूसरे, शुक्रास्तके समय हुआ ॥५६॥

लम्बोदरार्चा निगमाद् विरुद्धा शुक्रं न नो याति कदापि चास्तम् ।
तद् ब्रह्म शुक्रं सततोदयं कं नामङ्गलं स्यादिति सन्नुवाच ॥५७॥

इसका उत्तर स्वामीजीने यह दिया कि–गणेशादि की पूजा वेद विरुद्ध है; इसका न होना कभी अनिष्टकारी नहीं हो सकता और हमारा शुक्र तो सुखकारी ब्रह्म है (तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म) वह कभी अस्त नहीं होता ॥५७॥

मिथ्याभिमानी द्विजएक गंगारामोऽभवत्तत्र मनाक् स दूरे ।
गीतां समाख्यद् यति तीर्थवासाज् जेष्यामि वादे यतिमित्यवादीत् ॥५८॥

गंगाराम शास्त्री बरतियावाला बहुत डींग हाँका करता था कि "हम स्वामीजीसे शास्त्रार्थ करेंगे और उन्हे हरा देंगे।" स्वामीजी के स्थलसे कुछ दूर पर वह गीता की कथा कहता था ॥५८॥

प्राग् योगिविद्या विदिता न तेन व्यज्ञायिपश्चादिति भग्नधैर्यः ।
नुन्नोऽपि लोकै र्न समुद्यतोऽसौ विद्याम्बुधेः का पुरतोऽम्बुधारा॥५९॥

योगिराज की विद्या पहिले उसे विदित न थी; पश्चात् उसे योग्यता का पता लगा; तब लोगों के अति आग्रह करने पर भी शास्त्रार्थ के लिये स्वामीजी के पास जानेका उसको धैर्य न हुआ; भला ! विद्या के सागर के सामने झरने की क्या शक्ति ? ॥५९॥

मूर्त्यर्चकाली विकलाऽतिवेलं तस्या दयानन्दपुरः प्रगन्तुम् ।
का नामवार्त्ता यदि नामवार्त्तां श्रुत्वाऽप्यकम्पन्त बुधास्तदास्य ॥६०॥

मूर्तिपूजक दल अति विकल हो उठा; उसमें जो विद्वान् थे, वे दयानन्द के नाम मात्र से ही थर थर काँपते थे तो फिर ऋषि के सामने जाकर उनको शास्त्रार्थ करनेकी तो बातही क्या ! ! ॥६०॥

मूर्त्तिप्रपूजानवदुर्गरक्षाकांक्षाकुलास्ते मयराष्ट्रपुर्याः ।
गोपालशास्त्रिप्रवरं तदानीमानिन्यिरे स्वामिपुरः सभायाम् ॥६१॥

जब मूर्तिपूजक लोग पण्डितों की ओरसे निराश हो गये; तब वे मूर्तिपूजारूप नये दुर्ग की रक्षा के लिये व्याकुल हो गये । इस लिये वे मेरठ नगरसे प. श्री गोपालशास्त्रीको बुलाकर ले आये और दूसरे दिन उनका स्वामीजी से उन्होंने शास्त्रार्थ शुरू करा दिया ॥६१॥

पीताम्बरस्तत्र सभाप्रधानो बभूव गोपालबुधः प्रवक्ता ।
मूर्त्तिप्रपूजाविषयस्स मुख्यः साम्मुख्यकर्त्ता प्रतिवादिभीष्मः ॥६२॥

उस सभा में पण्डित पीताम्बरदास सभापति हुए । श्री गोपालशास्त्री व्याख्याता थे । मुख्य विषय मूर्तिपूजा था और खण्डन करनेवाले प्रतिवादि भयङ्कर महर्षि थे ॥६२॥

संस्थापयन् पूर्वमयं स्वपक्षं ग्रन्थेषु सर्वेषु हि मूर्त्तिपूजा ।
प्रोक्ताऽस्ति मुण्डीश्वर ! खण्ड्यते सा व्यर्थं किमर्थं भवतेत्यवोचत् ॥६३॥

पूर्वपक्ष स्थापन करते हुए गोपालशास्त्रीने कहा कि–"मूर्तिपूजा तो सब ग्रन्थोंमें मिलती है; तो फिर हे मुण्डीश्वर ! आप उसका क्यों व्यर्थ खण्डन करते हैं ? ?" ॥६३॥

आर्षेषु शास्त्रेषु महेशमूर्त्तेः पूजाविधानं प्रतिपादितं क्व ? ।
वेदानुकूलस्मृतिसंग्रहेऽपि संदर्शय क्षेति तमन्वयुङ्क्त ॥६४॥

स्वामीजीने उनसे पूँछा–"आर्यशास्त्रोमें कहाँ ईश्वर की मूर्ति के पूजन का विधान है ? हे शास्त्रिवर्य ? बताईये कि 'वेदानुकूल स्मृतियोंमें भी कहाँ विधान लिखा है ?" ॥६४॥

श्रीदेवताभ्यर्चनमेधसां तदाधानमेवेति मनुस्मृतिः सा ।
प्रामाणिकी तत्र हि देवतानां पूजां विदध्यादिति सूक्तमेव ॥६५॥

इसपर शास्त्रीजीने यह मनुवाक्य कहा–"देवताभ्यर्चनं चव समिदाधानमेव च ।" इसमें देवताओं की पूजा करनी चाहिये ऐसा स्पष्ट लिखा है और यह मनु का वाक्य प्रमाणभूत है; अतः मूर्तिपूजा सिद्ध है ॥६५॥

विद्वज्जनस्यार्चनमग्निहोत्रे कृत्वेन्धनाधानमथो विधेयम् ।
यज्ञो हि विद्वज्जनसाध्य एवं सत्कार एषामुचितस्तदानीम् ॥६६॥

स्वामीजीने इसका निम्नलिखित अर्थ किया—विद्वानों की देव संज्ञा है, अग्निहोत्र के समय उनका सत्कार एव पूजन करना ही चाहिये । इसके पश्चात् अग्निमें समिधा डालनी ही चाहिये; कि यज्ञ विद्वज्जनों से ही कराया जाता है । उस समय उनकी पूजा करना योग्य ही है ॥६६॥

देवत्वमस्मिन् विदुषि स्थितं तत् पाषाणमूर्त्तौ खलु युज्यते नो ।
मात्रादिदेवा गदिता हि पूज्या आतिथ्यमेषां शुभदं मखेषु ॥६७॥

इन विद्वानोंमें ही देवत्व विद्यमान है । पत्थरों की मूर्तियोंमें देवत्व मानना योग्य नहीं; क्योंकि माता, पिता, गुरु, अतिथि आदि को देव कहा गया है; यज्ञोंमें इनका पूजन करना मङ्गलकारी है ॥६७॥

व्युत्पत्तिभि र्युक्तिभि रार्षवाक्यैः पाषाणपूजां प्रतिषिध्य वाग्मी ।
गोपालमेनं स विधाय मौनं भक्तान् निमग्नानकरोन्मुदब्धौ ॥६८॥

व्युत्पत्तियोंसे, युक्तियोंसे तथा आर्ष वचनोंसे वाणी कुशल महर्षिने पाषाण पूजा का खण्डन करके उस गोपालशास्त्री को चुप कर दिया और भक्त लोगों को आनन्द समुद्रमें मग्न कर दिया ॥६८॥

म्लाननेनो लज्जित एष शास्त्री काशीं प्रगम्य प्रतिमार्चनायाः ।
पुष्टौ व्यवस्थां विदुषां विलेख्य हस्ताक्षराङ्कां न्यवृतद्गृहीत्वा ॥६९॥

वह शास्त्री लज्जित हुआ और उसका मुख उतर गया इस लिये वह काशी जाकर मूर्ति-पूजा की पुष्टिमें वहाँ के पण्डितों के हस्ताक्षरों से अङ्कित व्यवस्था लिखवा कर ले आया ॥६९॥

काशीस्थविद्वद्वरसिद्धलेखं श्रीकृष्णलालेन निवेदितं तम् ।
आलोक्य मन्दस्मितपूर्वमार्यः सम्यङ्ग निरास्थच्चकितेा यतेाऽयम् ॥७०॥

गोपालशास्त्री का सहायक एक वणिक कृष्णलाल था; उसने काशिस्थ विद्वद्वरों की लिखी हुई व्यवस्था स्वामीजी को दिखलाई । ऋषिने उस व्यवस्थापत्र को देखकर मन्दस्मित किया; फिर उसका ऐसा खण्डन किया कि लाला कृष्णलाल चकित हो गया ॥७०॥

स्वाम्यासनाभ्यर्णसुवालुकायां गोपालको लोकगणं निमन्त्र्य ।
आरोप्य धर्मध्वजमुच्चकैस्तं लेखं समश्रावयदेष दम्भी ॥७१॥

ता. २२ मई सन् १८६८ वैशाख शुक्ला १४ संवत १९२५ को गोपालशास्त्री बहुत बडी भीड लेकर घाटपर पहुँचा । स्वामीजी के आसन के पासकी रेत में एक झडा गाडकर उसपर लिखा 'धर्मध्वजोऽयम्' । और उस दम्भीने वह व्यवस्थापत्र सुनाया ॥७१॥

कोलाहलं तत्र विधाय नीचैराहूतवान् वादकृते मुनीन्द्रम् ।
वेणुं निखायेह जलं जडैः स संपातयामास सुरापगायाः ॥७२॥

उसने वहाँ कोलाहल मचाकर नीचे रेतीमें शास्त्रार्थ के लिये मुनीन्द्र को बुलाया । वहीं एक बाँस गाडकर उसने मूर्खोंसे उस पर गंगाजल चढवाया ॥७२॥

गोपालशास्त्री यदि वस्तुतोऽयं शास्त्रार्थमिच्छत्युपरि प्रशान्ते ।
स्थाने व्यवस्थारुचिरे समेत्य सभ्यत्वबुद्धया वितनोतु तं सः ॥७३॥

तत्पक्षलोकान्निजपार्श्वयातानाह्वानहेतोरिति संनिगद्य ।
योगीश्वरः शान्तमनास्तदीयां लीलामवालोकत लोकनिन्द्याम् ॥७४॥

बुलाने के लिये अपने पास आये हुए तत्पक्षीय लोगों से योगीश्वर ने कहा कि "यदि गोपालशास्त्री वास्तवमें शास्त्रार्थ करना चाहता है; तो यहाँ ऊपर सुन्दर व्यवस्थित प्रशान्त स्थानमें आकर वह सभ्यतापूर्वक शास्त्रार्थ करें ! ! इतना कहकर शान्त मनसे उनकी निन्दनीय लीला देखते रहें ॥७३–७४॥

संदेशितोऽसौ मनुजाञ्जगाद स्थानं यतेः कीलितमस्ति मन्त्रैः ।
स्यां तत्र नूनं हि पराजितोऽहं वादे कृते तेन न तत्र यामि ॥७५॥

व्यज्ञायि विज्ञै र्ध्रुवमस्य नास्ति शास्त्रार्थपाण्डित्यमितिच्छलं सः ।
धूर्त्तस्तनोति श्रुतिपण्डितेन प्रख्यातवादीन्द्रमतं गजेन ॥७६॥

जब लोगोंने उसको स्वामीजी का सन्देश सुनाया; तब उसने उनसे कहा कि"–स्वामीजीने विश्रान्त स्थान को मन्त्रोंसे कील दिया है । वहाँ तो मैं निश्चयसे हार ही जाऊँगा; इस लिये मैं वहाँ नहीं जाता हूँ । समझदार लोगोंने समझ लिया कि इसमें शास्त्रार्थ करने की योग्यता ही नहीं है; इसी लिये यह धूर्त वेदवेत्ता, प्रख्यात, वादीन्द्र दयानन्द दिग्गज के साथ छल कर रहा है ॥७५–७६॥

उत्पातमाकर्ण्य कलिप्रियस्य प्रान्ताधिकारी पुरकोट्टपालम् ।
तत्र प्रबन्धुं प्रजिघाय शीघ्रमाज्ञाङ्कितः स्वामिपदं स येदे ॥७७॥

इस झगडालु शास्त्रीका उत्पात सुनकर कलेक्टरने कोतवाल को शीघ्र ही वहाँ प्रबन्ध करने के लिये भेजा । वह कोतवाल स्वामीजी के स्थान पर गया ॥७७॥

गत्वान्तिकं कः कलहोऽस्ति साधो ! सन्तं स पप्रच्छ बलाधिकारी ।
स्वस्थानभाजस्तु वयं निषण्णाः केनापि साकं कलहं न कुर्मः ॥७८॥

पास जाकर उस कोतवालने स्वामीजीने पूछा कि–'बाबाजी ! यह क्या गडबड है ?" स्वामीजीने कहा–अपने स्थान पर हम बैठे हुए हैं; किसीके साथ झगडा नही करते हैं ॥७८॥

नापोदिता निन्द्यवचो वदामो मौनं भजामः शममाश्रयामः ।
श्रीमन्त एतन्नु विदन्तु के वा कुर्वन्ति मिथ्याकलिमात्मराज्ये ॥७९॥

कर्त्तव्यमेवास्ति सुशासकानामन्वेषणीयाः कलहप्रियास्ते ।
इत्याकलय्य व्रतिवर्यवाचं सैन्याधिकारी प्रययौ ततोऽयम् ॥८०॥

कोई गाली दें तो भी हम उसको निंद्य वचन नहीं कहते और चुप रहते हैं तथा शान्ति धारण करते हैं । श्रीमान्जी ! यह तो आपको जानना चाहिये कि आपके राज्यसें कौन व्यर्थ झगडा करते हैं ! राज्य शासकों का यह तो कर्त्तव्य ही है कि वे झगडालु मनुष्यों को खोज निकालें । इस प्रकार की ब्रह्मचारी श्रेष्ठ की वाणी सुनकर वह कोतवाल वहाँसे चला गया॥७९–८०॥

सत्यं स वृत्तं जनतो विदित्वा द्वौ सैनिकौ स्वामिपदे नियुज्य ।
क्षुद्राशया दुष्टजना गृहान्त गच्छन्तु नेत्यादिशदुत्तमेच्छः ॥८१॥

कोतवालने वास्तविक वार्ता को समझकर स्वामीजी के स्थानपर दो सिपाहियों का पहरा नियुक्त कर दिया कि वे किसी क्षुद्राशय उपद्रवी मनुष्य को विश्राम गृह के अन्दर न जाने दें ॥८१॥

आहूय गोपालकमेष पश्चात् तं तर्जयामास विवृद्धमन्युः ।
भीतः स शास्त्री नगरं जहौ तद् धैर्यं कुतः सत्यपथाच्च्युतानाम् ॥८२॥

तदनन्तर कोतवाल महाशयने गोपालशास्त्री को बुलाकर क्रोधसे ऐसा डाँटा कि वह मारे डरके नगरही छोडकर चला गया । सत्यमार्गसे च्युत होने वाले दुर्जनों में धैर्य ही कहाँसे हो ? ॥८२॥

ज्वालाप्रसादो मदिरामदान्धो मांसाशनस्तत्सुहृदेकविप्रः ।
स्वाम्यग्रतो वेत्रमयासनस्थो दुर्वाक्यबाणान्मुमुचे स तीक्ष्णान् ॥८३॥

वश्येन्द्रियोऽमुं न किमप्युदीर्यं स्थानान्तरं सोऽभिययौ यमीन्द्रः ।
तत्साधुभक्तैः कुपितैस्स मत्तः संताडितोऽलं द्रुतआत्मगेहम् ॥८४॥

ज्वालाप्रसाद नामक एक पोस्ट मास्टर उसका साथी था, वह ब्राह्मण था । किन्तु मद्यप और मांसाहारी था, वह मदिरामें चूर होकर स्वामीजी के स्थान पर आया: वहाँ कुर्सी रखकर उस पर बैठ गया; और उनपर दुर्वचन रूपी तीक्ष्ण बाण छोडने लगा । जितेन्द्रिय संयमीश्वरने उससे कुछ न कहा और वे दूसरे स्थानपर चले गये । महाराज के भक्त, सत्यनामी साध लोगों को उस उन्मत्त पर ऐसा क्रोध आया कि उन्होंने उसे खूब पीटा, जिससे कि उसका सारा नशा झड गया और वह फिर घर भाग गया ॥८३–८४॥

तद्वृत्तवेत्ता स्वजनः प्रमन्युरासन्नविंशैर्मनुजैस्सदण्डः ।
हन्तुं समायान्मुनिमेषकिन्तु धैर्यं न संवृत्तमतो निवृत्तः ॥८५॥

ज्वालाप्रसाद का समधी (सम्बन्धी) पाण्डे ठाकुरदास यह वृत्त सुनकर क्रोधसे बीस पच्चीस लठ्ठबन्ध लोगों को लेकर मुनीन्द्र को मारने आया; परन्तु उसका कुछ करने का साहस न हुआ अतः जैसा आया था वैसा ही लौट गया ॥८५॥

रक्षार्थमायान्मनुजस्समेतो भक्तो जगन्नाथ उवाच चार्यम् ।
विश्रान्तगुप्तालयवासमंगीकुर्याद् भवाँस्तत्र न दुष्टभीतिः ॥८६॥

भक्त जगन्नाथजी दुष्ट जनों के आक्रमण का वृत्तान्त सुनकर कुछ मनुष्यों सहित तुरन्त रक्षा के लिये विश्रान्त घाट पर पहुँच गये; और महर्षिसे प्रार्थना की कि–क्षुद्र लोग आपके अमूल्य जीवन को लेने के लिये बार बार आक्रमण करने लगे हैं; इसलिये आप हमारे भीतर के स्थानमें चलकर रहना स्वीकार कीजिये ॥८६॥

नित्यं मम प्राणविनाशचेष्टा दुष्टै र्भवत्येव कृता परं माम् ।
सर्वत्र संरक्षति सर्वगोप्ता विश्वेश्वरो मे न भयं ततोऽत्र ॥८७॥

स्वामीजीने कहा कि–'मेरे प्राण हरण की चेष्टा दुष्ट लोग सदा ही किया करते हैं; परन्तु सर्वरक्षक, विश्वपिता परमात्माने सर्वत्र मेरी रक्षा की और भविष्यमें वही करेगा; इसी लिये मैं निर्भय हूँ; आप चिन्ता न करें ॥८७॥

एकोऽवसच्छ्रेष्ठिवरो नगर्यां भक्तोऽभवत्स्वाम्युपदेशतोऽयम् ।
दानीश्वरो मूर्त्तिसुपूजनाद्यां लीलां विहायाकृत यज्ञसन्ध्ये ॥८८॥

फर्रुखाबाद में लाला पन्नालाल नामक एक सेठ रहते थे, वे स्वामीजी के उपदेश से स्वामीजी के भक्त बन गये। वे बडे दानवीर, तथा मूर्तिपूजा आदि छोडकर सन्ध्या और हवन किया करते थे ॥८८॥

संप्रेष्य पीताम्बरमेष काशीं विद्वद्व्यवस्थां निपुणं निरीक्ष्य ।
वेदप्रमाणं प्रतिमार्चनायां नो वृत्तमस्तीति विवेद तस्मात् ॥८९॥

इन्होने पं. पीताम्बरदास को काशी भेजा और वहां जाकर निश्चित पता लगाओ कि विद्वानों ने मूर्तिपुजा के विषय में क्या व्यवस्था दी है ? तथा कोई वेद प्रमाण दिया वा नहीं ? फिर उन्होंने वहां जाकर पूछताछ की तो उनको विदित हुआ कि कोई वेद प्रमाण नहीं दिया गया है ॥८९॥

देवालयं कारयितुं पुरैषीत् पुण्याशयः किन्त्वधुनर्षिविष्टः ।
वित्तेन तेनैव स पाठशालां संस्थापयामास वदान्यवर्यः ॥९०॥

पहले ये दानवीर पुण्यात्मा शेठ एक देवालय बनाना चाहते थे; किन्तु अब महर्षि की आज्ञासे उसी धनको लगाकर उन्होंने सस्कृत पाठशाला स्थापन की ॥९०॥

दुर्गाप्रसादोऽशनवस्त्रभारं स्कन्धे दधौ स्वे धनिपन्निलालः ।
अध्यापकस्य द्रविणव्यमञ्च विद्यार्थिनामर्द्धशतं प्रविष्टम् ॥९१॥

विद्यार्थिनः पाणिनिसूत्रजातं सार्थं ससिद्धिप्रतिबोधनञ्च ।
पेठुर्गुरोः संस्कृतवाचि नित्यं सन्ध्याग्निहोत्रं नियमेन कृत्वा ॥९२॥

बाबू दुर्गाप्रसादने विद्यार्थियों के अन्नवस्त्र का व्यय–भार अपने उपर लिया और ला० पन्नालालजीने अध्यापकका मासिक वेतन ३०) देना स्वीकार किया। पचास विद्यार्थी प्रविष्ट हुए। विद्यार्थीगण नित्य सायं प्रातः सन्ध्या, हवन करते थे और गुरुजीसे वे अष्टाध्यायी के सूत्र अर्थ, सिद्धि, उदाहरण और प्रत्युदाहरण सहित सस्कृतमें पढा करते थे ॥९१–९२॥

तस्यां पुरि श्रेष्ठिवरस्य पुत्रो वारांगनासक्तमनाः सुरापः ।
आसीत् पितुः प्रार्थनयाऽस्य योगी स्वोपान्तमानेतुममुं दिदेशः ॥९३॥

उस नगर में किसी प्रतिष्ठित सेठ का पुत्र वेश्यागामी और मदिरा सेवी हो गया था। उसके पिता की प्रार्थना से योगिराज ने उस युवक को अपने पास लाने के लिये आदेश किया ॥९३॥

शीलोत्तमं तस्य सुहृद्द्वयं तं श्रद्धान्वितं स्वामिनि संविधाय ।
भव्योपदेशश्रवणोत्सुकञ्च प्रीत्या निनाय व्रतिपादपार्श्वम् ॥९४॥

उस युवक के दो सदाचारी मित्र थे। लाला साहेब ने उनसे कहा कि–किसी प्रकार उसको स्वामीजी के विषय मे श्रद्धालु बनाकर तथा कल्याणकारी उपदेश सुनने के लिये उत्सुक करके प्रेम से ऋषिचरण के पास ले आओ। उन्होंने वैसा ही किया। वे ऋषि के पास ले आये ॥९४॥

यूनां त्रयं भक्तिनतोत्तमांगं संभाव्य प्रेमामृतरम्यनेत्रः ।
उद्दिश्य वेश्यागमनस्य दोषान् दोषज्ञ एवं समुवाच वाचम् ॥९५॥

ऋषिने भक्ति से नम्र मस्तक हुऐ इन तीनों युवकों को प्रेमामृतपूर्ण दृष्टि से आदर देकर वेश्यागमन के दोषों को लक्ष्य करके उपदेश दिया कि–"हे भद्र युवको! ॥९५॥

सुखान्तकृद् दुर्व्यसनं समग्रं वेश्यागमस्य व्यसनं तु भद्राः ।
सर्वापदां मूलमनिष्टहेतु सर्वस्वसन्मंगलनाशकेतु ॥९६॥

वैसे तो सारे ही दुर्व्यसन सुखके नाश करनेवाले होते हैं; किन्तु नरदेहधारी के लिये यह वेश्यागमन का व्यसन–सर्व आपत्तियों का मूल अनिष्ट का कारण, सर्वसम्पत्तियों का विनाशक तथा सम्पूर्ण पुण्यकर्मों का घातक होता है ॥९६॥

वारांगनासंगत एव मद्यासक्तो भवत्येष जनः प्रमत्तः ।
धर्म्याणि कर्माणि गुणाँश्च सर्वान् कीर्त्या समं नाशयति प्रकामम् ॥९७॥

वह मनुष्य वारांगनाओं के संगसे मदिरा का व्यसनी बन जाता है; अतः उसकी कीर्ति के साथ सारे धार्मिक कार्य और सद्गुण नितान्त नष्ट हो जाते हैं ॥९७॥

वित्तार्थिनीयं गणिका हि यूनां हावैश्चभावै र्हरते मनांसि ।
आहृत्य सर्वस्वमथास्य वक्त्रं द्रष्टुं न चापीच्छति सिद्धिकार्या ॥९८॥

निश्चयसे धन को ही चाहनेवाली ये गणिकाऐं हावभावसे तरुण जनों के मनों को हर लेती हैं; सर्वस्व हर लेने पर सफल मनोरथ हो जानेसे ये फिर निर्धन युवकों का मुख तक देखना नहीं चाहतीं ॥९८॥

वारांगनागर्भभवाऽस्य कन्या वेश्याजुषस्सा तरुणी स्ववेशे ।
स्थित्वा पुनर्निन्दितकर्म कृत्वा नेा पातयेत् किं नरके स्वतातम् ॥९९॥

वेश्यागामी उस युवक की गणिका के गर्भसे उत्पन्न हुई युवती कन्या वेश्या-घरमें रहती है। फिर क्या वह निन्दित कर्म करके अपने पिता को नरकमें नहीं गिरावेगी ? ॥९९॥

वेश्यानुरक्ता नियतं जनास्ते कुर्वन्ति कन्यां गणिकां स्वयं हा ! ! ।
मर्मस्पृशा हृद्यगिरेति वाग्मी संबोध्य यूनो विरराम भद्रान् ॥१००॥

सो हाय ! ! वे जन स्वयं गणिकानुरक्त होकर सचमुच कन्याको वेश्याही बनाते हैं। इस प्रकार हृदयस्पृक् प्रियवाणीसे वाग्मिवरने उन सभ्य युवकों को समझाकर विराम लिया ॥१००॥

श्रुत्वा वचोऽरुन्तुदमीदृगार्यं रोमाञ्चितं तद्वपुरस्य यूनः ।
प्राकम्पतायं निजपापकार्यात् सद्यो मुनीन्द्राङ्घ्रिनतोऽनुतप्तः ॥१०१॥

इस प्रकार मर्मभेदी श्रेष्ठ वचन सुनकर इस युवक का शरीर रोमांचित हो गया; और अपने पाप कर्मसे कांप उठा। तत्काल वह मुनीन्द्र के चरणों पर गिरकर पश्चात्ताप करने लगा कि— ॥१०१॥

चक्रे प्रतिज्ञां दृढमेनसोऽस्मादात्मानमामोचयितुं सुबुद्धः ।
अद्यप्रभृत्येव न यामि वेश्यं श्रीमद्वचो मान्यमितीरयित्वा ॥१०२॥

"भगवन् ! मुझे आज ज्ञान हो गया। इस पापसे मैं आत्मा को छुडाने के लिये दृढ प्रतिज्ञा करता हूँ। मुझे भगवान् का वचन मान्य है। आज ही से मै वेश्यागृहमें नहीं जाऊँगा" ॥१०२॥

स्वस्त्यस्तु ते जीवनमस्तु पुण्यं सौम्यामलेयं मतिरेव नित्यम् ।
मालामिवास्याशिषमात्ममौलावादाय देवस्य ययौ स गेहम् ॥१०३॥

महर्षिने कहा-"भद्र ! तेरा अखण्ड कल्याण हो ! हे सौम्य ! तेरी विमल गति सदा ऐसी ही बनी रहे। तेरा जीवन पवित्र हो"। दयानन्द देव की मालाके समान आशिष अपने मस्तक पर धारण कर वह युवक घर चला गया ॥१०३॥

स्वीयस्सुतस्सद्गुणमण्डितस्स्याद् वंशप्रदीपस्स इति प्रतीतः ।
श्रेष्ठी पितर्षेरुपकारभारैरावर्जितो भक्तिभिरार्चदेनम् ॥१०४॥

अपना पुत्र सद्गुणोंसे मण्डित होकर वश का दीपक बनेगा; यह सोचकर उसका धनवान पिता प्रसन्न हुआ। महर्षि के उपकार भारसे वह उनकी ओर आकर्षित हुआ; और उसने भक्तिसे ऋषिका सत्कार किया ॥१०४॥

उद्दण्डश्चण्डगुण्डः प्रथितखलमणि र्द्रव्यलोभप्रणुन्नो-
दुष्टै र्हन्तुं यतीन्द्रं यतिपदमगमद् दण्डपाणिः प्रमत्तः ।
स्थित्वा 'रे तापस त्वं नहि किमु मनुषे मूर्त्तिमीशं' न मन्ये
पाषाणादिप्रकल्पां त्वमयि सुजन वेत्सीश्वरस्य स्वरूपम् ॥१०५॥

एक दिन एक उद्दण्ड, हट्टा कट्टा बलवान व्यक्ति एक मोटा लठ्ठ उठाये झूमता हुआ यतीन्द्र के स्थान पर आया। फर्रुखाबाद के नामी गुण्डों में वह एक था। कुछ द्वेषी लोगोंने उसे रुपयेका लालच देकर स्वामीजी को पीटने के लिये उद्यत किया था। समीप आकर उस उद्दण्ड मनुष्यने कहा कि "बाबा! क्या तुम मूर्ति को ईश्वर नहीं मानते हो!" स्वामीजीने गम्भीरतासे उत्तर दिया कि-'भद्र! मैं पाषाणादि निर्मित प्रतिमा को ईश्वर नहीं मानता हूँ। ईश्वर का स्वरूप क्या है तुम जानते हो? ॥१०५॥

आनन्दं सच्चिदीशं प्रणतजनदयासागरं व्यापकं किम्?
नो जाने शक्तिमन्तं स तु वपुरतुलं भक्तहेतो र्दधाति॥

सत्यं भद्रोदितं ते परमयममरो नैति जन्माज ईशो-
विश्वस्मिन् व्यापकत्वात् प्रणतजनहितं शङ्करोऽलङ्करोति॥१०६॥

वह बोला कि-'क्या मैं सच्चिदानन्द, सर्वशक्तिमान, भक्तवत्सल, दयासागर, व्यापक ईश्वर को नहीं जानता? वह तो भक्तों के कारण जन्म लेता है। ऋषि बोले-भद्र! तेरा कथन सत्य है किन्तु यह अमर ईश्वर जन्म नहीं धारण करता; क्यों कि अज और सर्वव्यापक होनेसे वह शंकर भगवान सब जगह रहकर भक्तोंका कल्याण किया करता है ॥१०६॥

ईशप्रोक्तस्वरूपं ननुघटय शिलानिर्मितायां स्वमूर्त्तौ
घट्येतेदं यदि स्यां तव मतिपथगो नो यदि स्या ममांग!।

आत्मा साक्ष्यं प्रदद्यात्तव विमलहृदा चिन्तय त्वं द्विजन्मन्?
शैल्यैवं बोधनस्याखिलमनुजगुरोरार्द्रचित्तः खलोऽभूत्॥१०७॥

आपने जो ईश्वर का स्वरूप वर्णन किया है; उसी को आप शिला निर्मित अपनी मूर्तिमें घटाओ तो सही? सौम्य! यदि ईश्वरीय गुण मूर्तिमें घट जाय? तो मैं आपके मत का हो जाऊँगा। नहीं तो आप मेरे मत के हो जाइये। हे द्विजन्मन्! विमल हृदयसे आप विचार करो, आपका आत्मा ही साक्षी देगा। इस प्रकार अखिल जगद्गुरु दयानन्द की समझाने की शैलीसे वह दुर्जन द्रवित हो गया ॥१०७॥

दण्डं प्रक्षिप्य स श्रीपदकमलयुगे संनतो नम्रमौलिः
क्षान्तिं देवं ययाचे हृदयपरिणतेः प्रापदेवत्वमेषः।

त्यक्त्वा गर्ह्याणि कर्माण्यतिविमलमना धर्म्यकृत्यप्रलीनः
सत्संगः किं न सूते सफलमलहरं मंगलं स्राक् खलानाम् ॥१०८॥

उसने दण्ड फेंककर मस्तक झुका श्री चरण कमल युगलमे प्रणाम किया; और देवसे क्षमा मांगी। उसका हृदय बदल गया। वह सारे बुरे कर्मों को त्याग कर धीरे २ साधु स्वभाव और सदाचारी बनकर देवत्व को प्राप्त हुआ। दुष्टों के लिये भी सत्संग क्या नहीं करता! वह शीघ्र ही उनके सारे पापों को दूर कर उनका मंगल करता है ॥१०८॥

कर्त्तव्यं मनुजस्य किन्नु भगवान्नाख्याहि मुख्यं हि मां
सौम्यादर्श इहेश्वरप्तिरमलः किं कार्यमेतत्कृते ।
विश्वस्मिन् स यथा दयां वितनुते सत्येा दयालुः प्रभु-
र्मर्त्येनापि तथैव सत्यमनसा भाव्यं दयादृष्टिना ॥१०९॥

सत्यनामी किसी साध भक्तने ऋषिसे पूछा कि–"भगवन् ? मुझे आप बतलाइये कि मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य क्या है ?' ऋषिने कहा सौम्य ! इस ससारमे ईश्वर प्राप्ति ही मनुष्य का पवित्र आदर्श है । उसने पूछा – "इसके लिये क्या करना चाहिये ?" ऋषिने कहा – "वह सत्यस्वरूप, दयालु प्रभु सब पर जैसी दया करता है वैसी दया मनुष्य को सब पर करनी चाहिये तथा सत्याचरण करना चाहिये" ॥१०९॥

ब्रह्माज्ञापरिपालनं नियमिना वेदोक्तधर्मार्थिना
कर्त्तव्यं विमलात्मना शुभकरं कर्मामलं मोक्षदम् ।
भक्तैस्साधुभिरित्थमात्मनिरतः पृष्टो महात्मा तदा
सम्यङ् मर्म निरूप्य शर्मगविधेः सन्ध्यार्थमापद् वनम् ॥११०॥

"वेदोक्त धर्मका अनुगामी बनकर नियमपूर्वक ईश्वराज्ञा का पालन और शुभकारी, मोक्षदायी वैदिक कर्म करना चाहिये ।" इस प्रकार आत्मनिरत, महात्मा दयानन्द–सुखकारक कृत्यों का रहस्य निरूपण कर सन्ध्या के लिये वनमें चले गये ॥११०॥

इति १६ सर्गः ।

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सचित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये परमहसस्य सत्यबलेन प्रतिपक्षिहृदय-परिवर्तनो नाम षोडशः सर्गः ॥

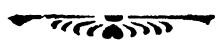

॥ सप्तदशः सर्गः ॥

उपजातिवृत्तम्

पयः पवित्रं जननीव गंगा संपाययन्ती रुचिरांकभाजः ।
प्रजा निजास्स्वादुफलाशनैश्च संवर्द्धयन्ती मुमुदे ऽम्बुजाक्षी ॥१॥

जिस प्रकार कमल सी नयनोंवाली जननी, अपनी सन्तान को सुन्दर गोदमें बिठाकर पवित्र दूध पिलाया करती है और स्वादु फलों को खिलाकर संवर्धन करती हुई आनन्दित होती है; उसी प्रकार पद्मरूप नेत्रोंवाली, भागीरथी गंगा अपने मनोहर तट प्रदेशमे निवास करनेवाली अपनी प्रजा को निर्मल जलों एव मधुर रुचिकर फलों को चखा चखा कर उनका पालन पोषण करती हुई प्रसन्न प्रतीत होती थी ॥१॥

तितीर्षवः संसृतिसागरं ते यियासवो विष्णुपदं विमुक्तौ ।
प्रलिप्सवो ब्रह्मरसं रसार्द्रं यत्क्रोडमाशिश्रियिरे मुनीन्द्राः ॥२॥

संसार सागर तर जाने की इच्छावाले, मुक्त होकर विष्णुधाम पाने की आकांक्षा करने हारे एव ब्रह्मानन्द रसपान की कामनावाले मुनीन्द्रगण इस गगा माता की रसभरी गोद की शरण ले रहे थे ॥२॥

जडात्मचिन्नीरपयोविवेका मुक्ताशनाः शुक्लसुवर्णपक्षाः ।
त्यक्ताम्बराः संयमिराजहंसा रराजिरे यत्पुलिने गृणन्तः ॥३॥

इस गगा के पुलिन पर, नीर क्षीर का पृथक्करण करनेवाले, सफेद सोनेरी पखों को धारण करने हारे, मोतियों को चुगनेवाले राजहस आकाशसे उतर कर शब्द करते हुए जैसे सुहाते हैं; ठीक वैसे ही वहाँ परमहंस महात्मागण, प्रकृति, आत्मा और परणात्मामें विवेकपूर्वक भेद का अनुभव करते हुए, दिगम्बर दशामें निराहार रहकर समाधिस्थ हो बिराजते थे । और पुण्यात्मा उत्तमवर्णस्थजनों के ज्ञान लाभमें वे समाधिसे उठकर सहायक बनते थे ॥३॥

ब्राह्मे मुहूर्त्तेद्विजचन्द्रकान्ते शान्ते वनान्ते प्रयतस्तदीये ।
योगी दयानन्दसरस्वतीन्द्रो ननन्द तद्ब्रह्मणि देववन्द्ये ॥४॥

योगीन्द्र दयानन्द सरस्वती भी नक्षत्रतारामण्डल मण्डित, चन्द्र मनोहर ब्राह्ममुहूर्तमें स्नानसे पवित्र होकर उसी गगा मैय्या के प्रशान्त वनान्तमें उपासक जनों के आराध्यदेव, परब्रह्म परमेश्वर के आनन्द का रस लूटते थे ॥४॥

एकान्तसम्मेलनतो निगूढं क्षीरेऽम्बुवद् ब्रह्मणि पञ्चतत्त्वम् ।
विवेकनेत्रेण निरस्य हंसः क्षीरं चिदानन्दमयं पपौ सः ॥५॥

ब्रह्ममें नितान्त मिल जाने से अतिशय छिपे हुए पञ्च तत्व को, दूधमें छिपे हुए जल को पृथक् करने हारे राजहंस की तरह यह परमहंस दयानन्द विवेक दृष्टिसे निकालकर चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मदुग्ध का पान=आस्वादन करते थे ॥५॥

ब्रह्मार्कतेजोरुचिराननाब्जं सूर्यांशुभिः सम्प्रति सम्प्रसन्नम् ।
सूरप्रभस्यास्य विभासितं तद् बभार शोभां पुनरुक्तभूताम् ॥६॥

सूर्यसम कान्तिवाले दयानन्द का ब्रह्मरवि के तेजसे रुचिर सुप्रसन्न मुख कमल, अरुणोदय वेलामे आदित्य किरणों से प्रकाशयुत होकर द्विगुण शोभा को धारण किया करता था ॥६॥

गंगातरंगावलिभिः प्रभाते सहस्रधात्मानमिनो विभज्य ।
मन्येऽम्बरादम्बुनि सोऽवतीर्य खेलन्मुनेर्मानसमाजहार ॥७॥

प्रभातकालमें सूर्य, गगनतलसे गंगाजलमें उतर कर सहस्र प्रकारसे आत्माको विभक्त कर, तरंगावलियों के साथ खेलता हुआ मुनिवर के मन को मानो हर रहा था ॥७॥

भानुप्रभारञ्जितमम्बु गांगं गांगेयबद्धालिरुचं दधानम् ।
निभाल्य विश्रान्तपदं प्रतीक्ष्यः प्रतीक्षमाणार्यवृतं ययौ सः ॥८॥

पूज्यपाद महर्षि, सूर्यप्रभासे रंगे हुए गंगाजल को सुवर्णमय सेतुकी शोभा धारण करते हुए देखकर राह देखनेवाले सज्जनोंसे घिरे हुए विश्रान्त स्थानपर आ पहुँचे ॥८॥

योगीन्द्रपादानभिवाद्य भक्तः श्रेष्ठी जगन्नाथ उवाच चैवम् ।
पुराणलीलामतवादिलेखैराकारितः कर्णपुरात् प्रवक्ता ॥९॥

वादाय रात्रौ भगवन् ? भवद्भिः समेष्यति श्रीहलभृद् बुधेन्द्रः ।
सहस्ररूप्याणि निधाय पञ्च ग्राह्याणि जेत्रेति पणोऽपि कार्यः ॥१०॥

योगीन्द्र चरणारविन्द का सब भक्तोंने वन्दन किया। फिर शेठ लाला जगन्नाथने स्वामीजीसे कहा कि—"भगवन् ! पुराण लीला मतवादी पौराणिकदलने कानपुरसे पण्डितवर श्री हलधर ओझा को आपके साथ शास्त्रार्थ करने के लिये बुलाया है। वह कल रात को आवेगा। मैंने सुना है कि 'कोई पण लगाए तो शास्त्रार्थ हो सकता है; जो जीतेगा वह पण द्रव्य ले लेगा' ॥९—१०॥

आघोषितोऽयं नगरे ग्लहोऽपि मया तु सम्प्रेष्य तदर्द्धमुद्राः ।
विज्ञापितास्ते प्रतिपक्षिमुख्याः सत्पक्षिणां किं भयमस्ति वादे ॥११॥

इस लिये मैंने तो २५००) रुपये प्रतिपक्षीजनों के नेता लाला देवीदास खत्री रईस, व लाला प्रेमदास आदि के पास भेजें और इस पण बाजी लगाने की नगरमें घोषणा करने के लिये उन्हें कहलाया। वाद मे सत्यपक्षवालेको भय ही क्या है ॥११॥

ओमुद्यतास्मो वयमत्र सद्य इतीरयित्वा गुरुदेव एतान् ।
प्रासङ्गिकं धर्मवचोऽमृतं तन् निपाय्य तृप्तानकरोत्स्वभक्तान् ॥१२॥

"हाँ ! हम वाद के लिये तैयार ही बैठे हैं:" ऐसा कहकर गुरुदेवने अपने भक्तों को प्रासंगिक धर्मज्ञानामृत पिलाकर खूब तृप्त किया ॥१२॥

नान्यो बुधः श्रीहलभृत्समानो जेता दयानन्दमयं क्षणेन ।
गीर्वाणसंभाषण एव मौनं कुर्यान्न चेन्मन्त्रबलात्तु नूनम् ॥१३॥

पौराणिक लोग कहते कि–'प. हलधर समान दूसरा कोई विद्वान् हो नहीं है ।' यह तो क्षणभरमें दयानन्द को जीत लेगा । अरे, संस्कृत संभाषण में हो उसको चुप कर देगा; नहीं तो मंत्रबलसे तो निश्चित उसे मौन बना देगा' ॥१३॥

गोपालशास्त्राकुलखिन्नलोकैरावेदिताः श्रेष्ठिजना हलंतम् ।
आकार्यशास्त्रार्थकृते निशायां बुधैस्समं स्वामिपदं समायान् ॥१४॥

गोपालशास्त्री के पराजयसे सनातनी जनता बडी व्याकुल एवं खिन्न हो गई थी । उसीने लाला प्रेमदास तथा लाला देवीदास रईस को प. हलधर को लाने के लिये निवेदन किया था । ज्येष्ठ शु. १० सं. १९२६ ता. १९ जून सन् १८६९ को रात के ९ बजे लाला देवीदास आदि सज्जन, अन्य शास्त्रियों सहित पं. हलधर ओझा को लेकर स्वामीजी के स्थानपर शास्त्रार्थ के लिये आये ॥१४॥

संभावनापूर्वकमासनेषु प्रतिष्ठिताँस्तानुपवेश्य नाथः ।
संस्तावयामास मुनीन्द्रमेतैः सभागतैः शास्त्रिभिरार्यभद्रः ॥१५॥

लाला जगन्नाथजीने आदरपूर्वक उन प्रतिष्ठित जनों को यथा योग्य आसनों पर बैठाया और इस आर्य सद्गृहस्थने मुनीन्द्र दयानन्द को उन सभागत सब विद्वानों का परिचय कराया ॥१५॥

प्रणम्य देवं हलभृद् बुधेन्द्रः समं मुनीन्द्रेण चकार चर्चाम् ।
उद्दिश्य पूर्वं प्रतिमार्चनां स कादम्बरीपानमथच्छलेन ॥१६॥

पं. हलधरने महर्षि को प्रणाम करके उनके साथ प्रथम प्रतिमापूजापर चर्चा की; पश्चात् छलसे उसने मदिरापान का विषय छेडा ॥१६॥

कार्या न चर्चा विषयं विहाय मैरेयपानं निगमप्रतीपम् ।
सुत्रामयागे मदिरानिपानं सिद्धं विरुद्धं निगमात्कथं नु ? ॥१७॥

महर्षिने कहा–'शास्त्रीजी ! प्रकृत विषय को छोडकर अन्य विषय की चर्चा न कीजिये । मदिरापान तो वेद विरुद्ध है' पण्डितजी बोले–"सौत्रामण्यां सुरां पिबेत् ।" इस वचन से सुत्राम यागमें मद्य पीने की आज्ञा है । तो आप उसे कैसे वेद विरुद्ध कहते हैं ! ॥१७॥

तात्पर्यमत्रास्ति हि सोमवल्ल्या रसानुपाने न तु मद्यपाने ।
शास्त्रेषु सर्वेषु निषिद्धमेतद् बुद्धिश्च यल्लुम्पति तद् विवर्ज्यम् ॥१८॥

ऋषि बोले–'यहाँ सोमवल्ली के रसानुपानमें उस वचन का तात्पर्य है', न कि मद्यपानमें!! यह मदिरापान तो सर्व शास्त्रोंमें निषिद्ध ही है । जो द्रव्य बुद्धि का नाश करता है; वह तो वर्जनीय ही है ।' इसमें यह प्रमाण है–'बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते ॥' ॥१८॥

संन्यासिनो लक्षणमुच्यतां तत् संकल्पकेशः सकुसुम्भवासाः ।
पात्री स दण्डी विचरेदहिंसन् भूतानि नित्यं नियतो विरक्तः ॥१९॥

पं. हलधर मौन हो गया । फिर उसने पूछा–सन्यासी का लक्षण क्या है ? स्वामीजीने कहा–'कल्पितकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयत्' । मनु० अ० ६ । श्लो० ५२ 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद्वा ॥' 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ।' ब्राह्मणवचन ॥ सन्यासी केश, मूँछ, दाढी, नख दूर करके, पात्र, दण्ड, और कुसुम्भ रंग के वस्त्र धारण करे तथा किसी प्राणी को पीडा न देता हुआ सदा नियममें रहकर विचरण करे । जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन सन्यास ले लेवे, वानप्रस्थ आश्रमसे 'वा गृहस्थाश्रमसेवा ब्रह्मचर्याश्रमसे ॥१९॥

इत्यादि संन्यासिसुलक्षणं भो आख्याहि विप्रस्य नु लक्षणं त्वम् ।
वाक्यद्वयं देवगिराऽभिधाय तूष्णीं स आस्तेति बभाण वाग्मी ॥२०॥

इस प्रकार सन्यासि लक्षण का वर्णन करके स्वामीजीने ओझाजीसे पूछा कि–'हे विद्वन् ? आप विप्र का लक्षण कहिये ।' ओझाजी संस्कृतमें दो वाक्य बोलकर चुप हो गये । वे संस्कृत नही बोल सकते यह देखकर ऋषिने कहा कि— ॥२०॥

भाषस्व लोकोदितभाषयैव मा त्वं गमः प्रस्तुतबाह्यशास्त्रे ।
प्रादिं प्रयोगिन् ? करणान्तशब्दं संसाधय व्याकरणे गतिश्चेत् ॥२१॥

'आप भाषामें कहिये और प्रकरणके बाहर न जाइये ।' ओझाजीने कहा आप बार २ प्रकरण शब्द का प्रयोग करते हैं; तो प्रकरण शब्द सिद्ध कीजिये; यदि व्याकरण शास्त्रमें आपकी गति हो ! ! ॥२१॥

ल्युट्प्रत्यये धातुकृञः प्रपूर्वात् तच्छब्दनिष्पत्तिरिति प्रबोध ।
धातुस्समर्थो ननु वा ऽसमर्थः समर्थ एवास्ति विधिः पदानाम् ॥२२॥

प्रपूर्वक 'डुकृञ् करणे' धातुसे ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रकरण शब्द की सिद्धि होती है । ओझा०–धातु समर्थ होता है वा असमर्थ होता है ? स्वा०–'समर्थः पदविधिः' इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार धातु समर्थ होता है ॥२२॥

किं सोऽसमर्थो गदितो महात्मन् ? सापेक्षकार्यो ह्यसमर्थशब्दः ।
किमत्र मानं तदिदं महर्षेः पतञ्जले र्भाष्यमये ! प्रमाणम् ॥२३॥

ओझा०–असमर्थ किसे कहते हैं ? सापेक्षोऽसमर्थोभवति । अपेक्षा करनेवाला असमर्थ होता है । ओझा०–इसमें क्या प्रमाण है ? स्वा०–इसमें महर्षि पतञ्जलि का भाष्य प्रमाण है ॥२३॥

नेदं महाभाष्यवचो विभाति पातञ्जलं पश्य नु भाष्यमेतत् ।
भाष्यं तदादाय करे हलाय प्रदर्शितं तन्मुनिना वचोऽस्मै ॥२४॥

ओझा०—यह भाष्य का वचन नहीं है । स्वा०—यह देखो—पातञ्जल महाभाष्य ! ! मुनिवरने वह महाभाष्य हाथमें लेकर उस हलधर ओझा को वह वचन दिखला दिया ॥२४॥

प्रकाण्डपाण्डित्यमृषे विलोक्य विसिष्मिये पण्डितमण्डली सा ।
न्यूनं वचो नो मम भाष्यकारात् तत्सन्निभोऽस्मीति हलो बभाषे ॥२५॥

महर्षि का प्रकाण्ड पाण्डित्य देखकर सभागत पण्डित मण्डली आश्चर्यसागरमें मग्न हो गई । क्रोधमें भरकर हलधरशास्त्रीने कहा कि—'मै भाष्यकार के समान हूँ अतः मेरा वचन भाष्यकार के वचन से कम नही है' ॥२५॥

पतञ्जलेस्त्वद्गणना पुरः का पाण्डित्यगर्वो यदि कल्मसंज्ञा ।
कस्यास्ति मे त्वं वद दर्पशालिन्नित्येष पृष्टो यतिनाऽऽस्त मौनम् ॥२६॥

पतञ्जलि मुनि के सामने आप किसी गणनामें नहीं है । अच्छा, यदि पाण्डित्य का गर्व है तो हे दर्पशालिन् ? बताइये—'कल्म' किसकी सज्ञा है ? इस प्रकार स्वामीजीने पूछा । तब वह हलधरशास्त्री चुप हो गया ॥२६॥

श्रीपाणिनीये 'ऽकथितञ्च' सूत्रे तद्भाष्यकृद्भि र्विहिताऽस्ति संज्ञा ।
कल्मेति सा कर्मण एवमुक्ते मुक्तस्पृहेऽरङ्क्त मनीषिपङ्क्तिः ॥२७॥

जब ओझाजी को फिर कुछ उत्तर न बन आया; तब स्वामीजीने कहा कि—'कथितञ्च' इस सूत्र के भाष्यमें महा भाष्यकारने कर्म की कल्म संज्ञा की है; यह सुनकर पण्डितमण्डली वीतराग मुनीन्द्र पर अनुरक्त हो गई ॥२७॥

निर्णीतमन्तेऽतिनिशीथकाले वादः पुनः श्वो भवितेति सभ्यैः ।
सूत्रे 'समर्थे'ति यतिर्यदीदं सर्वत्र युज्येत जयो भवेत्सः ॥२८॥

सब लोग मन ही मन स्वामीजी की सहस्र मुखसे प्रशंसा करने लगे । इस समय रात्रि का एक बज गया था; अन्त को यह निश्चय हुआ कि कल फिर शास्त्रार्थ हो । 'समर्थः पद विधिः' सूत्र यदि सर्वत्र लगे तो स्वामीजी की जय समझी जाय; और यदि यह सूत्र एक स्थान पर लगे तो हलधर पण्डित की। इस प्रकार सभ्य लोग निश्चित करके अपने घरको चले गये ॥२८॥

सभा द्वितीयेऽह्नि सुचन्द्रिकायां बभौ निशायां जनसंविमर्दा ।
उपद्रवं कर्तुमना जनाली नाथेन वाग्वज्रबलेन रूद्धा ॥२९॥

ज्येष्ठ शु. ११ को रात्रि के आठ बजे द्वितीय सभा चान्दनी रातमें फिर संगठित हुई । कुछ लोग उपद्रव करने पर उतारू हो गये ! उन्हें लाला जगन्नाथने डाँट दिया; तब शान्ति स्थापित हुई । इस रात भीड अधिक थी ॥२९॥

गोघातपापं श्रयतां जनं तं वादं विदध्यान्नहि यः सभायाम् ।
इति प्रतिज्ञां समुदीर्य तारं तीर्थेश्वरोऽवत हलं बुधं सः ॥३०॥

तब स्वामीजीने अपनी प्रतिज्ञा को दुहराया कि जो शास्त्रार्थ न करेगा उसको गोघातक का पाप लगेगा । फिर गुरुदेव पण्डित हलधर को सम्बोधन करके उच्च स्वर से बोले ॥३०॥

संन्यासिनः स्मो विजितावयं चेन्नो कापि हानिर्गृहमेधिनस्ते ।
भंगेन हानि विपुलाभवित्री विचिन्तय त्वां ननु बोधयामि ॥३१॥

हमतो सन्यासी हैं । यदि हार गये तो कोई बात नहीं । परन्तु आप घरबारी गृहस्थ हैं पराजय होने से आपकी बडी भारी हानि होगी । मैं कहता हूँ इस पर विचार कीजिये ॥३१॥

पराजितस्स्यां किमिवाहमर्हन् ? पक्षो ममायं तु नितान्तसत्यः ।
मिथ्याग्रही सीरधरः स इत्थं संबोधितोऽलं समभाषतैव ॥३२॥

हे माननीय मुनीन्द्र ! मैं हारूँगा क्यों ? मेरा तो पक्ष सर्वथा सत्य है; इस प्रकार हलधर मिथ्याग्रह से बोलता ही गया ॥३२॥

दीपप्रकाशे परिगृह्यभाष्यं समर्थसूत्रोपरि लेखितां ताम् ।
व्याख्याञ्च संश्राव्य बुधांस्तदीयां व्याप्तिं तदाऽदर्शयदेव देवः ॥३३॥

तब स्वामीजी ने दीपक और महाभाष्य की पुस्तक मँगाकर 'समर्थ पदविधि' की व्याख्या सबको सुनाई और अनेक उदाहरणों से उक्त सूत्र की व्यापकता दिखलाई ॥३३॥

निरुत्तरं सीरधरं विभाव्य चर्चान्तरोपद्रवकारिधूर्त्तान् ।
संतर्ज्य नाथो विबुधानपृच्छद् ब्रूतानयोः को विजयीति सत्यम् ॥३४॥

यह देखकर हलधर चुप हो गया । कुछ पण्डित बीच मे दूसरी बात छेडना चाहते थे; परन्तु लाला जगन्नाथ ने खडे होकर उन उपद्रवकारी धूर्त पण्डितो को धमकाया और अन्य विद्वानो को लक्ष्य करके कहा कि-'हे विद्वज्जनों ! धर्म की साक्षी देते हुए कहिए कि किसकी विजय हुई ?' ॥३४॥

अवादिषुः केचन पण्डितेशा न्यायप्रिया निर्णयवाचमेवम् ।
सत्यां प्रतिज्ञां न विधातुमीशो निजां बुधेन्द्रो हल एष नूनम् ॥३५॥

कितनेक न्यायप्रिय विद्वानों ने यह निर्णय वाणी कही कि 'सचमुच' पं. हलधरजी अपनी प्रतिज्ञा प्रमाणित नहीं कर सकें ॥३५॥

बुधस्यवस्थावचनं हलस्य श्रोत्रेऽपतद् वज्रनिभं तदानीम् ।
मानो विभग्नो हृदयं विदीर्णं विचेतनोऽयं च पपात भूमौ ॥३६॥

पडितों के व्यवस्था वचन हलधर के कानों पर वज्र समान गिरे । उसका हृदय चूरचूर हो गया । मानमर्दित और घमण्ड खण्ड खण्ड होकर उसकी गौरव गरिमा मिट्टी मे मिल गई । वह मूर्छा खाकर भूमि पर गिर गया ॥३६॥

जयश्रियाऽऽलिङ्गित आर्यदेवोऽसमक्षया शास्त्रिवरश्च विज्ञाः ।
आश्चर्यलक्ष्म्या रिपवश्च भीत्या भक्ता मुदा साधुगिरा च सन्तः ॥३७॥

आर्य के हृदयसम्राट विजय-लक्ष्मी से, पौराणिकों के पण्डित अपकीर्ति से, न्याय प्रिय विद्वान् आश्चर्य कान्ति से, शत्रु गण भीति से, भक्त जन प्रीति से और सत लोग धन्य धन्य वाणीसे युक्त होकर सुहाते थे ॥३७॥

आलोकनादं जनता व्यतानीत् तदामहर्षे विजयेन तुष्टा ।
निःश्वासमुष्णं खलमण्डली सा सुदीर्घमाशीविषवच्च भग्ना ॥३८॥

उस समय महर्षि के विजय मे सारी जनता चकित थी । प्रसन्न होकर एक ओर आधी जनता स्वामीजी का जयघोष कर रही थी और दूसरी ओर सर्प के समान क्रुद्ध हुई खल-मण्डली सुदीर्घ और उष्ण निश्वास ले रही थी ॥३८॥

विमूर्च्छितोऽनायि हलेनिवासं मित्रैस्ततोऽयं यशसा विहीनः ।
खिन्नो विपन्नो नगराद्धताशो विनिर्ययौ मंक्षु विवर्णवक्त्रः ॥३९॥

उस मूर्च्छित प. हलधर को उनके साथी उठाकर घर ले गये । पश्चात् वह कीर्ति से रहित होने के कारण निस्तेज और हताश होकर नगर से शीघ्र भाग गया ॥३९॥

यतेः पदान्ते निखिलां निशां ते जना निषण्णा अनुरागिणोऽलम् ।
आस्वादयत् प्रीतमना मनोज्ञो ज्ञानामृतं तान् जनशंकरोऽपि ॥४०॥

भक्त जन भगवान् दयानन्द के चरणों में सारी रात बैठे रहे । लोक कल्याणकारी, मनोहरकान्तिधारी, आदित्य ब्रह्मचारी प्रसन्न मनसे प्रेमपूर्वक उन सज्जनों को ज्ञानामृत चखाते रहे ॥४०॥

अथ भ्रमन्मस्करिसार्वभौमः कलिन्दकन्यासरिदन्तकान्तम् ।
श्रीकान्यकुब्जं पुरमेत्य रेजे देवालयालिन्दतले विलेपः ॥४१॥

अनन्तर संन्यासि सम्राट भ्रमण करते हुए स. १९२६ के आषाढ मास में कन्नोज पहुचे । और कालिन्दी नदी के तट पर गौरीशंकर महादेव के चबूतरे पर विराजमान हुए ॥४१॥

सत्संगमार्थं नगराद् बुधाली ययौ तदास्यां हरिशंकरेण ।
विदां वरेणाजनि शास्त्रचर्चा यतिक्षितीन्द्रस्य मनोऽभिरामा ॥४२॥

नगर के पण्डितगण उनके सत्सङ्ग के लिये आये । उनमें प्रसिद्ध पण्डित हरिशंकर शास्त्री थे; उन्होंने यतीश्वर के साथ मनोरंजक शास्त्रार्थ किया ॥४२॥

किं नाम धीमन्? नहि नाम वाच्यं नैजं गुरोर्वा कृपणस्य वेति ।
संकल्पपाठे किमु नैव वक्ति प्रख्यातकीर्त्ते? सभवानभिख्याम् ॥४३॥

जब पण्डितजी स्वामीजी के पास गये; तो उन्होंने पंडितजी का नाम पूछा । पडितजीने एक श्लोक पढा "आत्मनाम गुरोनाम नामापि कृपणस्य च" इस श्लोक के अनुसार नाम लेना वर्जित है ऐसा उन्होंने उत्तर दिया । स्वा०–हे सुकीर्तिशालिन्! क्या आप सकल्प पढते समय अपना नाम नही लेते? ॥४३॥

निरुत्तरीभूय तदात्मनाम स्वामीन्द्रमाख्यद् विनयाञ्चितात्मा ।
बभूव वैयाकरणाग्रणीः स प्रेक्षावतां पङ्क्तिषु चाग्रगण्यः ॥४४॥

इस पर निरुत्तर होकर विनयशील पण्डितजी ने अपना नाम बता दिया । पण्डितजी बडे अच्छे वैय्याकरण थे और कन्नोज के विद्वानों में अग्रगण्य थे ॥४४॥

जडार्चनां खण्डयता मखाद्यं कर्मामलं मण्डयता सताऽलम् ।
मेधाविनाऽमुष्य चचाल संख्या संख्यावतो मञ्जुलदेववाचा ॥४५॥

स्वामीजीने मूर्तिपूजा के खडन और पञ्चमहायज्ञादि के मंडन पर वक्तृता दी । इस पर पंडितजी से मधुर देववाणी में मेधावि मुनिवर का शास्त्रार्थ हुआ ॥४५॥

निषेधवाक्यं प्रतिमार्चनस्य पठेद्भवांस्तस्य विधानवाक्यम् ।
ग्राह्या सदाचारपदेन पूजा मैवं वदेः पञ्चमखास्तु वेद्याः ॥४६॥

प.–आप मूर्तिपूजन का निषेध वाक्य पढिये? स्वा०–आप उसका विधान वाक्य पढिये? प.–"वेदः स्मृतिः सदाचारः" इत्यादि मनु के श्लोकसे सिद्ध होता है कि–मूर्तिपूजा सदाचार है। स्वा०–सदाचार तो पञ्चमहायज्ञादि हैं ॥४६॥

रक्षेन्नृपस्ताः प्रतिमा इतीदं मनोर्विधानं प्रतिमावनार्थम् ।
धान्यादि संतोलनलौहमूर्त्तिप्रमाणिकारक्षणमस्य भावः ॥४७॥

शास्त्रेऽपि मीमांसन ईदृगुक्तं नताद्दगुक्तं मुनिनाऽप्यवादि ।
इदङ् न लेखो यदि चेह सूत्रं शिखाञ्च हित्वा हि यतिर्भवेयम् ॥४८॥

पं–राजा प्रतिमाओं की रक्षा करे–यह मनु भगवान् का विधान प्रतिमा रक्षा के लिये है । स्वा०–इस श्लोक में तो प्रतिमा के अर्थ अनाजादि तोलने के (बाट) तौल के हैं । पं. –पूर्वमीमांसा में भी ऐसा ही लिखा है । स्वा०–ऐसा नहीं लिखा है । पं.–यदि पूर्वमीमांसा में ऐसा लेख न हो तो मैं शिखा सूत्र त्यागकर संन्यासी हो जाऊँगा ॥४७–४८॥

इयं तु वाञ्छा भवतोऽस्ति किन्तु नो जैमिनीये भवदुक्तलेखः ।
अत्रैव वार्त्तावसितिं गतेयं तयोस्तदानीं यतिविज्ञयेऽस्तु ॥४९॥

स्वा०—यह आपकी इच्छा की बात है; किन्तु जैसा आप कहते हैं; वैसा लेख नहीं है । उस समय उन दोनों की बात यहीं समाप्त हो गई ॥४९॥

गत्वागृहं पण्डित एष शास्त्रे दृष्ट्वा दयानन्दयथोक्तलेखम् ।
आचष्ट मित्राण्ययमात्मपक्षं भग्नं यतिस्तद्भवितुं सुसज्जः ॥५०॥

पडितजी ने घर पर आकर मीमांसा शास्त्र देखा तो वैसा ही लेख पाया जैसा स्वामीजी कहते थे । उन्होंने अपने मित्रों से कहा कि मेरा पक्ष गिर गया; मैं संन्यासी होने को तैयार हूँ ॥५०॥

मत्वा न मित्रोदितवाक्छलं स सत्यप्रियः पण्डित एत्य देवम् ।
जितोऽस्मिवादे भगवन् प्रदेहि संन्यासदीक्षामिति संजगाद ॥५१॥

मित्रोंने कहा कि–आप स्वामीजीसे वाक् छल कीजिये । उन्होंने यह बात स्वीकार न की; क्योंकि वे सत्यप्रिय पुरुष थे । दूसरे दिन उन्होंने स्वामीजी के पास जाकर कहा कि–'भगवन् मैं हार गया मुझे सन्यास दीजिये' ॥५१॥

ज्ञानेन संन्यास उदीरितोऽयं योग्यो ग्रहीतुं न पराजयेन ।
सत्यप्रियत्वं भवतोऽभिनन्द्यं दृष्टो भवादृङ् नहि धार्मिकोऽन्यः ५२॥

स्वामीजीने कहा–सन्यास ज्ञान से होता है; हार-जीत की प्रतिज्ञा पर संन्यास लेना ठीक नहीं है । आपकी सत्यप्रियता अभिनन्दनीय है हमने आप जैसा सत्यवादी और धार्मिक पडित नहीं देखा ॥५२॥

इत्थं सभायां हरिशङ्करं तं शंसन्नगादीन्मनुजान्मुनीन्द्रः ।
आदर्श एषोऽस्ति पुरातनानां विद्वन्मणीनां खलु धार्मिकाणाम् ॥५३॥

मुनीन्द्रने सभा में प. हरिशंकर की प्रशंसा करते हुए कहा कि–ये प्राचीन काल के पंडितों के आदर्श हैं ॥५३॥

पौराणिकै र्यद्यपि पीडितोऽयं शनैः शनै र्वेदपथानुयायी ।
भूत्वा विनेयोऽजनि योगिराजः सत्याङ्कुरः क्व प्रलयं प्रयाति ॥५४॥

पौराणिकों ने यद्यपि उस पडित पर दबाव डाला तो भी वह पडित धीरे धीरे योगिराज का शिष्य होकर वेदपथानुगामी बन गया । सत्य का अंकुर कैसे नष्ट हो सकता है ? ॥५४॥

देवोपदेशं विमलं निशम्य सत्यप्रकाशोऽभवदात्मनीति ।
अन्येऽपि विज्ञा निजजन्मधन्यं विधातुकामामुनिमन्वयुस्ते ॥५५॥

दयानन्ददेव के पवित्र उपदेश सुनकर अनेक विज्ञजनों के आत्मा में सत्यका प्रकाश हुआ; अतः वे मानव जन्म को सफल बनाने की इच्छा से स्वामीजी के अनुगामी बन गये ॥५५॥

धर्मं वितन्वन्निति धार्मिकेन्द्रस्ततो दिगन्तेषु निखाय केतून् ।
जयश्रियामण्डित आजगाम भ्रमन्मुदा कर्णपुरं महेच्छः ॥५६॥

इस प्रकार धार्मिक-सम्राट धर्मप्रचार करते हुए वहाँ से प्रस्थान कर दिगन्तों में विजय-पताका (फहरा) उडाते हुए विजय लक्ष्मी मडित होकर घूमते घामते आनन्द से कानपुर जा पहुँचे ॥५६॥

भागीरथीरोधसि भैरवीयदेवालयाभ्यर्णसुतीर्थगेहे ।
रराज वर्षागमरम्यकाले गर्जन्स्स धर्मामृतवर्षिमेघः ॥५७॥

भागीरथी के तट पर भैरव के मन्दिर के पास बाबू दरगाहीलाल वकील के घाट पर ठहरे । वर्षा का मनोहर समय था; अतः वहीं धर्ममेघ बनकर ऋषि गरजते हुए वेदामृत बरसाने लगे ॥५७॥

हेयाष्टगप्पं सुहिताष्टसत्यं विज्ञापनं कर्णपुरे वितीर्णम् ॥
हितैषिणाऽनेन नृणां मनःखं सत्यप्रकाशोज्ज्वलितं विधातुम् ॥५८॥

हितैषी ऋषि ने मनुष्यों के हृदयाकाश को सत्य प्रकाश से उज्वल बनाने के लिये कानपुर में आठ गप्प—१ सब मनुष्य कृत ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण । २ देवता बुद्धि से पाषाणादि पूजा । ३ शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य आदि संप्रदाय । ४ तन्त्रग्रन्थोक्त वाममार्ग । ५ भाग आदि मादकद्रव्यों का सेवन । ६ परस्त्रीगमन । ७ चोरी । ८ छल, कपट, अभिमान मिथ्याभाषण त्याज्य हैं और आठ सत्य—१ ऋग्वेदादि ईश्वरकृत चार वेद और ऋषिकृत अन्य १७ ग्रन्थ २ ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर गुरुकी सेवा और स्वधर्मानुष्ठान पूर्वक वेदों का अध्ययन । ३ वेदोक्त वर्णाश्रम मे स्वधर्मअनुकूल सन्ध्या वदनादि, अग्निहोत्रादि करना । ४ पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, ऋतुकाल में अपनी स्त्री मे सहवास,, श्रुति, स्मृति, सदाचार के अनुकूल आचरण । शम, दम, तपश्चरण यमादि से लेकर समाधि तक उपासना, सत्सगपूर्वक वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान । ६ विचार, विवेक, वैराग्य और पराविद्या का अभ्यास व सन्यास ग्रहण करके सब कर्मों के फल की इच्छा त्याग । ८ ज्ञान विज्ञान से सब प्रकार के अनर्थ मरण, जन्म, हर्ष, शोक, काम, क्रोध, लोभ मोह, संगदोष के त्यागने का अनुष्ठान । ८ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, तमस्, रजस्, सत्व सब क्लेशों की निवृत्ति, पञ्चमहाभूतों से अतीत होकर मोक्ष के स्वरूप और स्वराज्य की प्राप्ति । ग्राह्य हैं इस विषय पर विज्ञापन सस्कृत में छपवाकर बटवाये ॥५८॥

गप्पाष्टकाभञ्जनवायुचक्रैः क्षुब्धस्स पौराणिकमण्डलाब्धिः ।
मिथ्यापवादोर्मिभिरार्यशैलं प्रायस्यदाप्लावयितुं मुधैव ॥५९॥

आठ गप्पों के खंडनरूप आन्धी से पाखण्डिक दल सागर क्षुब्ध हो गया अतः उसने मिथ्या अपवादरूपी लहरों से मुनीन्द्ररूपी पर्वत को आप्लावित करने का वृथा ही प्रयत्न किया ॥५९॥

सत्येापदेशात्कुपितौ धनाढ्यौ केलासवैकुण्ठसृजौ द्विजौ यत् ।
वादोद्यतं चक्रतुरर्थसिद्ध्यै सलक्ष्मणं शास्त्रिहलं सताऽलम् ॥६०॥

स्वामीजी के सत्योपदेश से प्रयागनारायण और गुरुप्रसाद नामक दो धनाढ्य ब्राह्मण क्रोधित हो गये। इन दोनों ने कैलाश और वैकुंठ नामके दो मन्दिर बनवाये थे। इस विषय में स्वामीजी ने उनको उलहना दिया था। उन लोगों ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये श्रावण वदी संवत १९२६ को (३१ जुलाई सन १८६९) लक्ष्मण शास्त्री और हलधर ओझा को उद्यत किया ॥६०॥

स संस्कृतज्ञो नृपकर्मचारी येनाभिधोऽध्यक्षपदे विरेजे ।
उपस्थिता राजसदस्यविज्ञा आंग्लाः सभायां यवनाश्च मान्याः ॥६१॥

इस शास्त्रार्थ में अनेक उच्च पदाधिकारी कर्मचारी भी आये। सहायक कलेक्टर महाशय येन अध्यक्ष पद पर विराजमान थे अनेक अंग्रेज और सभ्य मुसलमान भी आये थे ॥६१॥

शास्त्रार्थसंलोचनकौतुकेन चतुर्गुणाः पञ्चसहस्रपौराः ।
समागता वृक्षनिकेतनाग्रानारुह्य संघट्टतया निषेदुः ॥६२॥

शास्त्रार्थ देखने के कुतूहल से २०००० बीस हजार जनता एकत्रित हुई थी। पेड़ों पर छतों पर मनुष्य बैठे हुए थे ॥६२॥

विज्ञापने व्याकरणाशुचित्वं तदप्यगण्येऽस्ति यते ! त्वदीये ।
विद्यार्थिनां कार्यमिदं सभायां न चर्चनीयं विषयं विहाय ॥६३॥
यदर्थमेषा जनता समेता प्रस्तूयतां तं ह्यभिलक्ष्य वादः ।
श्वः प्रत्यं मत्पार्श्वमिदं तु पृच्छे निराकरिष्यामि तवात्र शंकाम् ॥६४॥

पं. हलधर—स्वामीजी ! आपने जो अप्रगण्यम् और अप्रमत्यम् का विज्ञापन दिया है उसमें व्याकरण की अशुद्धि है। स्वा०—यह बातें विद्यार्थियों की है। सभा में जिसके लिये इतनी जनता इकट्ठी हुई, उस विषय को छोड़कर अन्य विषय नहीं उठाना चाहिये। व्याकरण के विषय में तुम कल मेरे पास आना, मैं समझा दूँगा, इस समय मूर्तिपूजा को लक्ष्य करके वाद चलाओ ॥६३-६४॥

मान्यं महाभारतमां मतं मे भिल्लेन शास्त्राकलनाय मूर्त्तिम् ।
द्रोणस्य संपूज्य धनुष्कलां तामभ्यस्य दक्षेण न किं बभूवे ॥६५॥

हलधरने पूछा—आप महाभारत मानते हैं ? स्वा०—हाँ मैं मानता हूं। हल०—एकलव्य भीलने द्रोणाचार्य की मूर्तिपूजा कर धनुर्विद्या का अभ्यास किया; उसे यह फल मिला कि वह शस्त्रविद्या में निपुण हो गया अतः मूर्तिपूजा बहित सिद्ध होती है ॥६५॥

शस्त्रप्रयोगे पटुता न मूर्त्तेः प्रपूजया किन्तु फलं कृतस्य ।
निरन्तरस्याभ्यसनस्य तस्य नैतावता सिद्ध्यति मूर्त्तिपूजा ॥६६॥

स्वा०–शस्त्र प्रयोग में जो निपुणता हुई वह मूर्तिपूजा का नहीं किन्तु उसके निरन्तर अभ्यास का फल था इससे मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती है ॥६६॥

अज्ञानिभिल्लप्रतिमार्चनं तत् प्रमाणभूतं विबुधै र्न गण्यम् ।
श्रौतं वचो दर्शय देवमूर्त्तेः पूजाविधाने प्रतिपादकं यत् ॥६७॥
आज्ञा न वेदे प्रतिमार्चनाया विद्येत चेन्नास्त्यपि तन्निषेधः ।
वेद्यो निषेधो विधिरेव नो चेत् प्राचीं व्रजेत्युक्त इतोऽन्यभंगः ॥६८॥

स्वा० अज्ञानी भील का प्रतिमा पूजन विद्वानों के प्रमाण योग्य नही माना जाता । देव-मूर्ति के पूजा विधान का कोई वेदमन्त्र दिखलाओ कुछ देर चुप रहने के बाद हलधर ने पूछा वेद में प्रतिमा पूजन की यदि आज्ञा नहीं तो निषेध भी कहां है ? स्वा० यदि विधि नहीं है तो निषेध ही समझना चाहिये । यदि कोई मनुष्य अपने मृत्य से पूर्व को ओर जाने को कहे तो वह समझ ही लेगा कि वह पश्चिमादि दशा में जाने का निषेध करता है ।६७-६८।

अकायताऽवर्णि विभोः प्रकाशं मन्त्रेष्वनेकेषु निराकृतेः सा ।
मूर्त्ते र्विधानं कुहचिन्न दृष्टं पूजाविधिस्तिष्ठतु दूरतोऽद्धा ॥६९॥

स्वा०–अनेक मन्त्रोंने निराकार, सर्वव्यापक ईश्वर की अमूर्तता का वर्णन स्पष्ट रीतिसे किया है; कहीं भी उसके मूर्तरूप का वर्णन नहीं है । फिर उसके शरीर की पूजा तो दूर रही ॥६९॥

मौनं प्रपन्ने हलभृत्यमुष्मिन् स लक्ष्मणोऽपृच्छदिनं यतीनाम् ।
व्याप्तः प्रभु र्विश्वत एष तस्मादस्त्येव सुग्रावणि तत्र पूज्यः ॥७०॥

इसपर हलधर पंडितने मौन धारण कर लिया । तदनन्तर लक्ष्मण शास्त्रीने यतीश्वरसे पूछा–ईश्वर सर्वव्यापक है तो पत्थरमें भी है; फिर मूर्तिपूजनमें क्या दोष हे ? ॥७०॥

स चेतनेऽप्यस्ति तदा जडे का विशिष्टता चेतनवर्जमस्य ।
समर्चने मंगलमद्दमनः किं हृद्येकवेद्यो विभुरात्मविद्भिः ॥७१॥
इत्यादिशास्त्रोक्तिसुयुक्तिवाग्भि र्वाचंयमौ तौ विहितौ बुधेन्द्रौ ।
वादे यदा वेदविदां वरेण चित्रार्पिताभूदखिला सभाऽपि ॥७२॥

स्वा०–जब वह चेतनमें भी है तो जडमें विशेषता क्या है ? चेतन को छोडकर, जड की पूजामें क्या भलाई है ? इसे सुनकर लक्ष्मणशास्त्रीने मौन धारण कर लिया । स्वा०–आत्मवेत्ता लोग हृदयमें ही उस ईश्वर का दर्शन करते हैं । जब वह अपने पास है; तब उसके दर्शन के लिये अन्यत्र भटकने की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि प्रमाण और युक्तियोंसे वेदवेत्ता मुनिने शास्त्रार्थमें दोनों पंडित प्रवरों को चुप कर दिया । सारी सभा चित्रवत् स्तब्ध हो गई । ॥७१-७२॥

अध्यक्षश्थेनो मुनिमन्वयुङ्क्त यदग्निमध्ये हविरादि हुत्या ।
श्रीमान् किमर्थं कुरुतेऽग्निपूजां नोपर्बुधं तं वयमर्चयामः ॥७३॥

तत्पश्चात् अध्यक्ष श्येन साहेबने स्वामीजीसे पूछा—आप अग्निमें होम करके उसकी पूजा क्यों करते हैं ? स्वा०—हम अग्नि की पूजा नहीं करते ॥७३॥

वाय्वादिनत्त्वात्ममनोविशुद्ध्यै रोगापनुत्त्यै ज्वलने हवींषि ।
विज्ञानदृष्ट्या जुहुमोऽमुमास्य कृत्वाऽणुमर्थं नयतेऽनलः स्वम् ॥७४॥

हम अग्निमें घृत आदि द्रव्य वैज्ञानिक दृष्टिसे डालते हैं; इसमें डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर सर्वत्र आकाशमें फैल जाता है; जिससे वायु, जल आदि तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं । इनकी शुद्धिसे अनेक रोग दूर हो जाते हैं । अन्न, जल आदि नीरोग और शुद्ध हो जानेसे मनुष्यों का आरोग्य बढता है, तथा मन भी शुद्ध हो जाता है; अतः हम हवन करते हैं ॥७४॥

लोकोत्तरस्योत्तरमाप्य योग्यं सभापतिः प्रीतमनास्सदस्यान् ।
हे सज्जनाः ! सज्जनरत्नपक्षो वेदानुकूलः शुभतर्कमूलः ॥७५॥
कल्याणहेतु र्वरधर्मकेतु र्भवाब्धिसेतुः प्रतिभाति मे तु ।
सत्यं जयश्री र्वृणुते यतीन्द्रं निवेद्य चैवं स ययौ स्वगेहम् ॥७६॥

लोकोत्तर महापुरुष का योग्य उत्तर सुनकर सभापति महोदयने प्रसन्न होकर सभामें कहा—हे सज्जनों ! ऋषि दयानन्द का पक्ष वेदों के अनुकूल, सुतर्कोंसे युक्त, मानव-मङ्गल-कारक, संसार-सागर-तारक, और श्रेष्ठ धर्म का सूचक मुझे तो प्रतीत होता है । सचमुच ! विजय-लक्ष्मीने यतीन्द्र दयानन्द को वरा है ! ! इस प्रकार निवेदन करके श्येन साहब अपने घर चले गये ॥७५-७६॥

शास्त्रार्थसारश्रवणेन पौराः सदीश्वरज्ञानमहो विदित्वा ।
मालां मलानामिव मूर्त्तिपंक्तिं प्रावाहयन् देवनदीप्रवाहे ॥७७॥

नगरवासी जन शास्त्रार्थ का सार सुनकर, और सत्य ईश्वर का स्वरूप जानकर, पापों की माला की तरह मूर्त्तियों को गंगामें बहाने लगे ॥७७॥

शास्त्रार्थभूकम्पवशेन मूर्त्तिप्रपूजनामन्दिरकन्दरीन्द्राः ।
मातुः पृथिव्या उदरे निलीय स्वनामशेषां विजहुर्विभूतिम् ॥७८॥

शास्त्रार्थरूपी भूकम्प के कारण, पाषाण पूजा के मन्दिररूपी गिरीन्द्र, पृथ्वी माता के उदर-दरी में समाकर, केवल नाम को पीछे छोड गये ॥७८॥

इयान् दयानन्दरवेः सुविद्याबुद्धिप्रतापोऽनुपमं दिदीपे ।
येनात्र रात्रावपि कन्दरेऽपि नापुः पदं क्वापि सुदम्भिघूकाः ॥७९॥

दयानन्द रवि की सुविद्या, और बुद्धि का प्रताप इतना अधिक चमकता था कि जिसके मारे पाखण्डीरूप उलूकगण, रात्रिमें भी कहीं गिरिकन्दरामें त्राण नहीं पास के ॥७९॥

ज्ञानप्रभोत्फुल्लहृदम्बुजास्ते सन्तो विहंगा इव पुण्यकीर्त्तिम् ।
आनन्दतो मञ्जुलकण्ठनादैर्देवस्य नित्यं जगुरेव मुग्धाः ॥८०॥

सन्तरूपी विहङ्ग, ज्ञान प्रभासे विकसित हृदयकमल होने के कारण मुग्ध होकर दयानन्द देव की पुण्यकीर्ति को मञ्जुल कण्ठरवसे नित्य आनन्दपूर्वक गाया करते ॥८०॥

काश्मीरजौ पण्डितकाशिनाथनारायणौ योगिपदानुरक्तौ ।
सेवासु देवस्य रतावजस्रं प्रायोऽन्नमाश्नाद्धृदयस्य योगी ॥८१॥

काश्मीर देशवासी प. हृदयनारायण वकील व पं. काशीनाथ मुन्सिफ योगिचरणोंमे अनुरक्त थे । वे दोनों निरतर देव की सेवामे जाया करते । महर्षि प्रायः प. हृदय नारायण का भोजन ग्रहण किया करते थे ॥८१॥

यथेन्दवे सूर्यकरः प्रकाशं प्रदाय तं दीपयतिप्रकामम् .
आचार्यदेवो हृदयाय बोधं तथागमानांतमदीपयत्सः ॥८२॥

जिस प्रकार सूर्य की किरण चन्द्रमा को प्रकाश प्रदान कर उसे चमका देती है; वैसे ही गुरुदेव के उपदेशने हृदयनारायण के हृदय को प्रकाशमय बना दिया । वे देववाणीमें बोलने तक लग गये थे ॥८२॥

श्रियासुमेनं यमिनं विबुध्य स भक्तमालामणिरन्वयुङ्क्त ।
कदा नु गन्तासि गुरोऽन्वितः क्व ? विज्ञापयास्मानिति वीतरागम् ॥८३॥

यमीश्वर को अन्यत्र गमन करनेवाले जानकर उस भक्तमाला के रत्नस्वरूप हृदयनारायणने उनसे पूछा--हे गुरुदेव ! यहांसे आप कब और कहा जावेंगे ! यह हमें बतला दीजिये ॥८३॥

शक्तो न वेद्मि वेदयितुं सुभद्राः ! तं कञ्चनोदन्तमहं स्वतन्त्रः ।
इत्युत्तरं स्पष्टमुवाच योगी न निर्ममाणां ममता कुहाऽपि ॥८४॥

वीतराग योगीने स्पष्ट उत्तर दिया कि--हे भद्रपुरुषो ! मै स्वतन्त्र हू । मै आप लोगो को कुछ भी समाचार नहीं बता सकता ! निरमम संन्यासियों को कहीं भी ममत्व नहीं होता ॥८४॥

अध्युष्य मासत्रयमित्थमर्हन् महामुनिः कर्णपुरं ततोऽस्मात् ।
असूचितान्यव्रजनः प्रभाते कौपीन नस्ये परिहाय यातः ॥८५॥

पूज्यपाद महामुनि, कर्णपुरमें तीन मास निवास करके एक दिन प्रभात वेलामें अपने स्थान पर कौपीन और नस्य की पुडियाँ छोडकर विना किसी को सूचना दिये अनिर्दिष्ट स्थान को चले गये ॥८५॥

गंगातटस्थेषु पुरेषु वेदधर्मप्रचारं विदधन्मुनीशः ।
पुराणभाजां कुमतञ्चनिन्दन् ययौ स काशीश्वरराजधानीम् ॥८६॥

मुनीश्वर गंगा तट के नगरोंमें वेद धर्म का प्रचार करते हुए तथा पुराणमतवादियों के कुमत का खंडन करते हुए, काशी राज की राजधानी (रामनगर)में आश्विन कृष्ण १ सवत् १९२६ को जा पहुँचे ॥८६॥

राजप्रमोदोपवनोपकण्ठे लेष्टूपधानः सिकताश्रितायाम् ।
शिश्ये रमायां रमते। निशायां समग्रसंसारशुभाभिलाषी ॥८७॥

महोपलि स्वाह्निककर्मणेऽमौ निवृत्य सूर्योपमकाम्यकान्तिः ।
समागतानीशरसापगायां तरंगयामास तरन्त्सुहंसः ॥८८॥

समग्र संसार के मंगलाभिलाषी, परमहंसदयानन्द, राजवाटिका के समीप रात को मिट्टी के एक ढेले को तकिया बनाकर आनन्द से रेती ही में सोते रहे । सवेरे नित्यकर्मों से निवृत्त हो सूर्यसम कमनीय कान्तिवाले महर्षि, ब्रह्मानन्द गंगामें स्वयं तैरते हुए सत्संगी जनों को भी उसमें तैराने लगे ॥८७-८८॥

रात्रिन्दिवं खण्डनमीशमूर्त्तेः पाखण्डलीलान्तरकर्मणाञ्च ।
मुण्डीश्वरो मण्डनमेव चक्रे सन्ध्यामहायज्ञसुपञ्चकस्य ॥८९॥

रातदिन स्वामीजी ईशमूर्ति व तज्जन्य पाखंड लीलाओं का खंडन एवं सन्ध्या तथा पंच-महायज्ञों का मंडन किया करते ॥८९॥

विद्याम्बुधे र्निर्मलबोधचन्द्रप्रभा मुनेः पण्डितमण्डलेषु ।
काशीनिवासेषु निजप्रभावं निदर्शयामास मनोहरन्ती ॥९०॥

विद्या के समुद्र, मुनिवर के पवित्र उपदेशरूप चन्द्र की प्रभा काशीनिवासी, पंडित मंडली के मनों को हरण करती हुई अपना प्रभाव दिखा रही थी ॥९०॥

शैल्या मुनेः खण्डनमण्डनानां पाण्डित्यतर्कप्रतिभानबुद्धेः ।
चर्चाऽचलच्चारु बुधालयेषु हट्टेषु घट्टेषु मठेषु चापि ॥९१॥

मुनीन्द्र के खंडन और मंडन की शैली तथा पाण्डित्य एवं तर्कप्रतिभा बुद्धि की चर्चा मन्दिरोंमें, मठोंमें तथा हाट और घाट पर खूब होने लगी ॥९१॥

ज्योतिस्स्वरूपो विदुषां विभूषा काश्यामुदासीनयति र्न्यवात्सीत् ।
सत्यं बुभुत्सू सुजनौगृहीशौ तं निन्यतुः श्लाघ्ययतेरुपान्तम् ॥९२॥

काशीमें एक धुरन्धर विद्वान्, प. ज्योतिस्वरूप नामक उदासीन साधु निवास करता था । एक दिन श्री अविनाशीलाल खत्री और श्री हरवंशलाल, ये दो सज्जन, प्रशंसनीय संन्यासी दयानन्द के पास सत्य जानने की उत्सुकतासे उसको ले गये ॥९२॥

स्निग्धैः समं विश्वगुरुं प्रणम्य शुश्राव होरात्रयमस्य वाणीम् ।
प्रभाविताऽभूदमलै र्विचारैः कुशाग्रबुद्धया च बुधाग्रणीस्सः ॥९३॥

वह विद्वानों में अग्रगण्य, ज्योति स्वरूप मित्रों के साथ जगद्गुरु दयानन्द को प्रणाम करके तीन घण्टे तक श्री कथनों का श्रवण करता रहा। स्वामीजी के निर्मल विचारोंसे, अनुपम ज्ञानमे और कुशाग्र बुद्धिसे वह बहुत प्रभावित हुआ ॥९३॥

प्रादुर्बभूवुः प्रियतातरङ्गा स्तदन्तरंगाम्बुजिनीविभागे ।
आचष्टपृष्टः सुजनैस्स हृष्टो वेदानुकूलं यमिनो वचो यत् ॥९४॥

उसके हृदय सरोवरमें उसी समय महर्षि केलिये अनुराग की लहेरें उठने लगी। उसके दोनों साथियोने उससे कहा कि–'आप कुछ स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ कीजिये।' ईसपर ज्योतिः स्वरूपजीने कहा कि–'श्री स्वामीजी जो कुछ कहते हैं; वह सब वेदानुकूल है: फिर मै क्या चर्चा चलाऊँ ? ॥९४॥

चतुर्दशाहानि विचारणाऽलं वेदान्तशास्त्रेऽजनि योगिनाऽस्य ।
तेनान्ततः स्वामिविचारमाला कण्ठेधृता निर्मलसाधुनाऽथ्या ॥९५॥
अवैधमेवाविदुरश्मपूजां विदां वरा वस्तुतआदितोऽपि ।
नेशा निषेद्धु विशदं पुराऽमी स्वाम्युक्तिमेतर्हि समार्थयन्त ॥९६॥

योगीश्वर के साथ निर्मल साधु ज्योतिस्वरूपजी चौदह दिन पर्यन्त निरन्तर वेदान्त शास्त्र पर विचारणा करते रहें और अन्तमें उन्होंने स्वामीजी की विचारमाला हृदयमें धारण की। वास्तवमें प्रथममे ही इनके जैसे कितनेक विद्वान् पाषाण पूजा को शास्त्र प्रतिकूल ही जानते थे; किन्तु ये लोग पहले स्पष्टतया निषेध नहीं कर सकते थे; परन्तु इस समय स्वामीजीके कथन का समर्थन करने लगे ॥९५–९६॥

महामुनेः संगतिभाषणाभ्यां जवाहरः शास्त्रविदां वरोऽपि ।
हिताभिलाषी सुतरां स काशीवासी सदासीद् यमिनोऽनुयायी ॥९७॥

काशीवासी, शास्त्रोका विद्वान्, प. जवाहरदास भी महामुनि के सत्सङ्ग और उपदेशमे इनका अनुयायी हो गया तथा इनका अति हितेच्छुक बन गया ॥९७॥

बृहस्पतिश्रीबुधयोगतोऽमलः कलानिधिर्व्योमनिराजते यथा ।
ज्योतिःस्वरूपेण जवाहरेण स रराज काश्यां यतिचन्द्रमास्तथा ॥९८॥

जैसे आकाशमें गुरु और बुध नक्षत्र के योगसे कलाधर निर्मल चन्द्रमा चमकता है: ठीक उसी प्रकार काशीमें दयानन्दचन्द्र पं. ज्योतिःस्वरूप और पं. जवाहर के योगसे खूब चमके ॥९८॥

एको हंसवरः स्वरामनगरारामद्रुमाधस्तले
निन्दन्मूर्त्तिसमर्चनामविरतं वेदप्रमाणै र्भृशम् ।
आसीनः प्रतिभाधनो गुरुनिभो भानुप्रभो वेदविद्
इत्याकर्ण्य नृपोऽस्य भोजनविधेः पूर्णं प्रबन्धं व्यधात् ॥९९॥

"रामनगर के बागमे-वृक्षके नीचे एक सूर्य सम प्रभावान्, प्रतिभा के धनी बृहस्पति के सदृश वेदों के विद्वान् परमहंस बैठे हुए हैं; वे निरन्तर वेदों के प्रमाणों से पाषाणपूजन का प्रबल प्रतिवाद कर रहे हैं।" यह सुनकर महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंहने इनके भोजनका पूर्ण प्रबन्ध करने की आज्ञा कर दी ॥९९॥

विश्वस्तं पुरुषं प्रहित्य विबुधं काशीनरेशो यते-
रभ्यर्णं तमवेदयद् यदि भवान् मूर्त्यर्हणाखण्डनम् ।
जह्यान्मासिकवेतनं शतमिता मुद्राः प्रदद्यामहं
मत्वाऽऽचार्यमथात्मनो भगवतो वन्देय पादाम्बुजम् ॥१००॥

पश्चात् काशीनरेशने अपना विश्वस्त चतुर पुरुष भेजकर संन्यासि सम्राट् को विदित कराया कि-'आप यदि मूर्तिपूजा खडन करना छोड दें; तो मैं आपको प्रतिमास सो १००) रुपये दक्षिणा रूपमें प्रदान किया करूँगा और श्री चरण को अपना गुरु मानकर भवदीय पादारविन्द का वन्दन किया करूँगा ॥१००॥

दद्या राज्यमिदं नरेन्द्र निखिलं चेन्मे निकामं निजं
नैवाहं प्रतिमार्चनानिरसनं जह्यां कदापीति तम् ।
दूतास्येन नृपं तदा समदिशद् वेदैकभक्तो यतिः
किं लोभाय भवेद्दृषे ऋतजुषः साम्राज्यलक्ष्मीरपि ॥१०१॥

यह सन्देश सुनकर वेदों के अद्वितीय भक्त, यतीन्द्रने दूत के मुखसे महाराजा को सन्देश भेजा कि-'हे नरेन्द्र ! यदि तू अपना सारा राज्य प्रदान कर दे,-तबभी मैं प्रतिमार्चन का प्रतिवाद करना नहीं छोड सकता' । सत्यको धारण करनेवाले महर्षि को सारे साम्राज्य की लक्ष्मी भी क्या विचलित कर सकती है ! कभी नहीं ! ' ॥१०१॥

निरञ्जनानन्दयतेः समीपे श्रीमद्दयानन्दयतिर्न्यषीदत् ।
काशीनरेन्द्रोऽपि ययौ कदाचिद् भ्रमँस्तयोरन्तिकमर्हतोः सः ॥१०२॥

किसी समय निरञ्जनानन्द यति के पास भगवान दयानन्द यति बैठे हुए थे । काशीनरेश भी भ्रमण करते हुए उन दोनों महात्माओं के पास जा पहुँचे ॥१०२॥

यथोचितं तौ प्रतिपूज्य राजा निरञ्जनं स्वामिनमन्वयुङ्क्त ।
वेदे निधानं प्रतिमार्चनायाः किं रामलीलाभजनस्य नास्ति ? ॥१०३॥

महाराजाने उन दोनों का यथा योग्य आदर करके निरञ्जनानन्दसे पूछा कि-'क्या वेदमें मूर्तिपूजा और रामलीला करने का विधान नहीं है ?' ॥१०३॥

तयो विधानं निगमे तु नास्ति चचाल लोकाचरणं परन्तु ।
तच्चालनीयो विधिरित्यवादीन्मनो न संतुष्टमतो नृपस्य ॥१०४॥

उसने कहा कि–'वेदमें तो विधान नहीं है; परन्तु लोकाचार चला आता है। इसलिये इसे चलाये ही रखना चाहिये। इस उत्तरसे महाराजाका मन सन्तुष्ट न हुआ ॥१०४॥

काशीस्थानां बुधानां निगमबलनिधिं ज्ञानसामर्थ्यमानं
पूर्णं प्रज्ञाय तेषां गतिमतिचरणं कोटिदुर्गप्रभेदान्।
सेनान्यौ शास्त्रविज्ञौ रिपुकुलभवनस्यात्मपक्षे गृहीत्वा
ब्रह्माज्ञालप्रयोगे निपुणमतिरयं गन्तुमुत्कोऽथकाशीम् ॥१०५॥

चतुरमति दयानन्दने रामनगरमें निवास करके काशी के पंडितों के विद्याबल का, शास्त्र सामर्थ्य का और गति मति का पूर्ण परिमाण जान लिया। उनकी कोटियों के दुर्गों के भेदों को समझ लिया। पौराणिक महादुर्ग के दो धुरन्धर विद्वान्, वीरवर पं. ज्योतिःस्वरूप और जवाहरदासजी को अपने समर्थक बना लिये और फिर वे ईश्वराज्ञारूप ब्रह्मास्त्र प्रयोगमें अति दक्ष सेनापति की भाँति काशी जाने को उत्कण्ठित हो गये ॥१०५॥

॥ इति सप्तदशः सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सचित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षेर्वाग्विभवेन प्रोद्दण्डपण्डितमानमर्दनो नाम सप्तदशः सर्गः।

।.अष्टादशः सर्गः ॥

[वशस्थवृत्तम्]

पवित्रगंगातटतीर्थमन्दिरा सदेन्दिरानन्दितनागरान्तरा ।
अमेयजाम्बूनदरत्नभासुरा सुपण्यवीथीलसितान्तरान्तरा ॥१॥

पवित्र गंगा के तट पर जिसके रम्य घाट और मन्दिर शोभा दे रहे हैं; लक्ष्मीसे जहा के नागरिकों के मन सदा आनन्दित है । जिसके मध्य भागमें असख्य, सुवर्ण, मोती और रत्नोसे उज्वल दुकानें तथा विविध खाद्य, पेय, वस्त्र आदि पदार्थोंसे सजा हुआ बाजार दिखाई देता है ॥१॥

सुवर्णरम्यैः कलशैश्चुम्बिभिः लसत्पताकैः सुरमूर्त्तिमन्दिरैः ।
विशालशालाङ्गणसौधमण्डलं विशोभमानै र्नितरां विराजिता ॥२॥

गगन चुम्बी सोनेरी कलशों से एव उडती हुई पताकाओंसे शोभित देवालयों और विशाल आंगन एव कमरेवाले बडे २ भवनोंसे जिसकी शोभा बढी हुई है ॥२॥

तरंगरिङ्खत्तरिराजिहारिणी मनोरमारामविरामहर्षिणी ।
सदाशिवस्तोत्रसुमन्त्रघोषिणी रराज काशी द्विजराजतोषिणी ॥३॥

ऐसी गगा प्रवाहमें चलती हुई नौका परंपरासे मनोहर, सुन्दर बाग-बगीचों और विश्राम-स्थानोंसे आनन्द देनेवाली, महादेव के स्तोत्रों एव वेदमन्त्रो की ध्वनियोंसे गुंजित, ब्राह्मणो को सन्तोष देनेवाली काशीनगरी सहाती थी ॥३॥

समुल्लसत्तोरणपुष्पमालिनी सुमंगलातोद्यनिनादशालिनी ।
सुहव्यकव्याध्वरधूमगन्धिनी कृताभिषेकोषसि यात्ममोदिनी ॥४॥

जिसमें देवालयों एव राजभवनो पर तोरण पुष्पमालायें नित लटका करती हैं; प्रातःकालमें मंगल वाद्य बजा करते हैं; और हवनीय द्रव्यों के होममें जहाँ का वायुमंडल सुगन्धित रहता है तथा मार्गो पर सदा जल छिडका जाता है ॥४॥

अशेषभूमण्डलमण्डनायिता चिरन्तनैरार्यजनैः समादृता ।
सुखाम्बुराशिः शिवभक्तिकाशिका विनाशिकाऽमन्यत याघसन्ततेः ॥५॥

जो सम्पूर्ण पृथ्वी मंडल की अलङ्काररूप है; पुरातन कालसे आर्येजन जिसको मान की दृष्टिसे देखते चले आये हैं; जो पाप परंपरा को नष्ट करनेवाली सुख की राशी मानी जाती है और जो हृदयमें शङ्कर भगवान् की भक्ति पैदा करती है ॥५॥

मृतिर्मतायत्रविमुक्तिदायिनी महेश्वरश्रीपतिलोकदर्शिनी ।
सुसंस्कृतज्ञानखनि र्गुरुस्थली सदेतिहासे विदिता च या नृणाम् ॥६॥

जहाँ मरण मुक्तिदायी माना जाता है । जो महेश्वर के दर्शन करानेमें समर्थ है । जो संस्कृत विद्या की खानि एवं गुरुभूमि रूपमे सदा इतिहास प्रसिद्ध रही है ॥६॥

महत्वमालां चिरकालतो गले निरन्तराम्लानरुचिं नु बिभ्रती ।
सुशिक्षणै र्या शुभदर्शनश्रुतिस्मृतिव्रजानां भुवनेश्वरी पुरी ॥७॥

जो चिरकालसे अपनी महत्वमालाको अम्लान (प्रफुल्ल)लिये चली आती है । आर्यों के इतिहासमें जो सदा विद्यापीठ ही बनी रही है । श्रौत, स्मार्त और दार्शनिक ग्रन्थों का जहा अध्ययन कराया जाता है; और जो संसारमें शिरोमणी नगरी है ॥७॥

यदीयपाषाणकणोऽप्यगण्यत शिवङ्करः शङ्कर ईशकिङ्करैः ।
गणैरगण्यैरवति स्वयं शिवः सदा त्रिशूलस्थितिभाजमित्यहो ॥८॥

अहा ! ! शंकरभक्तोंसे जहाँ का एक एक कंकर शंकर के समान माना जाता है; स्वयं त्रिशूलधारी शिव अपने अगणित गणों सहित जिसकी रक्षा करते हैं और जो त्रिशूल पर स्थित मानी जाती है ॥८॥

पुराणधर्मावनदुर्गसंनिभां विरक्षितुं दिग्गजपण्डितेश्वराः ।
असीमपाण्डित्यबलैस्सुविद्यया समुद्यता यामभवन्नगरतम् ॥९॥

जो पौराणिक धर्म का केन्द्र और दुर्ग है; जिसकी रक्षा के लिये शतशः दिग्गज पंडित अपनी अगाध विद्या और असीम पाण्डित्यमे अहर्निश सन्नद्ध रहते हैं ॥९॥

सुसभ्यतायाः शुभधर्मकर्मणां यथा पुरोदाहरणं बभूव या ।
युगेऽपि पौराणिक एवमागता प्रमाणतां तद्गतधर्मवर्त्तने ॥१०॥

प्राचीन कालमें जैसी यह नगरी शुभ धर्म-कर्म एवं आर्य सभ्यता का दृष्टान्त थी वैसा ही पौराणिक कालमें पौराणिक धर्म की भी प्रमाणरूप बन गई है ॥१०॥

प्रपद्य नारायणसिंह ईश्वरीप्रसाद एनां स महीश्वरोऽधुना ।
सदार्तसाधुद्विजपालनोद्यतो जुगोप दानेन नयेन सैनिकैः ॥११॥

ऐसी नगरी को पाकर महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह, पीडितजन, साधु, संन्यासी एवं द्विज मात्र के पालनमें निरन्तर तत्पर रहकर दानसे, नीतिसे एवं सैन्यबलसे इसकी रक्षा करता था ॥११॥

उपेत्य विद्याध्ययनाय बालकाः सहस्रशो भारतविश्वदेशतः ।
सदाऽध्यवात्सुः सुखतोऽन्नसत्रतः प्रजम्य तां सद्गुरुपादसेवया ॥१२॥

भारत के सर्व प्रान्तोंसे हजारों बालक विद्याध्ययन के लिये यहाँ आते रहते हैं और अन्न सत्रोंमें सुखपूर्वक भोजन करके गुरुचरणों की सेवा द्वारा विद्योन्नति करते हुए निवास करते हैं ॥१२॥

निजाल्पवृत्तिं परिगृह्य यत्र ते तपोमयत्यागसुभावभूषणाः ।
विशेषशास्त्रैकधुरन्धरा निजान् विनेयवर्गान् समपाठयन्मुदा ॥१३॥

जहाँ अपने अपने शास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् साधारण सी दक्षिणा लेकर त्याग भावसे तपोमय जीवन को धारण करके अप-अपने शिष्य समूह को पढाया करते हैं ॥१३॥

सुपालितां देवनरेन्द्रमण्डलै र्भयङ्करैः शङ्करकिङ्करं वृताम् ।
सुमूर्त्तिपूजादृढदुर्गरूपिणीं मनोज्ञकाशीनगरीं गरीयसीम् ॥१४॥
तदीश्वरैश्वर्यमसंख्यपण्डितप्रकाण्डविद्यांगणयन्न चेतसा ।
स तां सतां कुञ्जर एकको मुनि र्विजेतुकाम स्सहसा समाययौ ॥१५॥

ऐसी देवों और राजाओं से सुरक्षित; भयङ्कर शङ्कर किङ्करों से घिरी हुई, मूर्तिपूजाके दृढ दुर्ग सी, सर्व श्रेष्ठ, मनोरम काशी नगरीमें काशिराज के ऐश्वर्य को एवं असख्य पडितों की प्रकाण्ड विद्या को तुच्छ समझते हुए सत शिरोमणि, मुनिवर दयानन्दने तेजसे उस नगरी को जीतने के लिये पदार्पण किया ॥१४-१५॥

विशालदुर्गालयकुण्डसन्निधौ प्रमोदनोद्याननिवासमावसत् ।
अपूर्वधैर्यातुलवीर्यसाहसः परेशविश्वम्भवलैकशस्त्रभृत् ॥१६॥

सवत् १९२६ कार्तिक कृ० द्वितीया (ता. २२-१०-१८६९) को राजा माधोसिंह के आनन्द उद्यानमें विशाल दुर्गाकुण्ड के समीप स्वामीजीने आसन जमाया । अपूर्व धैर्यवान्, अतुलवीर्यशाली एव साहसी दयानन्दने उस गढमें ईश्वर विश्वासरूप प्रबल शस्त्र को धारण किया ॥१६॥

तदागमोदन्त इतोऽखिले पुरे तडिद्रयेण प्रससार तेन तौ ।
जवाहरज्योतिरिनौ बुधेश्वरावुपास्थितां मुनिसिंहमानतौ ॥१७॥

ऋषि के आगमन का समाचार विद्युत् वेगसे सारी नगरीमें फैल गया; इनका वृत्तान्त सुनकर महात्मा जवाहरदास और प. ज्योति स्वरूप ये दोनों बुधेन्द्र मुनिसिंह के पास नम्र होकर उपस्थित हुए ॥१७॥

परीक्षितुं पण्डितपुंगवास्सदा सुगुप्तवेशा यतिशास्त्रकौशलम् ।
समीयुरस्यागमपारगामितां समीक्ष्य चिन्ताभयविस्मयान् दधुः ॥१८॥

रामशास्त्री, दामोदरशास्त्री, बालशास्त्री, और राजारामशास्त्री नामक पण्डित पुगव यतिवर की विद्या चातुरी की जाँच करने के लिये गुप्त वेश धारण करके आया करते; और इनकी शास्त्र पारंगतता देखकर चिता, भय और विस्मय धारण किया करते ॥१८॥

।नरन्तरं प्रश्नपरम्परां परां बुधाबुधा स्सज्जनदुर्जना अपि ।
विधाय तं कोपयितुं कृतश्रमाः कृतार्थतां नाप्य मनोहृता ययुः ॥१९॥

अन्य विद्वान्, अविद्वान्, सज्जन, दुर्जन भी मण्डलियाँ बनाकर निरन्तर आते और प्रश्न पूछकर अपने भ्रम निवारण करते। विवादप्रिय दुर्जन चिढाने और खिजाने की भी चेष्टा करते; किन्तु ऋषि सब को गभीरतासे उत्तर देते, जिससे वे निराश होकर अपना सा मुँह लेकर चले जाते ॥१९॥

गभीरभावेन धृतीश्वरस्सदा ददौ तदीयोत्तरमागमान्वितम् ।
निशम्य यत्केचन सज्जना भ्रमं निवार्य जग्मु र्मुदितान्तरा गृहम् ॥२०॥

धैर्य के धनी, मुनीन्द्र सदा शान्तिसे प्रश्नो का शास्त्र युक्त उत्तर देते थे: जिसको सुनकर भले मनुष्य शंका निवारण कर प्रसन्नतासे घर चले जाते ॥२०॥

महेशमूर्त्तिप्रतिमानिषेधनं तनोति तीव्रं निगमोदितै र्मुनिः ।
सुमूर्त्तिपूजातुलदुर्ग एव स कुतूहलं जातमिति क्षमानसे ॥२१॥

विद्वानों के मनमें यह कुतूहल होता था कि यह संन्यासी मूर्तिपूजा के सुदृढ किलेमें ही तीव्रता पूर्वक वेद वचनोंसे महेश्वर की काया एवं प्रतिमा का निषेध कर रहा है ॥२१॥

स्वकीयविद्यागमवेदितामदे द्विजेन वाच्यं प्रतिमार्हणाक्षयम् ।
असंभवं पूर्वमितोऽत्र मेनिरे बुधा निशम्याद्य तु विस्मयं ययुः ॥२२॥

पहले इस काशी नगरीमें कोई ब्राह्मण प्रतिमा पूजा का खण्डन करे ! ! यह असम्भव बात थी; जब दयानन्दने खण्डन करना शुरु किया तब प्रथम २ अपनी विद्या और शास्त्र निपुणता के मदमें पण्डितोंने इस बात का विश्वास ही नहीं किया; किन्तु इस समय प्रत्यक्ष सुनकर वे विस्मित हुए ॥२२॥

अभूतपूर्वां घटनां विचिन्त्य ते विलोक्य तत्साहसमात्मपत्तने ।
विनिद्रिता विस्मयभीतिविह्वलाः सुखं न नक्तं शयितुं तदेश्वराः ॥२३॥

वे पण्डितेश्वर इस अभूतपूर्व घटना को सुनकर (सोचकर) एवं अपनी ही नगरीमें इस दयानन्द का साहस देखकर आश्चर्य और भयसे व्याकुल हो गये; रात्रिमे उनको सुख की नीन्द तक न आती थी ॥२३॥

पुरा दयानन्दयतिं बुधेश्वरा स्तृणाय ते मन्वत इत्युपेक्षया ।
असुं प्रतीक्षामपि नैव चिक्षिपुः स्वशास्त्रपाण्डित्यमदान्धबुद्धयः ॥२४॥

अपने अपने शास्त्रों का पाण्डित्य के मदसे वे बुधेश्वर अन्ध थे; अतः वे दयानन्द यतीश्वर को तुच्छ समझकर इनकी ओर दृष्टिपात तक नहीं करते थे ॥२४॥

परं दयानन्दमृगेन्द्रगर्जनं भयंकरं मर्त्यकुरंगमानसम् ।
क्षणे क्षणे व्याकुलतां नयन्तुते निरीक्ष्य निद्रां विजहुर्बुधद्विपाः ॥२५॥

परन्तु जब उन्होंने देखा कि दयानन्द मृगेन्द्र का भयङ्कर गर्जन पल पलमें पौराणिक-दलरूप मृगों के मन को व्याकुल कर रहा है; तब तो उन पण्डित मतंगजों की निद्रा ही उड गई ॥२५॥

विलक्षणोऽयं महिमा गिरांमुनेः सकृन्निशम्यैव हि याः प्रभाविताः ।
विहाय दुर्गाकृतिदर्शनं जना अनास्थयाऽस्मिन्न्यवृतन्निजालयम् ॥२६॥

मुनिवर की वाणी की महिमा ही कुछ ऐसी विलक्षण थी कि कोई लोग एक बार ही उनकी अमृतवाणी को सुन ले तो वे प्रभावित होकर दुर्गामूर्त्ति का दर्शन किये बिना ही अनास्थासे घर लौट जाते ॥२६॥

दिने दिने मन्दिरयायिनां गणः क्षयं ययौ चन्द्र इवासिते दले ।
धनागमोऽप्यस्य च पूजकास्तदा तमर्थयामासुरितोगमाय ते ॥२७॥

दिन प्रति दिन कृष्ण पक्ष के चन्द्र की तरह मन्दिरमें आनेवाला भक्त समुदाय घटने लगा; दुर्गा मन्दिर की आयमें इतनी कमी हो गई थी कि पूजारियोंने स्वामीजीसे प्रार्थना की कि कृपा करके आप दूसरी जगह पधारें ॥२७॥

अगाधविद्यां प्रतिभां स्वयंप्रभामलौकिकीं तर्कणशक्तिमागमे ।
विशेषतो वीक्ष्य यतिक्षितीशितुः पुरोगमे बिभ्युरिमे विदांवराः ॥२८॥

काशी के विद्वद्वर, यतिक्षितीश्वर की अगाध विद्या, अनुपम प्रतिभा, स्फुरण शक्ति को देखकर इनके सम्मुख आनेसे घबराते थे ॥२८॥

अखण्डितं तत्कुपुराणखण्डनं सुभक्तकाशीन्द्रमनोऽदुनोदलम् ।
अतः स काशीस्थितराजपण्डितानने।दयत्तत्प्रतिवादसंगरे ॥२९॥

स्वामीजी का अखंडित कुपुराणों का खंडन, भक्त काशी नरेश के मन को अतिशय चुभता था; इसलिये उसने काशिस्थ सब राज पडितों को उनके साथ शास्त्रार्थ संग्राम करने के लिये प्रेरित किया ॥२९॥

असंख्यवित्तं सुरमूर्त्तिपूजने भवन्निदेशान्मनुजैर्वितीर्यते ।
भवादृशै स्तन्निगमैः प्रमाणितं विधेयमेतर्हि मुदेत्युदीर्य तान् ॥३०॥

उसने उनको बुलाकर कहा कि आप जैसे पडितों को वेदोंसे मूर्त्तिपूजा सिद्ध करके दिखलानी चाहिये; क्यों कि आपकी आज्ञासे ही हम और सनातनी सज्जन इस मूर्त्तिपूजा के लिये श्रद्धासे असंख्य धन प्रदान करते हैं॥ ३०॥

सदाऽवयुक्ते स दिगम्बरः श्रुतेः प्रमाणमेवेति तदीयसंग्रहे ।
प्रदेहि नस्तान् दशपञ्चवासरान् न्यधीविदन्नेवमिमे विदो नृपम् ॥३१॥

इस पर उन राजपंडितोंने राजासे निवेदन किया कि वह दिगम्बर यति सदा श्रुति का प्रमाण ही पूछता है; अतः उन प्रमाणों के सग्रह के लिये आप हमें पंद्रह दिन का समय दीजिये ॥ राजाने कहा–तथास्तु ॥३१॥

विधीयतां वेदविलोचनं तदा मुदाभिधायेति स तान् व्यसर्जयत् ।
ततः परं ते तु दिवानिशं रताः समग्रवेदार्णवगाहने बुधाः ॥३२॥

पंडितों को मुँहमांगा अवकाश मिल गया । राजा—अच्छा तो आप अब वेदों का आलोडन कीजिये । नरेशने ऐसा कह उनको विदा किया । तदनन्तर वे रातदिन समग्र वेद सागर का आलोडन करने लगे ॥३२॥

यथार्हवर्णो हरिवर्षभूभुजां स ईशवीयागमधर्ममानिनः ।
जनान् विधातुं विनियोजितोधुवं भ्रमं ततानेति यतौ द्विषज्जनः ॥३३॥

यतिसे द्वेष करने वाले दुर्जन, लोगोंमें भ्रम फैलाने लगे कि यह साधु तो अंग्रेज बादशाह का गुप्तचर है; इसको हिन्दुलोगों को बायबिलके माननेवाले बनाने के लिये उन्होंने नियुक्त किया है ॥३३॥

अथान्यदुद्दण्डसुगुण्डमण्डलं व्यचेष्टताहन्तुममुं प्रवञ्चनैः ।
छलैं र्बलैरित्थमहर्निशं खलै र्यतिं पराजेतुमयत्यताखिलैः ॥३४॥

फिर इतर उद्दण्ड गुण्डों की मंडली इनको फँसा कर मारने की चेष्टा कर रही थी । इस प्रकार रात दिन काशी नगरीके अखिल खल और पोपदल इस संन्यासी को छल और बलसे हराने का प्रयत्न कर रहे थे ॥३४॥

विनेयवर्यै र्गुरुनोदितैरसावपृच्छ्यतार्हर्षसुपुस्तकाभिधाम ।
षडङ्गवेदानुपवेददर्शनान्यवेदयत्तान् यतिराडथ स्मृतिम् ॥३५॥

गुरुजनसे प्रेरित विद्यार्थि वर्ग स्वामीजीसे आकर पूछते कि आप कितने ग्रन्थ प्रामाणिक मानते हैं ? यतिराज उत्तर देते कि हम चार वेद, चार उपवेद, छः वेदाङ्ग, छः उपाङ्ग, और प्रक्षिप्त श्लोकों को छोडकर मनुस्मृति का प्रमाण स्वीकार करते हैं ॥३५॥

सुवादविज्ञप्तिदलं व्यतीयत विनिश्चिता वादतिथि र्महीक्षिता ।
यथा यथाऽऽसीदति पण्डितोदधि स्तथा तथा व्याकुलतां दधात्यलम् ॥३६॥

शास्त्रार्थ का विज्ञापन बाँटा गया और राजाने का० शु० १२ संवत् १९२६ ता. १६–११–१८६९ मंगलवार का दिन शास्त्रार्थ के लिये निश्चित किया । जैसे २ तिथि पास आती जाती है; वैसे वैसे पंडित सागर व्याकुल होते जाते हैं ॥३६॥

सभास्थलं स्वामिनिवासवाटिका यतेर्निदेशेन नृपेण निश्चितम् ।
स कोटपालो रघुनाथसज्जनः प्रबन्धनायात्मबलैरुपस्थितः ॥३७॥

स्वामीजी के निवास बाग को ही, स्वामीजी की आज्ञासे काशी नरेशने सभास्थान निश्चित किया । पं. रघुनाथप्रसाद थानेदार शान्तिरक्षा के लिये अपनी पुलिस के साथ वहाँ उपस्थित हुए ॥३७॥

उपासदद् वासरमद्य मंगलं तरंगिता पूः सरसीव सेर्मिभिः ।
जयार्थना देवगृहेष्वतन्यत स्वपण्डितानामुषसीह पूजकैः ॥३८॥

आज मगलवार का दिन है । सारी काशीनगरी सरोवर की तरह जन तरङ्गों से आन्दोलित हो रही है । पुजारियोंने उषःकालमें अपने राज पडितों की विजय के लिये मन्दिरोंमें प्रार्थना की ॥३८॥

विपक्षिणोऽनेकबुधास्ततोऽपितै र्नृपस्य वित्तस्य जनस्य चातुलम् ।
बलं सदासीत् तदपि प्रचिन्तया समाकुलं तद्भृदयं यतेरहो ॥३९॥

दयानन्द के विपक्षी अनेक थे, उनके साथ राजबल था, धन बल था और अतुल जन बल था परन्तु फिर भी वे चिन्ता और आशकासे कम्पित थे, उनके चेहरे उदास थे ॥३९॥

सहायतायां यमिनो न भूपति र्नवा जनो यद्यपि किन्तु नास्य सा ।
मनोम्बुधौ क्षोभतरंगिकोत्थिता मनाङ् न चिन्ताऽपि मुखेन्दुमण्डले ॥४०॥

दयानन्द अकेला था, उसकी पीठ पर न कोई राजा था, न कोई धनाढय पुरुष था । किन्तु इसके हृदय सागरमें छोटी सी क्षोभ की लहर भी न उठी और इसके मुखचन्द्र मंडल पर जरा सी चिन्ता रेखा तक न थी ॥४०॥

यदेकवस्तु व्रतिराजसन्निधौ विपक्षिपक्षे तदविद्यतैव नो ।
परेशविश्वास ऋतस्स यं श्रितः सहायहीनोऽपि सहायवानयम् ॥४१॥

आदित्य ब्रह्मचारी के पास जो एक वस्तु थी: वह उसके विपक्षीयों के पास न थी । वह था ईश्वर पर विश्वास, सत्यपर श्रद्धा, जिसके होते हुए निःसहाय होना हुआ भी वह साहस और धैर्ययुक्त था । भय उसके पास नहीं फटक सकता था ॥४१॥

अभार्षतनं बलदेवसज्ञको महद् भवेदद्य जनौघमर्दनम् ।
भवेदिदं फल्गुपुरं यदि प्रभो ! सहायकाः स्युः शतमानवास्तव ॥४२॥

भक्त बलदेव प्रसादने स्वामीजीसे कहा कि महाराज ! आज बहुत भीड भाड होगी । काशी गुंडो का नगर है, यदि फर्रुखाबाद होता तो सो सवा सो मनुष्य आपकी ओर भी होते ॥४२॥

तदुक्तिमाकर्ण्य मुनिस्तमूचिवान् हसन्निदं हे बलदेव ! योगिनाम् ।
मतं यदेको हि स सत्यभास्करो जयत्यमन्दं तमसां बलं सुखम् ॥४३॥

स्वामीजी यह बात सुनकर हँसे और बोले कि–बलदेव ! योगियों का निश्चित सिद्धान्त है कि सत्य का सूर्य अन्धःकार की सेना पर अकेला ही विजय पाता है ॥४३॥

य ईश्वराज्ञानुगुणं दिशत्यृतं भयं कुतस्तस्य हितैषिणः सतः ।
विसर्जयेत्काममसूनयं परं स्वसत्यधर्मान्न चलेत्तपोधनः ॥४४॥

जो ईश्वरानुकूल सत्य का उपदेश करता है उस संसार हितकारी सन्त को भय कहाँ ! वह तपोधन प्राण जाँय तो भले जाँय परन्तु अपने सत्य धर्मसे कभी विचलित न होगा ॥४४॥

बलेश्वरालं तव तत्र चिन्तया यदेक आत्माऽस्मि परः परेश्वरः ।
स एकधर्मश्च भुवि त्रयं ध्रुवं ततोऽपरः कोऽस्ति भयं भवेद्यतः ॥४५॥

बलदेवप्रसाद ! तुम चिन्ता मत करो । अेक मैं हूँ अर्थात् आत्मा हूँ, एक ईश्वर है और एक धर्म है, ये तीनों पदार्थ संसारमें स्थिर हैं, अमर हैं; तो फिर दूसरा कौनसा पदार्थ है कि जिससे भय किया जाय ? ॥४५॥

जवाहरोऽपृच्छदमुञ्च वाग्मिनं समुद्रनेत्रप्रमितान् विदांवरान् ।
कथं नु जेतुं युगपद् भवानलं जितो यदेकोऽप्यखिलोज्जयः कथम् ॥४६॥

पंडित जवाहरदासने वागीश्वरजीसे पूछा कि भगवन् ! आप एक साथ सत्तावीस राजपंडितों को कैसे जीत सकेंगे ? अच्छा, एक को जीत लेंगे या दो को, किन्तु सारे पंडितों को कैसे जीत लेंगे ? ॥४६॥

स बालशास्त्री विबुधेषु केवल श्चकास्ति वेदे गतिरस्य काचना
स एव काञ्चित्समयंमया समं विचारणां कर्त्तुमलं न चेतरे ॥४७॥

स्वा०—काशी के पंडितों में केवल एक बालशास्त्री दाक्षिणात्य पंडित है; इसकी कुछ वेदोंमें गति है । वही हमसे कुछ समय तक बातचीत कर सकेगा, शेष इतनी योग्यतावाला कोई नहीं है ॥४७॥

इति स्वशक्तिं परिवेद्य तौ मुनि र्मनस्तयो र्धैर्यं युतं विधाय च ।
क्षुरक्रियामज्जनमृद्विलेपनै र्मनोरमांगो निरतोऽन्तरात्मनि ॥४८॥

इस प्रकार मुनिवरने उन दोनों के मन को अपनी शक्ति का परिचय कराकर धैर्य बन्धाया; नाप्तित को बुलाकर महाराजने क्षौर कराया स्नान किया और अपने सुन्दर शरीर पर सुन्दर मृत्तिका लगाई तथा पद्मासनस्थ होकर परमेश्वर का ध्यान किया और फिर भोजन किया ॥४८॥

सदोऽथ लक्षार्धजनावृतं बभौ यति र्गवाक्षे रघुणोपवेशितः ।
तदग्रतो मूर्त्तिसमर्थकासनं तदन्तरे राजकृते च विष्टरः ॥४९॥

शास्त्रार्थ के समयसे बहुत पहिले आनन्दबाग की ओर जनस्रोत बहना आरम्भ हो गया। शास्त्रार्थ के समय तक पचास सहस्र दर्शकों से शास्त्रार्थ भूमि भर गई। थानेदार रघुनाथप्रसादने स्वामीजी को दालान की खिडकी में बिठाया और उनके सामने एक आसन मूर्तिपूजा समर्थक पडित के लिये और तीसरा आसन काशी नरेश के लिये उन दोनों के बीच में रक्खा गया ॥४९॥

बुधासनार्थं परितश्च मञ्चिका यथार्हमित्थं प्रबबन्ध सैन्यपः ।
प्रमोदनोद्यानमभूत्प्रमोदनं नृणां नु भूत्वाऽद्य कृतार्थनामकम् ॥५०॥

अन्य पडितों के लिये उनके पास ही मञ्च डाले गये। इस प्रकार कोतवालने यथायोग्य प्रबन्ध कर दिया। आज आनन्द बागने मनुष्यों को आनन्द प्रदान कर अपना नाम सार्थक किया ॥५०॥

नृपाज्ञया वीजितचामरा बुधा जयस्वनैस्ते शिबिकाधिरोपिताः ।
महासमारोहनिदर्शनै र्जनान् प्रभावयन्तः समुपासदन् सदः ॥५१॥

काशीनरेशने दयानन्द पर विशेष आतङ्क बिठाने के लिये पंडितों को पालकियोंपर आरूढ होने का आदेश दिया। शास्त्रार्थमें भाग लेनेवाले पडितगण पालकियोंपर चढकर चँवर डुलवाते हुए तथा जय बुलवाते हुए, बडे समारोह से जनतापर प्रभाव डालते हुए सभा भूमिमें आये ॥५१॥

मनाक् प्रभावोऽस्य न योगिमानसे प्रदर्शनस्य प्रबभूव भूपतेः .
असंख्यगोमायुबिभीषिकारवो मृगेन्द्रमाभीषयितुं कथं प्रभुः ॥५२॥

राजा के इस प्रदर्शन का योगिराज के हृदय पर कुछ भी प्रभाव न पडा। क्या असख्य गीदडों की मंडली का भयप्रदर्शक शोरगुल, मृगेन्द्र को भयभीत कर सकता है ? ॥५२॥

यथासनं पण्डितमण्डली स्थिता ततः स काशीनृप आगतः सभाम् ।
समुत्थितैः शास्त्रिगणैः सभाजितः शुभाशिषाऽयं निजपीठमास्थितः ॥५३॥

काशी नरेश सहित सैकडों विद्वान्, अद्वितीय दयानन्दसे शास्त्रार्थ करने पर उतारू हुए। उस पडित सैन्य के प्रसिद्ध महारथी स्वामी विशुद्धानन्दजी, बालशास्त्री, माधवाचार्य, वामनाचार्य, पं. ताराचरण, जयनारायण तर्क वाचस्पति, राधामोहन तर्क बागीश, आदि सत्ताईस विद्वान् थे। यथायोग्य आसन पर पडित मडली बैठ गई। पश्चात् काशीनरेश सभामें आये। उन राजपडितोंने उठकर उनका सम्मान किया; शुभाशीर्वाद दिया। राजा अपने आसनपर बैठ गये ॥५३॥

यतीश्वरं ते परिवेष्ट्य विष्ठिता यथेष्टपीठं नृपपण्डितास्ततः ।
प्रबन्धमुल्लङ्घ्य बलेशनिश्चितं मदोद्धताः सभ्यसमाजनिन्दिताः ॥५४॥

अन्य पडितों का भी पूर आया; उसने आते ही प्रबन्ध भग कर यतीश्वर को घेर लिया। थानेदारने जो स्थान निश्चित किये थे; अभिमानी पंडितोंने उनमें गडबड कर दी। सभ्य सज्जनों को यह बुरा लगा ॥५४॥

निषेदिवांसं यतिहंसपार्श्वतो निभाल्य तं ज्योतिरिनं महाबुधम् ।
जवाहरञ्चापि नृपं बुधेश्वरा बभाषिरे गुप्तगिरा भयाकुलाः ॥५५॥

परमहंसने थानेदार को कहकर प. ज्योतिःस्वरूप तथा महात्मा जवाहरदास को अपने पास बिठा लिया । राजपंडित मडल इन दोनों महाविद्वानों को स्वामीजी के पास बैठे हुए देखकर भयाकुल होकर आपसमें गुनगुनाने लगे और राजा को संकेत किया कि- ॥५५॥

प्रभो ! दयानन्दयतिः स्वयं हरि र्मृगादनो ज्योतिरिनो ह्ययं पुनः ।
जयो द्वयोः संगतयोरसंभवः स दुर्जयश्चेद् यतिरेक एव नः ॥५६॥

हे राजन् ! एक तो दयानन्द सन्यासी स्वय सिंह जैसा है: तिसपर यह ज्योतिःस्वरूप व्याघ्र ही है; अकेले दयानन्द को ही जीतना कठिन है, सिंह और व्याघ्र का मिलन हो जायगा तो शास्त्रार्थमें विजय लाभ सर्वथा असम्भव है ॥५६॥

तदिङ्गितेनैव तदग्रतो बुधान् न्यवेशयत् तत्परतोऽपसार्य तौ ।
स दुर्णयो भूपतिराश्वसीन्मुदा रघुस्तदोपालभतैव तं नृपम् ॥५७॥

उस अन्यायी नरेशने उन पडितों के सकेतसे ही दूसरे पडितों को उन दोनों को हटाकर उनकी जगह बिठाकर ही साँस लिया । रघुनाथप्रसाद कोतवालने राजाके इस अन्याय पर उनको उलहना दिया ॥५७॥

तिरस्कृतौ तौ स विलोक्य संयमी भृशं तदन्यायमतर्जयत्परम् ।
बलच्छलान्यायपरायणेऽखिले फलं न किञ्चित्समभूद् गिरां मुनेः ॥५८॥

उन दोनों को तिरस्कृत हुए देखकर सयमीश्वरने नरेश को इस अन्याय के लिये खूब धमकाया; किन्तु छल, बल एव अन्याय पर तुले हुए राजा आदि खलदल पर, सन्त वाणी का कुछ परिणाम न हुआ ॥५८॥

यदन्तरं सिंहगजेन्द्रवृन्दयो र्यदन्तरं सूर्यमृगाङ्कबिम्बयोः ।
यदन्तरं वीन्द्रविहंगसंघयो स्तदन्तरं योगिबुधेन्द्रवर्गयोः ॥५९॥

सिंह और गजराज मडलमे, सूर्य और चन्द्रगणमें तथा गरुड और पक्षिसघमें जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर योगिराज और बुधेन्द्र वर्गमें था ॥५९॥

स्वराक्षिसंख्यद्विजवर्ग एकतो यतिस्सशास्त्रार्थदिवि द्विजेश्वरः ।
तदन्यपक्षे शुशुभे शुभङ्करः किरन् सुधापूर्णगिरं मनोहराम् ॥६०॥

एक ओर शास्त्रार्थगगनमें सत्ताईस २७ नक्षत्र की तरह २७ पंडित थे और दूसरी ओर मनोहर, वाणीरूपी सुधा को बरसाते हुए, शुभङ्कर, द्विजराज दयानन्द कलाघर चमक रहे थे ॥६०॥

यतिर्दयानन्द उवाच भूपतिं समानयत् किं श्रुतिपुस्तकावलीम् ।
अपेक्षणं न श्रुतिपुस्तकस्य नो विदां हि वेदा रसनाग्रनर्त्तिनः ॥६१॥

दयानन्ददिग्विजयम् – चित्र सं. ४-५:—

महर्षि दयानन्द का काशीमें शास्त्रार्थ संवत् १९२६ ई० सन १८६९

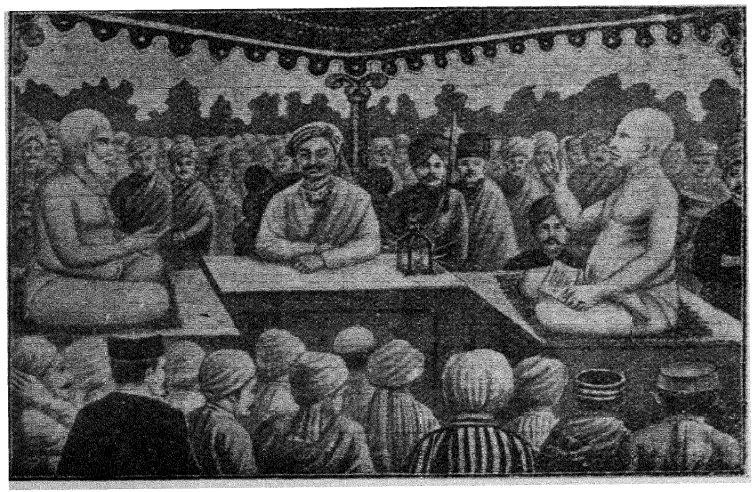

स्वराक्षिसंख्यद्विजवर्ग एकतो यतिस्स शास्त्रार्थदिवि द्विजेश्वरः ।
तदन्यपक्षे शुशुभे शुभंकरः किरन् सुधापूर्णगिरं मनोहराम् ॥१८-६०॥

न मे बन्दीकर्तुं जनिरिह जनान् मोक्तुमपि तु-
द्युतं मुञ्चैनं त्वं ... ... ॥१९ सर्ग ८८-८९॥

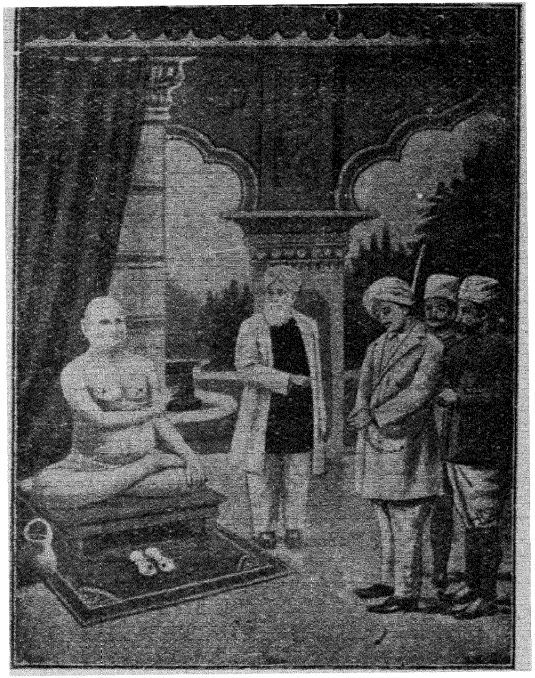

मैं संसारमें किसीको कैद कराने नहीं किन्तु मुक्त कराने आया हूँ। पृ० १३५

यति दयानन्दने नरेशसे पूछा कि, क्या वेदों की पुस्तकें लाये हैं ?, नरे०—वेदों की पुस्तकों की आवश्यकता नहीं हमारे पंडितों को तो वेद कण्ठस्थ हैं ॥६१॥

स कोटपालो रघुनाथपण्डितस्ततः समश्रावयदेवमुच्चकैः ।
विचारणायां नियमस्सनिश्चितो यदेककाले जन एक आवदेत् ॥६२॥

कोतवाल प. रघुनाथने तदनन्तर उच्च स्वरसे सबको सुनाया कि—शास्त्रार्थमें यह नियम निश्चित हुआ है कि एक समयमें एक ही जन बोले ॥६२॥

अथाग्रनेयायिक आगतोऽग्रतो यतेस्स तारा०चरणो नृपेरितः ।
स्वा०-भवान्नु वेदान् मनुते प्रमाणितान् ? ता०-समग्रवर्णाश्रमभृन्मता हि ते ॥६३॥

फिर महाराजा के संकेतसे प. ताराचरण तर्करत्न यतीश्वर के सामने आया । स्वा०—आप वेदों को प्रमाण मानते हैं न ? ता०—हाँ, उनको तो सारे वर्ण और आश्रमधारी प्रमाण मानते हैं ॥६३॥

स्वा०-शिलादिमूर्त्यर्चनसंविधिस्ततः प्रदर्श्यतां तर्कमणे ! प्रमाणतः ।
न चेत्तदीयाऽप्रमितिः प्रमन्यतां ता०-श्रुतौ प्रमाणं नु तदस्ति नास्ति वा ॥६४॥

स्वा०—तब हे तर्करत्नजी ! शिला, सुवर्ण, आदि की मूर्ति की पूजाका विधान वेद के प्रमाणसे बतलाइये ! नहीं तो उसको अप्रमाण मानिये । ता०—वेदमें वह प्रमाण है वा नहीं ? ॥६४॥

स पृच्छ्यते यो निगमान् हि मन्यते प्रमाणभूतान्न तु चान्यपुस्तकान् ।
स्वा०-तदन्यप्रामाण्य विचारणा पुनर्भवेदिदानीं निगमाग्रमान्यता ॥६५॥

यह उसे ही पूछा जाय जो वेदों ही को प्रमाण मानता हो; इतर ग्रन्थों को नहीं । स्वा०—इससे भिन्न ग्रन्थ के प्रामाण्य की विचारणा फिर होगी, इस समय तो वेद की मुख्य प्रमाणता है ॥६५॥

प्रधानतास्ति श्रुतिगीतकर्मणां तदन्यशास्त्रोक्तविधेरमुख्यता ।
प्रमाणतां यन्ति हि वेदमण्डनात् तदन्यशास्त्राणि स चक्षुरेव यत् ॥६६॥

वेदोक्त कर्म की प्रधानता होती है और इतर शास्त्रोक्त विधान की अप्रधानता होती है; क्योंकि अन्य शास्त्र वेदानुकूल होनेसे ही प्रमाण पद पाते हैं यतः वेद सूर्य समान हैं ॥६६॥

न मूर्त्तिपूजाविधिरागमेषु चेन्न पूजनीयाऽऽकृतिरश्मनां तदा ।
ता०-मनुस्मृतिं वेदवचोऽनुगामिनीं कथं भवांस्तामनुमन्यते यते ! ॥६७॥

यदि वेदोंमें मूर्तिपूजा का विधान न हो; तब तो पाषाणाकृति को नहीं पूजना चाहिये । ता०—यतिवर्य ! आप मनुस्मृति को वेद वचनानुगामिनी कैसे मानते हैं ? ॥६७॥

स्वा०-यदेव किञ्चिन्मनुनेह वर्णितं सुभेषजानामपि भेषजं हि तत् ।
उदीरितं ब्राह्मण एव सामजे स्मृतिर्मनोः सेति मता हि वेदगा ॥६८॥

स्वा०—"यत्किञ्च मनुरवदत् तद्भेषजंहि भेषजतायाः ।" मनुजीने जो कुछ कहा है वह औषधियों का भी औषध है; ऐसा सामवेद के ब्राह्मणने कहा है अतः मनुस्मृति वेदानुकूल है। ताराचरण चुप हो गये ॥६८॥

विशु०-तदा विशुद्धः पुरतो निधाय स चकार वेदान्तसुसूत्रशङ्कनाम् ।
प्रधानमेतज्जगतो न कारणं स्वतंत्ररसर्गानुपपत्तिरत्र यत् ॥६९॥

तब स्वामी विशुद्धानंदजी आगे बढ़े और शारीरिक सूत्रोंमें से यह सूत्र पढ़कर 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।' रचना की अनुपपत्ति=असिद्धि होनेसे अनुमान द्वारा वर्णित प्रधान जगत् का कारण नहीं है; क्योंकि जड प्रकृतिमें स्वतन्त्र रचना सिद्ध नहीं होती, इस सूत्र को वेद मूलक सिद्ध कीजिये ॥६९॥

स्वा०-उपस्थिताद् वादत एव भिन्नग स्तवानुयोगो न विचारमर्हति ।
विशु०-किमत्रज्ञातं यदि प्रस्तुताद् बहि र्वदैव जानासि यदि त्वमुत्तरम् ॥७०॥

स्वा०—आपका यह प्रश्न उपस्थित वाद के भीतर नहीं आता है; अतः विचारणीय नहीं है । विशु०—प्रकरणसे बाहर है तो क्या हुआ ? यदि तुम्हें इसका समाधान आता है तो कह दो ॥७०॥

स्वा०-निरीक्ष्य पूर्वापरपाठमस्य तं सुखं समाधातुमिदन्तु शक्यते ।
विशु०-अभूत्न कण्ठाग्रमशेषमत्र चेत् किमर्थमायाः पुरि वादहेतवे ॥७१॥

स्वा०—इसका पूर्वापर पाठ देखकर समाधान किया जा सकता है । विशु०—यदि सब कुछ स्मरण नहीं था तो काशीमें शास्त्रार्थ करने आये ही क्यों थे ! ॥७१॥

अपि स्मृतिस्थं तव वर्त्ततेऽखिलं समग्रमेवास्ति मुखाग्रतो मम ।
उदीरय त्वं ननु धर्मलक्षणं श्रुतीरितोऽर्थः सफलः स लक्ष्यते ॥७२॥

स्वा०—क्या आपको सब कुछ कण्ठाग्र है ? विशु०—हाँ, हमें सब कुछ स्मरण है । स्वा०—तब बताइये कि धर्म के कितने लक्षण हैं ? विशु०—जो वेदमें कहे फल सहित कर्म हैं वही धर्म हैं ॥७२॥

इदं तु वाक्यं तव विद्यते परं श्रुतेः प्रमाणं वद धर्मलक्षकम् ।
स नोदनालक्षणवान् निगद्यते प्रचोदना का श्रुतिरस्तु वास्मृतिः ॥७३॥

कियन्ति धर्मस्य नु लक्षणान्यये ! तवैकमेवास्ति न सन्त्यमुष्यतु ।
दश स्मृतिः प्राह नु का मनोरियं धृतिक्षमाद्यानि तदाऽगवद्वयमी ॥७४॥

स्वा—यह तो आपका वाक्य है । कोई शास्त्रीय प्रमाण दीजिये । विशु०—'प्रचोदनोलक्षणो धर्मः' धर्मका लक्षण प्रेरणा कहा गया है । स्वा०—यह तो ठीक है कि प्रेरणा धर्मका लक्षण है परन्तु प्रेरणा कहते हैं श्रुति, स्मृति की आज्ञाको; सो श्रुति स्मृति का प्रेरणामें धर्म के लक्षण कितने हैं; यह बताइये ? विशु०—धर्म का एक ही लक्षण है । स्वा०—नहीं; धर्म के तो दस लक्षण कहे हैं । विशुद्धा०—किस ग्रन्थमें हैं । स्वा०—मनुस्मृतिमें "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्" ॥७३—७४॥

तदा विशुद्धश्चकितो यतिः स्थितः स जोषमेवापसृतस्ततः परम् ।
स बालशास्त्री मुनिमुक्तवानिति स्वधर्मशास्त्राध्ययनं मया कृतम् ॥७५॥

इस पर विशुद्धानंदजी तो अवाक् हो गये । तब बालशास्त्री आगे आकर कहने लगे कि हमने सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का अध्ययन किया है; इस विषयमें कुछ पूछना हो तो हमसे पूछिये' ॥७५॥

सुशोभनं त्वं तदधर्मलक्षणं यथायथं ब्रूहि तदा विदां मणे ? ।
तदुत्तरं नास्फुरदस्य मानसे विभूषणं मौनमधार्यन्वयम् ॥७६॥

स्वा०—बहुत अच्छा; तब हे विद्वद्रत्न ! आप अधर्म के लक्षण बताइये ? बालशास्त्री को इसका उत्तर कुछ भी न सूझा; इसलिये उन्होंने मौनरूप अलंकार धारण कर लिया ॥७६॥

स्वमुख्यसेनापतिपण्डितत्रयं पराङ्मुखं वीक्ष्य तदाऽखिला बुधाः ।
सघोषमार्यं सममन्वयुञ्जत न वेदमन्त्रे प्रतिमापदं किमु ? ॥७७॥

अपने मुखिया तीन सेनापतियों के पाँव उखडते देख सारे पंडित एक बार ही चिल्लाकर पूछने लगे, 'बताओ वेदमें प्रतिमा शब्द है वा नहीं ?' ॥७७॥

तदस्ति मन्त्रे प्रतिमापदं खलु !! यदि श्रुतौ तत् किमु खण्ड्यते त्वया ? ।
क्वचिन्न पूजाविधिरस्ति तेन सा निवार्यतेऽश्मप्रतिमार्चना मया ॥७८॥
बुधैस्सपृष्टो यतिरागमस्थलं सविस्तरार्थञ्च तदीयमभ्यधात् ।
अमी तदावास्थिषतोद्धता भृशं निरुद्धवाचः क्षुभितान्तरंगकाः ॥७९॥

स्वा०—मन्त्रमें तो वह प्रतिमा पद तो है । प. गण०—यदि वेदमें प्रतिमा शब्द है तो किस प्रकरणमें ? और आप इसका खंडन क्यों करते हैं ? स्वा०—यजुर्वेद अ० ३२ मं. ३में "न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।" यह मन्त्र आया है इसका अर्थ यह है कि जिस प्रभु का इतना महान् यश और नाम है; उसकी कोई प्रतिमा अर्थात् परिमाण या उपमा नहीं है । इससे तो पाषाण की प्रतिमा पूजा का निषेध ही किया गया है; अतः कहीं भी वेदमें प्रतिमा पूजा का विधान नहीं है । इस पर उच्छृङ्खल पंडितगण अत्यन्त क्षुभित होकर कुण्ठित हो गये ॥७८—७९॥

पुनर्विशुद्धो यतिरन्वयुङ्क्त स विशुद्धचित्तं निगमाः कुतोऽभवन् ।
स्वा०-प्रकाशतामीश्वरतो गता इमे वि०-कुतो विभो न्यायमुखाभिवर्णितात् ॥८०॥

फिर विशुद्धानन्द यतिने विशुद्ध चित्तवाले ऋषिसे पूछा कि–वेद किससे उत्पन्न हुए ? स्वा०—ये वेद ईश्वरसे प्रकाशित हुए । विशु०—किस ईश्वरसे वेदों का प्रकाश हुआ है ? न्याय वर्णित ईश्वरसे वा योग कथित ईश्वरसे अथवा वेदान्तप्रतिपादित ईश्वरसे ? ॥८०॥

स्वा०–भवन्मते किं बहवो महेश्वराः ? वि०–स एक एवास्ति परन्तु किं गुणात् ? ।
स्वा०–प्रभोः प्रजाता निगमा जगत्स्रजः सुसच्चिदानन्दनिरञ्जनादमी ॥८१॥

स्वा०—क्या आपके मतमें अनेक ईश्वर है ? विशु०—ईश्वर तो एक ही है; परन्तु वेदो के प्रकाशक ईश्वर का क्या लक्षण है; यह बताइये ? स्वा०—विश्वकर्ता, सच्चिदानन्द, निरञ्जन, निराकार प्रभुसे वेद प्रकट हुए हैं ॥८१॥

विशु०–क एतयोरीश्वरवेदयोस्तदा समस्ति सम्बन्ध इति त्वयोच्यताम् ।
स्वा०–तयोरसावस्ति हि कार्यकारणस्वरूपसम्बन्ध इति प्रबुध्यताम् ॥८२॥

विशु०—ईश्वर और वेदमें क्या सम्बन्ध है ? यह बताइये । स्वा०—वेद और ईश्वरमें कार्य कारण भाव सम्बन्ध है; यह आप जानिये ॥८२॥

वि०–यथामनःसूर्यमुखेषु वस्तुषु प्रतीकबुद्ध्या वरिवस्यते विभुः ।
तथा शिलामूर्त्तिषु देवभावनां विधाय पूजा न विधीयतां कथम् ॥८३॥

विशु०—जैसे मनमें सूर्य, आदिमें ब्रह्म बुद्धि करके 'प्रतीक' उपासना करनी कही है; वैसे ही शालिग्राम आदिमें ईश्वर भावना करके क्यों न पूजन किया जाय ॥८३॥

स्वा०–शिलामुखं ब्रह्म तदर्च्यतां तथा यथा मनोऽग्र्ये विहितं श्रुतिव्रजे ।
तदर्चनं नैव कुतोऽपि दिश्यते श्रुतोत्तरः संयतवागभूदयम् ॥८४॥

स्वा०—जैसे उपनिषदोंमें 'मनोब्रह्मेत्युपासीत' का विधान है; वैसे उनमें 'शिला ब्रह्मेत्युपासीत' ऐसा कहाँ लिखा है ? और मनो ब्रह्म०–इत्यादिमे मन आदिको ईश्वर नहीं बतलाया है । किन्तु महान् तत्त्व बतलाकर ब्रह्म प्राप्ति का महान् साधन उसे माना गया है । हाँ; मन आदिमें ब्रह्मोपासना करने का तो विधान है: किन्तु पाषाणादिमें ब्रह्मोपासना का कहीं भी विधान नहीं है । यह उत्तर सुनकर विशुद्धानन्दजी को तो अपनी वाणी को विराम देना पडा ॥८४॥

स माधवाचार्य उवाच वाग्मिनं स पूर्त्तशब्दः प्रतिमार्थकः कथम् ।
न गृह्यते यज्ञविधौ प्रयोजित स्सुमूर्त्तिपूजा गदितान्निदीपके ॥८५॥

पश्चात् माधवाचार्यने पूछा कि–हे वाग्मीश्वर ? "ओ३मुद्बुध्यस्वाग्ने०" इस मन्त्रमें जो 'पूर्त' शब्द पडा है; उसका प्रतिमा अर्थ क्यों न लिया जाय ? अग्निहोत्रमें मूर्तिपूजन का प्रतिपादन है ॥८५॥

स्वा०–तडागवापीप्रहिमोदकानने प्रयुज्यते पूर्त्तपदं नृणां हिते ।
हितप्रपूर्त्तिर्ह्यमुभिर्विधीयते निरीक्ष्यतां मन्त्रनिरुक्तमत्र तत् ॥८६॥

स्वा०—इस मन्त्रमें 'पूर्त' शब्दसे तडाग, वापी, कुआँ और उद्यान आदि लोकहितकर कार्यों का ग्रहण किया जाता है। 'पूर्त' शब्द पूर्ति का वाचक है; इससे मूर्तिपूजा का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता। विशेष जानना चाहते हो तो इस मन्त्र का निरुक्त और ब्राह्मण देख लीजिये ॥८६॥

माध०-पुराणशब्दो निगमेऽस्ति वा न वा? स्वा०-बहुत्र तत्रैष विलोक्यते परम्।
अतीतकालार्थपुरातनार्थको विशेषणं सोऽपि विशेष्यवस्तुनः ॥८७॥

माध०—'पुराण' शब्द वेदोंमें आया है कि नहीं? स्वा०—'पुराण' शब्द तो वेदमें अनेक स्थल पर पाया जाता है; किन्तु वह है पुरातन काल का वाची, सनातन अर्थ का बोधक। और वह विशेष्य वस्तु का विशेषण है ॥८७॥

न गृह्यते भागवतादि नूतनं विरिञ्चिवैवर्त्तमुखं पुराणतः।
निरुत्तरे माधवपण्डिते पुनर्यति विशुद्धो यतिहंसमुक्तवान् ॥८८॥

उससे ब्रह्मवैवर्त्त और भागवतादि नूतन ग्रन्थों का ग्रहण नहीं हो सकता। माधवाचार्य चुप हो गये फिर विशुद्धानन्दने यतिहंससे कहा कि— ॥८८॥

बृहत्तरारण्यक आगतं भवान् पुराणशब्दं मनुते नु मानतः।
स्वा०-प्रमाणभूतोपनिषत्पदं कथं मतं न मे दर्शय पुस्तकं ततः। ॥८९॥

'बृहदारण्यक' उपनिषद्में आया हुआ 'पुराण' शब्द आप प्रमाण भूत मानते हैं या नहीं? स्वा०—बृहदारण्यक का 'पुराण' शब्द मैं क्यों न मानूँगा? किन्तु वह किसका विशेषण है यह पुस्तक दिखाने पर बता दूँगा ॥८९॥

विशेषणं कस्य नु दर्शयामि ते स माधवोऽतः परिगृह्यपत्रके।
प्रदर्श्य पाठं पठतिस्म योगिने तं ब्राह्मणानीति तदन्यपुस्तकात् ॥९०॥

माध०—वह किसका विशेषण है यह मैं आपको दिखाता हूँ। ऐसा कहकर गृह्य सूत्र ग्रन्थ के दो पन्ने पकडकर योगी को दिखलाकर 'ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति' पढकर सुनाया ॥९०॥

स्वा०-विशेषणं ब्राह्मणनामगामि तत् पुरातनब्राह्मणबोधनार्थकम्।
बाल०-नवं नु किं ब्राह्मणमस्ति नास्ति तच्छङ्काऽपि माभूदिति नूतनस्य सा ॥९१॥

स्वा०—यहाँ 'पुराण' शब्द 'ब्राह्मण' शब्द का विशेषण है। इसका तात्पर्य यह है कि—ब्राह्मण पुरातन अर्थात् सनातन है। बाल०—क्या कोई ब्राह्मण नूतन भी है? स्वा०—ब्राह्मण नवीन तो नहीं है, परन्तु किसी को सन्देह करने का अवकाश ही न मिले; इसलिये यह विशेषण रखा गया है ॥९१॥

विशु०-विशेषणं किं व्यवधानतोभवेत् स्वा०-किं सन्निधानाद् व्यवधानतो न किम्?।
न कोऽपि चायं नियमोऽस्ति शास्त्रके गीतागतं पद्यमिदं निरीक्ष्यताम् ॥९२॥

विशु०—इस पाठसे 'ब्राह्मण' और 'पुराण' इन दो शब्दों के बीच 'इतिहास' शब्द व्यवधानरूप पड़ा है; तो क्या व्यवधान होने पर विशेषण होगा ? स्वा०—क्या सन्निधानमें ही होता है ? व्यवधानमें नहीं ? व्याकरण शास्त्रमें यह कोई भी नियम नहीं है कि व्यवधान होने पर विशेषण न हो सके; देखिये—'अजो नित्यशाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' इस गीता के श्लोकमें विशेषण कितना दूर पड़ा है ॥९२॥

वि०-नवेतिहासो ननु गृह्यतामितः पुराणशब्दो न विशेषणं यतः ।
स्वा०-अस्तीतिहासस्य तदागमान्तरे पुराण एवायमतोहि बुध्यताम् ॥९३॥

विशु०—'इतिहासःपुराणानि' इस पाठमें यदि 'इतिहास' शब्द का 'पुराण' शब्द विशेषण नहीं है तो क्या इससे यहाँ नवीन इतिहास ग्रहण करोगे ? स्वा०—'इतिहासः पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः छान्दोग्य०—के इस पाठमें 'पुराण' शब्द 'इतिहास' शब्द का विशेषण है ॥९३॥

श्रुतौ न पाठोऽयमिति प्रवञ्चकै स्तैर्वामनाचार्यमुखैरुदीरितम् ।
श्रुतौ न पाठो यदि मे पराजयो भवेत्स पाठो भवतां पराजयः ॥९४॥

इस पर वामनाचार्य आदि धूर्त पंडित कहने लगे कि यह पाठ उपनिषद् का नहीं है। स्वा०—यदि यह पाठ उपनिषद्में न हो तो मेरा पराजय और यदि निकल आये तो आपकी हार समझी जाय ॥९४॥

इयं प्रतिज्ञोभयपक्षकैरिह प्रलिख्यतां संसदि सत्यभावतः ।
इति प्रसह्योदित एव योगिनि वाचंयमा पण्डितमण्डली बभौ ॥९५॥

यह प्रतिज्ञा सभामे सत्यता-पूर्वक उभय पक्षवाले लिख दें !! इस प्रकार बलपूर्वक योगिराजने कहा तब सब पंडितों के मुख बद हो गये ॥९५॥

निःशब्दचित्रे सकले सभास्थले स्वामी दयानन्दसरस्वतीश्वरः ।
गर्जन्नपृच्छद् यदि वित्थ भाष्यतां किं कल्पसंज्ञालिखितास्तिवानवा ॥९६॥

कितनी ही देर तक सारे सभा स्थलमे एक सन्नाटा सा छा रहा। जब देर तक किसीने कोई प्रश्न न किया तो सरस्वती के स्वामी दयानन्दने सब पंडितो को ललकार कर कहा कि—आपमे से जो व्याकरण जानते हैं; वे बतायें कि व्याकरणमें कहीं 'कल्प' सज्ञा की गई है अथवा नहीं ! ॥९६॥

बाल०-संज्ञा महाभाष्यकृता कृता न तु किन्त्वपहासो विहितः स्थले क्वचित् ।
स्वा०-कुत्रोपहासो निजवाक्यपुष्टिदं वाच्यं प्रमाणं ननु बालशास्त्रिगट् ? ॥९७॥

बाल०—सज्ञा तो नहीं की है किन्तु एक स्थलमें भाष्यकारने उपहास अवश्य किया है। स्वा०—आप अपने कथनमें कोई प्रमाण उपस्थित करें और बतावें कि भाष्यकारने कहाँ उपहास किया है ? ॥९७॥

श्रुत्वा वचो विश्वगुरोः स पण्डितो मौनं स्थितोऽन्येऽपि बुधाअशिश्रियन् ।
इत्थं चिरं शास्त्ररणे बुधाभटा अचीकरन् वाक्कलहं कलिप्रियाः ॥९८॥

जगद्गुरु का यह कथन सुनकर बालशास्त्री चुप हो गये और दूसरे पंडितों की भी मौन-मुद्रा भंग न हुई । इस प्रकार चार घंटों तक निरन्तर शास्त्र समरमें कलहप्रिय पंडित भट स्वामीजीसे वाग युद्ध करते रहे ॥९८॥

शास्त्रप्रमाणोद्धतसद्दलमार्गणैः प्राजीहरत्तान् प्रतिवादिभीष्मराट् ।
नक्षत्रसंख्यान् युगपद् विपश्चितो नाजीगणद् ब्रह्ममहास्त्रभृद्वरः ॥९९॥

किन्तु प्रतिवादी भीष्मराज दयानन्द के शास्त्रों के प्रमाणों के परमास्त्रोंसे एवं प्रबल तर्क के तीरों से हत-प्रतिहत होकर, एक एक पंडित वीर पीछे लौट आता रहा । वेद के महास्त्र को धारण करनेवाले वागीश्वरने एक ही साथ सत्ताईस राजपंडितों को कुछ न गिनकर हरा दिया ॥९९॥

इयदनिज्जनतायां प्राग्भूभृत्सभायां
विहित इयति यत्नेऽपीयतां ज्ञेश्वराणाम् ।
इयदपजय एवं प्राक् कदाचिन्न काश्या-
मजनि यति कृतोऽद्धा ब्रह्ममूर्त्यर्चकानाम् ॥१००॥

इतनी बडी संख्यामें, ऐसी बडी सभामें, इतना बडा उद्योग करने पर भी, इतने बडे विद्वानों का इसप्रकार, मूर्तिपूजकों की इस नगरीमें पहले कदाचित् ही ऐसा पराजय हुआ होगा; जैसा कि आज दयानन्दने इनका पराभव किया ॥१००॥

इति अष्टादशः सर्गः ।

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सचित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये काशीराजसमग्रपण्डितमतंगजपराजयो नामाष्टादशः सर्गः ।

ऊनविंशः सर्गः ।

मनो जितं येन मनीषिणाऽमुना जगज्जितं विश्वमिदं विदांमतम् ।
ततोऽपि वेदार्थविदां वरः परो जये विलम्बः क्व नु तस्य धीमताम् ॥१॥

जिस मनीषीने मन को जीत लिया उसने सारे जगत को जीत लिया; ऐसी लोकोक्ति है। उसमें भी जो वेदार्थ जाननेमें परम विद्वान् हो उसका जय होनेमें क्या देर ?? ॥१॥

यदा न शास्त्रार्थबलस्य सत्फलं नवीननैयायिक शब्दशास्त्रिभिः ।
अलम्भि तैश्चिन्तितकूटनीतिभिस्तदा विजेतुं समचिन्ति सद्गुरुः ॥२॥

जब नवीन नैयायिक और शब्दशास्त्री पंडितों के शास्त्रार्थरूप सामर्थ्य का अच्छा फल न हुआ; तब उन्होंने कूट नीतिसे सद्गुरु को जीतने का विचार किया ॥२॥

दिवाकरेऽस्ताचलचुम्बिमण्डले शनैः शनैस्तत्र तमःपटावृते ।
श्रुते दले द्वे परिसार्य नामतो विदां दले क्षोऽक्षिपदेष माधवः ॥३॥

उस समय सूर्य अस्ताचल के शिखर पर जा रहा था । धीरे धीरे अंधकार गाढतर होता चला जा रहा था; ऐसे समयमें माधवाचार्यने वेद के नामसे दो पन्ने निकाल कर पंडितों के मध्यमें रख दिये और पूछा कि— ॥३॥

मखे समाप्ते दशमे दिने द्विजः पुराणपाठं शृणुयादितीह यत् ।
अलेख्ययं कस्य विशेषणं यते पुराणशब्दो वद सत्वरं स्वतु ॥४॥

'यज्ञसमाप्तौ सत्या दशमे दिवसे पुराणपाठं शृणुयात' इस वेद वाक्यमें पुराण शब्द किसका विशेषण है ? यह बताइये, शीघ्र बताइये-सन्यासीजी ? ॥४॥

दले गृहीत्वा यमिना करे यदा प्रदीपकेऽन्धेऽस्फुटमक्षरव्रजम ।
पलद्वयं वीक्षितुमेव पारितं तदा विशुद्धो निजगाद योगिनम ॥५॥

महर्षिने दीपक मगाया और हाथमें जब वे पन्ने लेकर धुंधले प्रकाशमें अस्पष्ट अक्षर देख ही पाये इतनेमें ही विशुद्धानन्दने योगीश्वरसे कहा कि— ॥५॥

अलं विलम्ब्यायि विलम्ब एष नो भवत्यहो त्वं जित एव साम्प्रतम ।
उदीर्य चैवं करतालिकाध्वनिं चकार सोऽयं जनताऽप्यनुस्वनम ॥६॥

'स्वामीजी ! विलम्ब न कीजिये । हमें देर होती है । ओ हो, अब हार गये ।' यह कहकर उन्होंने ताली बजाई; अन्य पंडितोंने भी उनका साथ दिया और जयघोष किया ॥६॥

नृपोऽपि विद्वन्निचयोऽप्ययं पराजितो दयानन्द इति स्वजिष्णुताम् ।
प्रघोषयन्नुत्थितवानसत्यवाक् सभासनात्तं जनताऽप्यनुव्यधात् ॥७॥

महाराजा तथा अन्य पण्डित-गण भी 'दयानन्द हार गया' ऐसा झूठ मूठ कहकर विजय नाद करते हुए, अपने अपने आसनोंपरसे उठ गये; जनताने भी उनका अनुकरण किया ॥७॥

सभाम्बुधिः संक्षुभितः खला जना ततदेष्टकागोमय लोष्टपादुकाः ।
तपोनिधौ विश्वगुरौ कुधाऽक्षिपन् सघोरमुच्चैरपशब्दपूर्वकम् ॥८॥

सभा सागर क्षुब्ध हो गया। उस समय कुछ दुष्टोंने तपोनिधि जगद्गुरु दयानन्दके उपर ईंटे, ढेले और गोबर पैके और जूते उछाले; तथा गलियाँ दी ॥८॥

स कोटपालो रघुनाथपण्डितो रक्षन् तं वेश्म निधाय योगिनम् ।
उपद्रवेत्कांश्च शठानसारयत् स्वसैनिकैः स्तनमिताढ्य संसदः ॥९॥

पण्डित रघुनाथप्रसाद कोतवालने स्वामीको खिड़कीके भीतर करके किवाड बंद कर दिये और अपने बॉन्स्टेबिलोंसे उपद्रवकारी गुण्डोंको पिटवाकर सभा स्थलसे भगा दिया ॥९॥

यतिं न रक्षेद् यदि सेऽद्य सैन्यपो भवेत्क्षताङ्गो नियतं तदा व्रती ।
अभूदयं यद्यपि मूर्तिपूजको मनाङ् न स न्याय्यपथच्युतः कृती ॥१०॥

यदि वह थानेदार, महाराजकी रक्षा न करते तो निश्चित महाराज क्षत विक्षत हो जाते। यद्यपि कोतवाल मूर्तिपूजक था परन्तु वह जरा भी न्याय मार्गसे च्युत न हुआ ॥१०॥

न भारतीयैरपि विश्वमानवैः सदाभिनन्द्येत स वन्द्यवर्तनः ।
प्रतिष्ठितोऽयं निजधर्मपालनाद् यशःशरीरोऽमरतां गतो भुवि ॥११॥

कर्त्तव्यपरायण, न्यायप्रिय, आदरणीय कोतवाल न केवल भारतीय जनोंसे अपितु सारे संसारके सभ्योंसे सदा अभिनन्दनीय होगा। यह अपने कर्त्तव्यके पालनसे संसारमें कीर्ति छोड़कर अमरत्वको प्राप्त होगा ॥११॥

न निन्दनात्स व्यरमन्महीभुजो निजप्रबन्धान्ययकारिणस्तदा ।
निदर्शनं न्यायपरायणात्मनां न कस्य वन्द्यो मनुजस्य सज्जनः ॥१२॥

कोतवाल अपने प्रबन्धमें गडबड करनेवाले काशीनरेशको भी उनके अन्यायके लिये उपालम्भ देनेसे न चुका। यह एक न्यायपरायण व्यक्तियोंमें निदर्शनरूप था, ऐसा सज्जन किसका वन्दनीय न हो ॥१२॥

उदीरयन्तो जयनादमुद्धता निनादयन्तो जयदुन्दुभिं बुधाः ।
समग्रकाशीनगरीप्रतेलिका अटाट्यमाना ययुरात्ममन्दिरम् ॥१३॥

उद्धत पण्डित लोग जयनाद करते हुए तथा विजय दुन्दुभि बजाते हुए काशीके मार्गों, उपमार्गों, हाट बाजारोंमें घूमते घामते अपने अपने घरोंको सिधारे ॥१३॥

मनस्समुद्रे न यतेः स्तरङ्गिका न वास्यचन्द्रे रुचिरे कलङ्किका ।
शमामले हन्तुकुरे न कृष्णिका न नेत्रयो र्वाऽजनि मन्युबिम्बिका ॥१४॥

यह सब कुछ हुआ किन्तु यतीश्वरके न तो हृदय महासागरमें छोटीसी भी क्षोभ की लहर उठी, न तो सुन्दर मुख-चन्द्रमे कलक रेखा दिखाई दी, न तो शान्तिसे निर्मल मनरूप दर्पणमें जरासी कृष्णकणिका भी प्रतीत हुई और न तो उनके नेत्रोके उपर क्रोधकी त्योरी प्रकट हुई ॥१४॥

यदोपहासे करतालिका हता नृपं तदोवाच मुनि र्हसन्मुदा ।
अहो शतघ्नीपटहस्थले भवान् प्रपूज्यते तालिकयेव केवलम् ॥१५॥

जब स्वामीजीके उपहासमें राजा आदि सब लोगोंने तालियाँ बजाई थीः तब प्रसन्नवदन मुनिवरने हँसते हुए नरेशसे कहा था कि—"ओहो ! ! तोपों और नौबतोके स्थानमें आप महाराजाका केवल तालियोंसे सत्कार किया जा रहा है" ॥१५॥

असभ्यशीलं तु पृथग्जनैः कृतं विनिन्द्यते संसदि किं पुनर्यदि ।
विदां वरै र्भारतभूषणै र्दृभि र्विगीयतां ग्लानिकरं कथं न तत् ॥१६॥

सभामें साधारण जन यदि असभ्य वर्तन करे तो उसकी निन्दा की जाती है; फिर यदि भारतभूषण काशीनरेश और उनके राजपण्डित ऐसा असभ्य और अन्यायपूर्ण वर्ताव करे; तो वे क्यों न अति निन्दाके पात्र बने ? ॥१६॥

विवेकीनस्ते शतशोऽभवज्जनाः सभागता ये नृपपण्डितैः कृतम् ।
अनीतिवृत्तं प्रसमीक्ष्य सच्छलं निनिन्दुरेतान् मनसा मृषेदितान् ॥१७॥

सभामें सैकडों विचारशील, सभ्य उपस्थित थे; उन्होने राजपण्डितोंद्वारा किया गया हुआ अनीतिपूर्ण आचरण एवं सत्पुरुष पर किया हुआ छल देखकर मनमें उन मिथ्यावादी पण्डितोकी निन्दा की ॥१७॥

अनादरान्यायविनिन्दनादिभि र्मनो दयानन्दमुनेरनाकुलम् ।
विलोक्य लोका विविदु र्न केवलं विदांवरं तं परमात्मचित्तमम् ॥१८॥

अपमान, अन्याय, अपशब्द और निन्दा आदिसे भी दयानन्द मुनिके मनको अनाकुल देखकर सज्जनोने जान लिया कि यह महात्मा न केवल धुरन्धर विद्वान् ही है; अपितु एक पहुँचा हुआ सच्चा ब्रह्मज्ञानी सन्यासी है ॥१८॥

परेद्युराह्वास्त बुधान् पुनर्यति र्विनिर्णयायानृतसत्यवृत्तयोः ।
पुराणशब्दस्य विशेष्यवाच्यतां निराकृत ज्ञापनपत्रके बलात् ॥१९॥

दूसरे दिन फिर भगवान् दयानन्दने सत्यासत्य निर्णय करनेके लिये उन राजपण्डितोंको आव्हान किया और एक विज्ञापनमें 'यज्ञ समाप्तौ सत्यां दशमे दिवसे पुराणपाठं श्रृणुयात्' इस वेद विरुद्ध अन्य ग्रन्थके वाक्यका अर्थ छपवाकर श्रुति सम्मत 'पुराण' शब्दको विशेष्य-वाच्यताका जोरसे खण्डन किया ॥१९॥

अवेदिषु श्रेनसि वेदमूलकं मुनेर्ऋतं पक्षममी महाबुधाः ।
ह्रिया तु लोकस्य भियाऽपि जीविकाहते न शेकु र्ह्यनुमन्तुमुल्वणम् ॥२०॥

ये राजपण्डित अपने मनमें महर्षिका पक्ष सत्य एवं वेदमूलक है ऐसा समझते थे; किन्तु लोक लज्जा राजभय तथा जीविका हानिके कारण स्पष्ट अनुमोदन नहीं कर सकते थे ॥२०॥

निरक्षत व्याकरणाद्वितीयतां पुरा यते र्दण्डिगुरो र्निषेण यः ।
बुधस्सखाराममुवेदविन्मणि र्ययौ सभायां न स बाधितोऽपि सन् ॥२१॥
तदीयशिष्यं पदतन्त्रमन्त्रयोरभंस्त जेतुं स नसंभवं बुधः ।
ऋतं च सिद्धान्तममुष्य कोविदान् यतो न्यषेधीदधितुं च संसदि ॥२२॥

पण्डित सखाराम भट्ट व्याकरण और वेदमें अच्छे विद्वान् थे। इनको राजपण्डितोंने सभामें आनेके लिये अति आग्रह किया था; किन्तु वे सभामें गये ही नहीं। वे इस बातको जानते थे कि दयानन्दको व्याकरणमें पराभूत करना असम्भव है; क्यों कि दयानन्द, दण्डी विरजानन्द जैसे व्याकरण केसरीके शिष्य हैं। उनको दण्डीजीकी व्याकरण निपुणताका स्वयं परिचय था; और उनके सत्य सिद्धान्तको सखाराम भट्ट समझते थे; अतः राजपण्डितोंको उन्होंने सभामें जानेके लिये निषेध भी किया था ॥२२॥

धुरन्धरा धर्मकथाप्रथाकृतां यदीयदीक्षाऽऽर्यजनैरमन्यत ।
सभाजिरेऽमी भयमेव भेजिरे यतीन्द्रसिंहस्य रवान्मृगा इव ॥२३॥

सारा सनातनी समाज जिनकी धर्मव्यवस्था प्रमाणभूत मानता था; वे पौराणिक धर्मकथाका प्रचार करनेवाले धुरन्धर राजपण्डितरूपी मृगगण, सभा प्राङ्गणमें यतीन्द्रसिंहके वेद धर्मरूप गर्जनसे भयभीत हो गये थे ॥२३॥

अनेकदाऽऽह्वानमयं विचारणां विधातुमिच्छन् वितताव तारतः ।
मनीषिहंसो नृपविङ्ककौशिकान् निलिल्यिरे मन्दिरकन्दरे तु ते ॥२४॥

इस मनीषी सूर्यने अनेकबार बडी जोरसे शास्त्रार्थ करनेकी इच्छासे राजपण्डितोंको चैलेञ्ज दिया था, किन्तु वे दिवान्धके समान मन्दिर गुफामें छिपे रहते ॥२४॥

सहस्रशो देवमतानुगामिनोऽभवञ्जनास्तस्य जयश्रियोऽमलाः ।
कलानिधे र्मानवमानसाम्बरे चकाशिरे शुक्लकलाइवानिशम् ॥२५॥

हजारों लोग दयानन्ददेवके अनुयायी हो गये; और कलानिधिकी शुक्लकलाओंकी तरह इनकी विजय प्रभा निरन्तर मानव हृदयाकाशमें चमकने लगी ॥२५॥

अहेहसा संसरता सता समं कृतस्य दुष्टाचरणस्य दुःखतः ।
मनोऽनुतप्तं नृपते र्यतेः यतिं समानयत्सादरमात्ममन्दिरम् ॥२६॥

जैसे जैसे काल बीतता गया; वैसे वैसे सत्पुरुषके साथ किये हुए अन्यायाचरणके दुःखसे काशीनरेशका हृदय पश्चाताप करने लगा; अतः उन्होंने एकदिन यतीन्द्रको आदरपूर्वक गाड़ीमें बिठाकर अपने राजमन्दिरमें बुलवाया ॥२६॥

सुवर्णसिंहासनमात्मवित्तमं तदोपवेश्यात्मकरेण स स्रजम् ।
गले समारोप्य पदाम्बुजानतः कृताञ्जलिः काशिपतिर्जगाद यत् ॥२७॥

स्वामीजी जब राजमहलमें गये तब काशीपतिने इन ब्रह्मज्ञानी महात्माको सम्मानपूर्वक सुवर्ण सिंहासन पर बिठलाया और चरण प्रणाम कर अपने हाथसे उनके गलेमें पुष्पहार पहनाया, फिर वे हाथ जोड़कर बोले कि—॥२८॥

मदन्वयाचारवशेन शैशवादहं प्रकुर्वे सुरमूर्त्तिपूजनम् ।
चिरं तदर्चानिरतेन सद्गुरो ! भवन्निकारोऽकियतेदृशोमया ॥२८॥

"हे गुरुदेव ? हमारे कुलमें मूर्तिपूजन परम्परासे चला आता है; मैंभी बाल्यकालसे मूर्तिपूजा करता आया हूँ, इसलिये चिरकालके धर्मानुरागसे शास्त्रार्थके समय मुझसे आपकी अवज्ञा हो गई थी" ॥२८॥

क्षमाप्रदानेन जनः क्षमानिधे ! दयासमुद्रेण हृदाऽनुगृह्यताम् ।
ममानुतप्तं हृदयं दयाम्बुना निषिच्य शान्तं भवता विधीयताम् ॥२९॥

"आप क्षमाके सागर हैं; तथा दयाके भण्डार हैं; अतः आप हृदयसे क्षमा प्रदान कर मेरे अनुतप्त मनको दयावारी बरसाकर शान्त कीजिये" ॥२९॥

वचोमृगाङ्केन नृपस्य सन्मणे र्हृदम्बुधिः प्रेमजलैः प्रपूरितः ।
अदीयतार्येण मुदा हृदा क्षमा मनो भृशं सान्त्वयितुं तदस्य सा ॥३०॥

काशीनरेन्द्रके वचनचन्द्रसे सन्तरत्नके हृदय महासागरमें प्रेमजलकी बाढ आ गई। भगवान्ने इनके मनको अत्यन्त सान्त्वना दी और आनन्दसे क्षमा प्रदान कर दी ॥३०॥

न वैरलेशो निजघातकान् प्रति यदीयचेतोभुवि स प्ररोहति ।
दयामयोऽल्पीयसि भूमिपागसि क्षणं हृदीमं खलु धारयेत्कथम् ॥३१॥

जिनकी मनोभूमिमें अपने घातकोंके प्रति भी अल्प वैराङ्कुर तक प्रकट नहीं होता; वे दयामय इस जरासे राजापराधके लिये क्षणभर भी हृदयमें किस प्रकार वैरभावना रक्खें ॥३१॥

अथोपहारे रुचिरान्नवस्तुभिः सुवर्णमुद्रा स्सुवितीर्य पादयोः ।
व्यसर्जयत् पुष्यरथप्रतिष्ठितं विधाय राजा यतिराजमादरात् ॥३२॥

पश्चात् महाराजाने बहुत सी सुवर्ण मुद्राएँ और कुछ मुरब्बे आदि भोज्य पदार्थ यतिराजके चरणोंमें भेंट किये और बड़े आदरसे बग्गीमें बिठलाकर उनको विदा किया ॥३२॥

अथेतिवृत्तेषु तदीयतन्त्रिभिः समक्षशास्त्रार्थसमीक्षकै र्बुधैः ।
ऋषेर्जयोद्घोषण एव लेखिताः सदग्रलेखा नृपविज्ञनिन्दकाः ॥३३॥

काशीके शास्त्रार्थ सम्बन्धमें कार्तिक संवत् १९२६ नवम्बर सन् १८६९ को 'ज्ञान प्रदायिनी—लाहौर', 'प्रत्न कश्र नन्दिनी'—सम्पादक प. सत्यव्रत सामश्रमी, 'आर्योनीयर', 'हिन्दू पेट्रियट' तथा 'रोहलखंड समाचार पत्र'ने [कि जिनके सम्पादकोंने स्वयं शास्त्रार्थ देखा था] अपने अग्रलेखोंमें ऋषि दयानन्दकी जयोद्घोषणा लिखकर राजपंडितोंके निन्द्य वर्तनकी अच्छी आलोचना की थी ॥३३॥

ऋतानलश्छादयितुं कियच्चिरं प्रभूयते कैतवकर्मकारिभिः
अतथ्यशुष्कच्छदपंक्तिभिः क्षितौ कथं चिरं संव्रियतां घनै रविः ॥३४॥

संसारमें छल कपट करनेवाले लोग असत्य – भस्मावली से कितने समय तक सत्य की अग्नि को ढाँक सकेंगे ? मेघमण्डल, मार्तण्ड को कब तक आच्छन्न रखेगा ? ॥३४॥

उवास काश्यां बुधरामभिश्रको महोद्धतो योगिमुखावलोकने ।
अघं स मेने युवकोऽस्य निन्दनं चकार नित्यं च जगाद मानवान् ॥३५॥
अहं दय नन्दममुं स्वभाषणं ध्रुवं विदध्यां सरलं सहृद् यदि।
समालपेयं प्रतिमार्चनालवं तदा परित्याज्य कियत्पलैरलम् ॥ ३६ ॥

काशी में एक रामस्वामी मिश्र नामक महामहोपाध्याय निवास करता था । वह युवावस्था के प्रभाव से स्वामी दयानन्द के लिये अति निन्दा वचन बोला करता था । लोगों से कहता कि " मैं दयानन्द को एक दम सीधा कर दूं और उससे थोडी ही बातचीत में मूर्तिपूजा का खण्डन छुडवा दूंगा किन्तु उस का मुख देख लेने से मुझे पातक लग जायगा । इससे मैं नहीं जाता" ॥ ३५ – ३६ ॥

निशातमिस्रे यतिपार्श्वमेत्य स बभाण मन्ये सुरवाचिभाषणम् ।
त्वया समं पापकरं ततो नृणां गिरा करिष्यामि पणञ्च तं यथा ॥ ३७ ॥

अन्धेरेमें दयानन्द का मुख देखे विना भी उसे सीधा किया जा सकता है, यह सोच कर वह एक दिन रात के समय स्वामीजी के पास आया और कहने लगा "तेरे जैसे पतित पुरुष के साथ मैं देववाणी में बोलना पाप समझता हूं; इसलिये देश भाषामें बात चीत होगी, परन्तु तुम्हें मेरी एक शर्त माननी पडेगी ॥ ३७ ॥

इयं निधेया छुरिकाऽन्तरा नु मां यते ! तथा त्वां विजितो भवेच्च यः ।
तदीयनासा जयिनैव लूयतां ततोऽ ब्रवीदेष हसन् वरः सताम् ॥ ३८ ॥

यह एक छुरी दोनों के बीच रक्खी जायगी, जो शास्त्रार्थ में हार जायगा; उस की इससे नाक काट दी जायगी " । इस पर सन्त शिरोमणि हँस कर बोले — ॥३८॥

निषेधतीमं सुरवाचिभाषणात् तदीयशब्दान्ननु भाषितुं दिशेत्।
वरं परं साऽयि! पराऽपिशस्त्रिका जितस्य जिह्वां लवितुं निधीयताम् ॥३९॥

"आप मुझे संस्कृत भाषा बोलने से तो रोकते हैं परन्तु संस्कृत भाषा के शब्द तो बोलने देंगे ? अच्छा, पण्डितजी ! एक शर्त मेरी भी मान लीजिये; वह यह है कि 'एक चाकू भी पास रख लिया जाय; जो हम में से हार जाय उससे उसकी जीभ काट ली जाय – ॥ ३९ ॥

इयं रसज्ञा खलु दोषभागिनी निरर्गला वादकलास्वनर्थकृत्।
परं निरागाः शुभनासिका तु सा प्रशासनं मन्तुकृतां हि पुण्यकृत् ॥ ४० ॥

क्योंकि नाक तो इन बातोंमें निर्दोष है। वाद विवादमें जो कुछ अनर्थ होता है; उसकी अपराधिनी यह निरर्गल जीभ ही है। अपराधीको दण्ड देने से पाप नष्ट होता है' ॥ ४० ॥

मुहूर्त्तमुद्दण्डतयाऽऽलपद् युवा यतिर्ददौ सभ्यतया तदुत्तरम्।
व्यलीयतान्तेऽस्य हृदोऽतिवक्रता समालपन्नम्रतयाऽमुनासकौ ॥ ४१ ॥

वह युवा पंडित मूहूर्त तक उद्दण्डता से वार्तालाप करता रहा और यतिजी सभ्यता से उसका उत्तर देते रहे; इससे वह इतना प्रभावित हुआ कि उसके हृदय की वक्रता विलीन हो गई और वह नम्रता से बोलने लग गया ॥ ४१ ॥

निजाभिमानं फलतो विहाय स निरुत्तरीभूय गतो विलज्जितः।
ध्रुवं लुनियादितरोऽस्य नासिकां दयांचकारेह दयामयः परम् ॥ ४२ ॥

अन्तमें वह अपने अभिमान को त्याग कर, शास्त्रार्थ में निरुत्तर हो, लज्जित हो कर घर चला गया दूसरा कोई होता तो निश्चित उसकी नाक काट लेता !! परन्तु दयालु देव ने इस पर दया कर दी ॥ ४२ ॥

अथैकदैकः कपटी जनो मुनेः सुभक्तिमादर्श्य निनाय भोजनम्।
कृताशनोऽभूदिति नान्वमन्यत कृती तदीयं स तदाऽगदन्नतः ॥ ४३ ॥

पश्चात् एक दिन एक मनुष्य भक्तिभाव प्रदर्शित करता हुआ तथा हृदयमें कपट रखता हुआ महर्षि के लिये भोजन ले आया। ऋषिवर भोजन कर चुके थे; इस लिये उन्होंने वह स्वीकार न किया, तब उस कपटी भक्तने निवेदन किया कि ॥ ४३ ॥

न गृह्यते चेद् गुरुवर्य! जेमनं तदा तु ताम्बूलदलं प्रभुज्यताम्।
यती तदादाय विमुद्रय वीक्षते स यावदेष द्रुतवान् कुरङ्गवत् ॥ ४४ ॥

"हे गुरुदेव ? यदि भोजन ग्रहण नहीं करते तो यह पान ही खा लीजिये।" यतीश्वर पानका बीडा ले उसे खोलकर ज्योंहि देखने लगे त्योंहि वह वञ्चक झटपट वहांसे हिरण की भांति भाग गया ॥ ४४ ॥

परीक्षितं तद् दलमौषधालये हलाहलं तत्र विमिश्रमैक्ष्यत ।
इति प्रभूतैः खलदुर्जनैस्सदा तदा तु काश्यामुपधिर्व्यधीयत ॥ ४५ ॥

इस पान की जांच राज्य-औषधालयमें कराई गई। उस पानमे हलाहल विष मिला हुआ पाया गया। इस प्रकार बनारस के बहुतसे गुण्डे स्वामी के वध के लिये सदा षड् यन्त्र रच रहे थे ॥ ४५ ॥

दलं खलानां मुनिराड्वधोद्यतं प्रविद्य सद्यो गुरुमंद् जवाहरः ।
अशिश्रवद् वृत्तमिदं च योगिनं भयाकुलोऽसौ तमसान्त्वयद् यतिः ॥ ४६ ॥

बाबा श्री जवाहरदासजीको जब यह पता लगा कि मुनि सम्राट के वध के लिये गुण्डों का मण्डल उद्यत हैं। तब वे तत्काल गुरुदेवके पास आये और भयाकुल होकर योगीन्द्रको यह समाचार सुनाया। स्वामीजी ने उन को सान्त्वना दी और कहा कि ॥ ४६ ॥

भयं न कार्यं घटना न मे नवा बलाद् धृतं क्षेत्रमिलाभुजा पितुः ।
निशम्य बाल्ये प्रतिवेशिकक्रिरान् स खड्गपाणि र्व्यजयेऽहमेकलः ॥ ४७ ॥

"आप घबरायें नही; यह कोई नई बात नहीं है। मेरे साथ तो ऐसी बाते बहुत बीत चुकी हैं। बचपनमे हमारे एक पडोसी भूमिहार ने हमारे एक खेत पर अपना अधिकार कर लिया था। पिताजीने जब पडोसी की इस धींगा धींगी की बात मुझे सुनाई तो मैं आवेश से हाथ में तलवार लेकर उन पर जा टूटा। मैंने अकेलेने कई मनुष्यों को जीत लिया" ॥ ४७ ॥

समागतान् पञ्चदश द्विषः समं प्रहर्तुमेको ह्यलमस्मि साक्रमान् ।
तदीयमाच्छिद्य कृपाणमेव तान् पराक्रमैर्द्रावयितुं च सिंहवत् ॥ ४८ ॥

"एक साथ आक्रमण करनेके लिये आए हुए पंद्रह शत्रुओंको मैं अकेला सिंहकी भांति उनकी ही तलवार छीनकर अपने पराक्रम से उन पर प्रहार कर भगा देने के लिये समर्थ हूं" ॥ ४८ ॥

महामुनेर्हुङ्कृतिनाद ईदृशो भयङ्करोऽभूद् यदुपान्तसेविभिः ।
प्यधीयत स्वश्रवसोर्युगं हठा निजाङ्गुलीभ्यां चकितं हरेरिव ॥ ४९ ॥

सिंह समान महामुनि का हुंकारनाद इतना भयङ्कार था कि पास रहनेवाले को चकित हो कर अपनी अंगुलियो से हठात् अपने दोनों कान बंद कर देने पडते थे ॥ ४९ ॥

अथैकदा सिंहसमानविक्रमो गजेन्द्रगत्या स चचाल काननम् ।
समुद्रगम्भीरमना मनोरमो मनोऽहिंसः कलहंससंक्रमः ॥ ५० ॥

एक समय समुद्र सम गंभीर मन वाले, कलहंस की सी चाल वाले, मृगेन्द्र समान पराक्रम वाले, सर्वाङ्ग सुन्दर, मनोहर हंस दयानन्द, गजेन्द्रगतिसे जङ्गलकी ओर जा रहे थे ॥ ५० ॥

बली बलीवर्दसमांसमांसलस्तमन्वगान्मल्लकतल्लजः पुमान् ।
करे दधानो दृढचण्डदण्डकं तरा सतुदण्डतया दुरा यः ॥ ५१ ॥
यथा परावृत्य निरैक्षि योगिना नृ सशीलः समवेक्षयं तथा ।
तदाहियतो दुरुक्तिरावतोदू यरा स तीक्तोऽसौ भयतः पलायत ॥ ५२ ॥

उसी समय एक हट्टा कट्टा डंड पेल, सांड के से स्कंधवाला, महामहसमान बलवान मनुष्य हाथ में सुदृढ लट्ठ लिये उद्दण्डतासे मारने की इच्छावाला हो कर पीछे पीछे जा रहा था। योगिराज ने जब पलट कर दृष्टि फिराई तो वह मनुष्य उन्हें घातक स्वभाव का जान पडा। श्री महाराजने वहा ठहर कर हुंकारनाद ऐसा गुजाया कि वह दुष्ट मनुष्य भयभीत होकर चीत्कार करता हुआ पिछले पांव भाग गया ॥ ५१ – ५२ ॥

परस्परं योगिवरो जवाहरो विनोदवार्त्तां तनुतस्म मंजुलाम् ।
अवाहयेतां सुहृदौ तरंगिणीं तदोपहासामृतरूपिणीं मुदा ॥ ५३ ॥

जवाहरदासजी के साथ योगीश्वरका मधुर, विनोदकारक वार्तालाप हुआ करता था। वे मित्रोंकी भाँति आनन्दसे उपहास–रस गंगा बहाया करते थे ॥ ५३ ॥

जवाहरस्याश्रममासदन्मुनिः कदाचिदाद्युद्यत भंग आलये ।
तदोपयन्तं स विलोक्य सद्गुरुं ततान तं छादयितुं ततः श्रमम् ॥ ५४ ॥

एक दिन मुनीन्द्र, बाबा जवाहरदास के डेरे पर जा पहुंचे। उस समय वहां भांग का रगडा लग रहा था। गुरुदेव को आते देख उन्होंने कुण्डी सोटे को इधर उधर छिपाने की बहुतेरी चेष्टा की; ॥ ५४ ॥

तमन्तिकस्थस्तु निभाल्य तस्मितं जगाद योगी किमहो शिवौषधम् ।
शिवो बुभूषुस्तभवानये ! किमु ! पिपीय भंगं भवतन्महेश्वरः ॥ ५५ ॥
भ्रमन्मदेनैव शिवोऽहमित्यसौ जपन्नजस्रं शिव एव जायते ।
अपेक्ष्यते नैव तपो न संयमः कियान् पथोऽयं प्रगुणः शिवोद्भवे ॥ ५६ ॥

पर वे तो बहुत पास पहुच चुके थे। महाराज ने हंसते हुए कहा— "अच्छा, यह शिव की बूटी है? शिव बनने में लगता भी क्या है। भांग पीकर उपके मदमें झूमते हुए "शिवोऽहम्" का जाप करने लग गये। बस शिव बने बनाये हैं। न तप की नाही संयम की आवश्यकता है? शिव बनने का यह कितना सरल मार्ग है?" ॥ ५५–५६ ॥

जवाहरं साधुमुवाच पुण्यधीः प्रवर्ततां द्रागुपदेशकर्मणि ।
तदोदतारीदुहासमञ्जुवाग् विनोदमूर्त्तिं नवचन्द्रमोददम् ॥ ५७ ॥

पवित्र आत्माने साधु जवाहर से यह कहा—'आप शीघ्र उपदेश करने लग जाइये'। इस पर उन्होंने हास्य रस मञ्जुल वाणी में नवचन्द्र तुल्य आनन्द देनेवाले विनोद मूर्ति दयानन्दसे कहा कि— ॥ ५७ ॥

गृहं न कुत्रापि परिच्छदोऽर्हतां भ्रमन्यतो देशतएव देशकम् ।
अहं मठाच्छादनवानतः कथं गुरो ! विदध्यामुपदेशकर्म तत् ॥ ५८ ॥

"हे गुरुदेव ! आपको तो कोई और ठिकाना है नहीं, इस लिये देश देशान्तरमें चक्कर लगाते फिरते हो। मैं डेरे वाला हूं; अतः मैं किस प्रकार उपदेश का कार्य करूं"! ५८॥

अये ! महात्मन् ! न पुराऽपि ते मठोऽभवन्नपश्चादपि सोऽन्तिकस्थितः ।
भवेदतस्तन्ममता वृथान्तरे विहाय तां लोकहिते रतो भव ॥ ५९ ॥

स्वा०—"महात्मन ! यह मठ पहले भी आपके पास नहीं था और अन्त में भी नहीं रहेगा। बीच में योंही ममता बांधे बैठे हो। इसे छोड़ो और लोकहित के कार्य में लग जाओ ॥ ५९ ॥

वितीर्य सूक्तामृतमित्थमात्मवञ्जनेषु काश्याजयमंगलश्रियम् ।
मुदा समादाय स कुम्भसंगमे प्रयागमागान्मकरं गते रवौ ॥ ६० ॥

इस प्रकार आत्मवान् महर्षि, काशिस्थ जनों में सूक्तामृत बरसा कर, विजय मंगल लक्ष्मी को आनन्द से साथ लेकर, माघ शुक्ला पञ्चमी सवत् १९२६ को मकरसंक्रान्ति पर प्रयाग के कुम्भ मेले में गये ॥ ६० ॥

ललास गंगा यमुनाम्बुसंगता सितासितामेव मणीन्द्रमालिका ।
अनन्तयागाश्रितगांगरोधसि व्रतीश्वरोऽस्थादिह यत्र तत्र सः ॥ ६१ ॥

वहां श्वेत और कृष्ण प्रभा वाली रत्नमाला की तरह गंगा और यमुना की धारा मिली हुई चमक रही थी। इस सगम के पास आदित्य ब्रह्मचारी असख्य यज्ञों से पवित्र गंगा तट पर ठहरे ॥ ६१ ॥

स मुक्तिरामं समबूबुधद् बुधं महेशमूर्त्तेर्विषये बृहत्तमम् ।
पराङ्मुखौ तत्र सतीर्थ्यपण्डितौ निमन्त्रितौ वादकृते बभूवतुः ॥ ६२ ॥

एक दिन वहां मिर्जापुरवासी प. मोतीराम मूर्तिपूजा विषय पर वाद करने आये। स्वामीजी ने उनको बहुत उत्तम प्रकारसे समझाया कि मूर्तिपूजा निरी गप्प है। इसी मेले पर पं. हरजश राय और स्वामी विशुद्धानन्द को वाद के लिये स्वामीजीने आमन्त्रण दिया किन्तु वे दोनों गुरु भाई पराङ्मुख हो गये ॥ ६२ ॥

चतुर्दिगन्तेषु जयध्वनिर्मुने र्जुगुञ्ज काशीविबुधांपराजयः ।
समं ततस्तत्र समन्ततस्ततः सतां वरं द्रष्टुमुपागता जनाः ॥ ६३ ॥

चतुर्दिगन्तों में मुनिसम्राट् की जय ध्वनि गूञ्जती थी और काशी के बुधेन्द्रों की पराजय प्रतिध्वनित होती थी अतः चारों ओर से सहस्रशः जनता सन्त रत्न को देखने आती थी ॥६३॥

महर्षिदेवेन्द्र इहालपन्मुदा महर्षिणा साकमलं सुहृत्तया।
यतिस्तदा प्रास्तुत वेदशिक्षिका-सुपाठशालारचनाय तत्परः ॥ ६४ ॥

ब्राह्मसमाजके प्रधान नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर महर्षि दयानन्द से यहाँ मिलने पधारे थे; और मित्रता पूर्वक उनकी खूब बातचीत हुई थी। यतीश्वर ने उनके सामने वैदिक पाठ-शाला स्थापनका प्रस्ताव किया ॥ ६४ ॥

तदावदद् ब्राह्मसमाजनायको ददत्समुत्साहमिति व्रतीश्वरम् ।
भवान् यदाऽऽयास्यति कालिकेश्वरीं तदाविमर्शो नियतं करिष्यते ॥ ६५ ॥

ठाकुर महोदयने उत्साह दान पूर्वक व्रतीश्वर से कहा कि 'आप कलकत्ता पधारें; उस समय इस विषयमें परामर्श होगा ॥ ६५ ॥

सुरामिषस्त्रीव्यसनी कुतार्किकः स माधवो बंगनिवासिमानवः ।
ऋषेः प्रबोधात्सुचरित्रसज्जनः परेशभक्तोऽजनि दुष्कृतेः पृथक् ॥ ६६ ॥

महाराजके उपदेश श्रवणार्थ बंगाली बाबू माधवचन्द्र चक्रवर्ती आया करते थे। वह पी. डब्ल्यु. डी. में ओवरसियर थे और इन्होने पुष्कल धन कमाया था। वे बडे तीक्ष्ण बुद्धि थे: इसलिये अपने को बडा तार्किक समझते थे। उन्होंने १०१ प्रश्न लिख रक्खे थे और जब कभी किसी धर्मका कोई प्रसिद्ध धर्मोपदेशक प्रयागमें आता तो यह उसको प्रश्न पूछते। जाति के ब्राह्मण होते हुए हिन्दु धर्मसे उनका विश्वास उठ गया था, मद्य मांस सेवन तो किसी गिनती में ही न था, उन्होंने एक वेश्या भी रख छोडी थी। यह आचार हीन व्यक्ति मदोन्मत्त हो कर श्री महाराज के पास भी आये और वही १०१ प्रश्न उनसे भी किये। महर्षि ने उनके सभी प्रश्नों के उत्तर ऐसी अच्छी रीति से दिये तथा वैदिक धर्म का महत्व ऐसा समझाया कि वह सारे दुष्कर्मों से पृथक् होकर सुचरित्र सम्पन्न और ईश्वर भक्त बन गये। ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर वे सन्ध्या हवन और गायत्री जप करने लगे ॥ ६६ ॥

विलोक्य शीलं परिवर्तितं द्रुतं सुहृच्छरच्चन्द्र इतोऽस्य विस्मयम् ।
नमन्वयुङ्क्ताङ्ग ! किमस्य कारणं सतां मणेः संगतिरेव पावनी ॥ ६७ ॥

एक बार माधव बाबू अपने एक ग्वालियर वासी मित्र शरच्चन्द्र चौधरी के यहां गये। वे अपने इस दुराचारी मित्र की काया पलट देखकर चकित हो गये। उन्होंने इनसे पूछा 'मित्र! इतना परिवर्तन कैसे हुआ'? माधव बाबूने उनसे कहा कि सन्त रत्न दयानन्द की पवित्र सत्संगति ही इसका एक मात्र कारण है ॥ ६७ ॥

अनेकसंन्यासिबुधोपसेवितव्रतीन्द्रसंदर्शनलालसागता ।
सुतर्कसंख्ये विबुधान् पराजितान् निभाल्य हृष्टा त्रिदुषी सुवर्णिनी ॥ ६८ ॥

काशी निवासी विदुषी 'बाजी बढनगरी' महर्षि के दर्शनों को आई। महाराज गंगा तट पर अनेक संन्यासी और पण्डितों से चर्चा कर रहे थे। वह विदुषी स्वामीजी के साथ हुए तर्क-युद्ध में विद्वानों को हारे हुए देखकर सन्तुष्ट हो गई और महर्षि की भक्त बन गई। ॥६८॥

सुरस्रवन्तीतटमास्थितो यति र्निसर्गसौन्दर्यनिरीक्षणे रतः ।
तदग्रतस्तत्समये मृतं शिशुं प्रसृग्गृहीत्वाऽम्बुतरंगमाविशत् ॥६९॥

यतीन्द्र एक दिन गंगा तट पर बैठे हुए निसर्ग सौन्दर्य निहार रहे थे। उस समय उनके सामने एक स्त्री मरा हुआ बच्चा हाथों पर उठाये गंगा में प्रविष्ट हुई ॥६९॥

पटं शरीरादवतार्य तस्य सा भृशार्त्तनादेन जले कलेवरम् ।
शिशोर्गतासोः समवाहयद् बत !! पटं तु प्रक्षाल्य निनाय सुन्दरी ॥७०॥

उसने बच्चे के शरीर पर लपेटा हुआ कपडा उतार लिया और बालक के निर्जीव कलेवर को 'हाय हाय' के आर्त नाद के साथ गंगा में बहा दिया और वह माता उसका कपडा धोकर ले गई ॥७०॥

दयामयो धारयितुं निजं मनो विलोक्य दृश्यं करुणं शशाक नो ।
व्यचिन्तयद् दुःखसमुद्रमग्नवान् दशां स्वदेशस्य दरिद्रताकुलाम् ॥७१॥

यह करुण दृश्य देखकर दयामय दयानन्द अपने हृदय को थाम न सके। वे दुःख सागर में मग्न होकर भारत की दरिद्रताकुल दशा पर सोचने लगे ॥७१॥

अये ! हृदः खण्डनिभं स्ववालकं प्रवाहयेत् किन्तु तदंशुकं न सा ।
तदंगसंगं जननी यतः पुनः सुदुर्लभं तद्वसनं स्वधारकम् ॥७२॥

अरे !! माता अपने कलेजे के टुकडे को नदी में बहा चली है; परन्तु उससे वस्त्र इसलिये नहीं बहाया गया कि शरीर ढाकने के लिये उसका मिलना कठिन है ॥७२॥

निदर्शनं निर्धनताजुषां नृणां वसुन्धरायां ननु दुर्लभं वरम् ।
गिरोपदेष्टुं निरचेष्ट सन्नृणां दरिद्रतादुःखविनाशसाधनम् ॥७३॥

इससे बढ कर संसार में दरिद्रता का दृष्टान्त मिलना दुर्लभ है। इसलिये महाराज ने प्रण किया कि कुछ काल तक इन्हीं लोगों की भाषा में प्रचार कर के इनके दुःख दूर करने के साधन उपस्थित करूंगा ॥७३॥

निवृत्तिमार्गो न वरः प्रवृत्तितः क्रियात्मकं जीवनमेव मंगलम् ।
क्रियाविहीनं मृतमेव गण्यते जगद् विशालं खलु तन्निदर्शनम् ॥७४॥

एक दिन एक साधु ने निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग के विषय में वार्तालाप किया। महाराज ने कहा कि "प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति मार्ग उत्तम नहीं है। क्रियात्मक जीवन ही श्रेयस्कर है। वेद विहित शुभ कर्मों का करना ही निवृत्ति मार्ग है। क्रिया विहीन जीवन मृत गिना जाता है। विशाल ब्रह्माण्ड इसका दृष्टान्त है ॥७४॥

क्रियां विनात्मोदरपोषणे कथं स निष्क्रियः साधुरलं भवद्दहो ! ।
निवृत्तिमार्गो निगमोक्तसत्क्रिया परोपकारे स्वसुखापवर्जनम् ॥७५॥

"अहो ! ! वह निष्क्रिय साधु कर्म के विना अपना खाना, पीना, सोना आदि कार्य कैसे कर सकेगा ? अतः परोपकार के लिये स्वसुखों का त्याग और वेदोक्त कर्म ही निवृत्ति मार्ग है" ॥७५॥

विनोपकारं नरजीवनं पशो निकृष्टमेवेति सतां शिरोमणिः ।
गृहस्थलेहं परिभुज्य पोषितानभाषतायं यतिवेषभूषितान् ॥७६॥

"उपकार विना मानव-जीवन पशु से भी निकृष्ट है। जो लोग साधु का भेष बनाकर गृहस्थों से भिक्षा मांगकर उनका प्रत्युपकार नहीं करते; वे पाप करते हैं। इस प्रकार सत शिरोमणि ने आलसी साधुओं की उदर परायणता की निंदा की" ॥७६॥

इति प्रचारं स विधायपर्वणि प्रयागतीर्थे भवदुःखतारणः ।
सुतीर्थरूपो गिरिविन्ध्यपादगं जगाम मिर्जापुरनामकं पुरम् ॥७७॥

संसार के दुःख से तारने वाले, तीर्थ स्वरूप दयानन्द प्रयाग राज में कुम्भ पर्व पर इस प्रकार प्रचार कर विन्ध्याचल के तलप्रदेशस्थ मिर्जापुर नगर को गये ॥७७॥

वणिग्वरोद्यानसुमन्दिरे स्थितः स मुक्तिगमं सुरमूर्त्तिपूजने ।
क्वचिन् प्रमाणं निगमर्षिपुस्तकेष्वलभ्यतापृच्छदिति प्रियवदः ॥७८॥

स्वामीजी सेठ रामरत्न लड्ढा के उद्यान मन्दिर में ठहरे। श्री सेवामें पं. मोतीरामजी आये। ऋषिने उनसे पहिला ही प्रश्न यह किया कि मूर्तिपूजा के विषय में कोई प्रमाण मिला वा नहीं ? ॥७८॥

प्रमाणमाप्तं कुहचिन्न किञ्चनेत्यवोचदेनं यतिनं स संनतः ।
जडार्चनेयं वितथैव वस्तुतो महेशलाभस्तु स योगसाधनैः ॥७९॥

पण्डित ने नम्रतापूर्वक ऋषि से कहा कि—वेद और आर्ष ग्रन्थों में कोई प्रमाण नहीं मिला। स्वा०—मूर्तिपूजा वास्तव में झूठी है, ईश्वर प्राप्ति तो योगाभ्यास से ही हो सकती है ॥७९॥

गुरुचरणधनाढ्य द्रव्यतोऽजस्रनेयां
व्यरचयदिहयोगी वैदिकीं पाठशालाम् ।
गुरुकुलसहवासां नित्यसन्ध्याग्निहोत्रां
निगमविहितरीत्या शिक्षणीयार्षविद्याम् ॥८०॥

मिर्जापुर के रईस चौधरी गुरुचरण स्वामीजी के सत्संग से वैदिक धर्मी बन गये। स्वामीजी की आज्ञा से उन्होंने एक वैदिक पाठशाला खोली (ज्येष्ठ संवत् १९२६ में) और उसके चलाने का भार भी स्वीकार किया। नीम विद्यार्थी प्रविष्ट हुए। वे नित्य सन्ध्या, अग्निहोत्र गुरुओं के साथ करते और उनसे वेद विहित आर्ष विद्या पढते ॥८०॥

त्रिविधबलतपःश्रीराजमानो महात्मा
त्रिविधगुणमनुष्यानन्वशाद् दिव्यवाचा ।
शतश इह जनैः स्वाङ्क मूर्त्तिपूजां विहाय
शुभदहवनसन्ध्याकार्यमारंभि मुग्धैः ॥८१॥

शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक बल से एवं तपो लक्ष्मी से विराजित महात्माने इस नगर में वैदिक वाणी से सब प्रकार के मनुष्यों को उपदेश दिया। व्याख्यान के प्रभाव से सैकडों मनुष्यों ने मन्त्रमुग्ध हो कर तुरन्त मूर्तिपूजा छोड दी और कल्याणप्रद सन्ध्या-हवन कर्म प्रारम्भ किया ॥८१॥

निगममतममन्दं वेशयन्मन्दचित्ते
लघुगिरिवृषभेन्द्रं मर्दयन् सिंहनादैः ।
सदसि समुदितज्ञान् योग्यतर्कैर्जयन् सन्
पुनरपि मुनिरायात् काशीधाम प्रसन्नः ॥८२॥

इस प्रकार अज्ञानियों के मन मे वैदिक मत खूब ठसा-कर, दुष्ट पुजारी छोटूगिरि गोसांई रूपि हृष्टपुष्ट सांड को सिंह कीसी गर्जना से भगा कर और सभाओं में एकत्रित हुए पण्डितों को योग्य तर्कों से जीत कर प्रसन्नचेता मुनीन्द्र पुनरपि काशीधाम आये ॥८२॥

विज्ञापनं पुनरपि प्रवितीर्य काश्या
माह्वास्त पण्डितमणीन् प्रतिवादसंख्ये ।
अद्वैतवादि मतखण्डनपुस्तिकाञ्च
प्राकाशयद् यतिरतो विकलाबुधास्ते ॥८३॥

यति सम्राट ने काशी में फिर विज्ञापन बाँट कर शास्त्रार्थ संग्राम के लिये पण्डित रत्नों को चेलेञ्ज (आव्हान) दिया और 'अद्वैत मत खण्डन' नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की। जिससे वे पण्डित व्याकुल हो गये ॥८३॥

काश्यां मासद्वयं स प्रचलितमतजा निन्द्यरीतीः प्रभिन्दन्
वेदोक्तं सत्यधर्मं परिपदि शिवदं मण्डयन् वेदभक्तः ।
राद्धान्तं शाङ्करं तं प्रबलनिगमवाक्तर्कतः खण्डयंश्च
देवोऽवात्सीत्ततोऽस्याः प्रणतजनमतः कासगंजं जगाम ॥८४॥

वेद भक्तदेव काशी में दो मास तक रहे । उन्होंने अवैदिक मतों एव कुरीतियोंका सभा में खूब खण्डन किया तथा कल्याण प्रद, वेदोक्त, सत्य धर्म का मण्डन किया; और प्रबल वेद वचनों एवं तर्कों से स्वामी शकराचार्य प्रवर्तित नवीन वेदान्त का प्रतिवाद किया। पश्चात् वे भक्त जेनों के आमन्त्रण से कासगज पहुचे ॥८४॥

योगीन्द्रोऽथ मुकुन्दरामभवने रम्यद्रुमे स्थापितः
सत्कारैः विरचय्य नागरजनैर्यात्रां रथेनार्हतः ।
पुण्यार्थं परिगृह्य पुण्यचरितः संस्थाप्य विद्यालयं
योग्यांस्तन्नियमान् विधाय सुगुरो तत्कार्यभारं न्यधात् ॥८५॥

वहां शतशः सज्जनों ने पूजनीय योगीन्द्र को बग्गी में बिठाकर उनकी शोभा यात्रा निकाली। नगर में घूमाकर उनको मुकुदराम रईस के सुन्दर उद्यान मन्दिर में ठहराया गया। एक धनी के यहां २८०० रु. पुण्यार्थ जमा थे। वे रुपये तथा और चन्दा जमा करके कुल पाठशाला स्थापने के लिये सज्जनो द्वारा पुण्यात्मा को भेट दिये गये। स्वामीजीने वहां विद्यालय स्थापन कर प्राचीन प्रणाली के अनुसार उसके नियम बताकर उत्तम अध्यापक को उसका उत्तर-दायित्व सोंपा ॥८५॥

भ्रमन् यातोऽनूपं नगरममुतो निर्ममममुनि-
र्दयानन्दो लीलां व्यधित तिलशो रामविषयाम् ।
जनैः कृष्णानन्दो निजमतविवादाय नगरे
समानीतो भीतोऽस्थित न पुरतोऽयाद् यतिमणेः ॥८६॥

यहां से भ्रमण करते हुए निर्मम मुनि अनूप शहर पहुँचे। यहां रामलीला बडी धूमधाम से हो रही थी। श्री दयानन्द ने रामलीला का खण्डन करना आरम्भ किया। जिसके कारण लोगों की उसमें अरुचि हो गई और रामलीला सदा के लिये बद हो गई। विपक्षी लोगों ने रामलीला की पुष्टि के लिये कृष्णानन्द को नगर में बुलाया किन्तु वह यतीश्वर के सामने आने का साहस न कर सका; क्योंकि यहीं पण्डित रामघाट में उनसे विवाद कर मुह की खा चुका था ॥८६॥

ऋषेर्भक्तो जज्ञे यवनपुरुषः पौरजनपः
प्रगृह्यासौ विप्रं दलमिषविषं योऽदित सते ।
तदग्रेऽनैषीत्तं प्रमुदितमनाः स्यान्मुनिरिति
परं रुष्टो नैषील् लपितुमपि तेनेति चकितः ॥८७॥

सैय्यद मुहम्मद तहसीलदार यतीन्द्र के उपदेश से उनका भक्त बन गया था। एक ब्राह्मण ने स्वामीजी के मूर्तिपूजा खण्डन से रुष्ट हो कर उन्हें पान में विष दे दिया था। स्वामीजी ने न्यौली कर्म करके उसे अपने शरीर से निकाल दिया और स्वस्थ हो गये। सैय्यद मुहम्मद को यह वृत्त ज्ञात हुआ तो उसने उस ब्राह्मण को पकड कर कैद कर दिया और वह उसे स्वामीजी के सामने ले गया। वह समझता था कि स्वामीजी मेरे इस कार्य से प्रसन्न होंगे परन्तु जब वह उनके सामने आया तो उन्होंने उससे बोलना बंद कर दिया; उसने चकित हो कर इस अप्रसन्नता का कारण पूछा कि— ॥८७॥

' महात्मन्! को हेतु र्वितेरति गिरं मेऽद्य न भवान्'
अपृच्छद् देव स प्रतिवचनमेवं मुनिरदात्।
" न मे बन्दीकर्तुं जनिरिह जनान् मोक्तुमपि तु
द्रुतं मुञ्चैनं त्वं त्यजति खलतां नैव यदि सः ॥८८॥
अहं किं मुञ्चेयं निजसृजनतां भद्र! वद मे!"
निशम्येमां वाणीं द्विजममुममुञ्चत्स यवनः।
दयायामानन्दो ननु तव दयानन्द! जगतां
सुकल्याणी वाणी विषदमनुजस्याऽप्यमृतदा ॥८९॥

" महात्माजी! आपने मुझसे बोलना क्यों बंद कर दिया!" देव ने उत्तर दिया कि " मैं संसार को कैद कराने नहीं किन्तु उसे कैद से छुडाने आया हूं।" वह यदि अपनी दुष्टता को नहीं छोडता तो हम अपनी श्रेष्ठता को क्यों छोडे? अतः हे भद्र पुरुष! इसे जल्दी मुक्त कर दो।" इस वाणी को सुन कर तहसीलदार मुसलमान ने उस ब्राह्मण को छोड दिया। " हे दयानन्द! तू वास्तव में दया में ही आनन्द मानता है। विषदायक मनुष्य को भी तेरी जगत् कल्याण-कारिणी वाणी अमृत-दायिनी है " ॥८८-८९॥

छलेसरवसुन्धरेश्वरमुकुन्दसिंहो विराट्
सुवैदिकमतानुगोऽभवदयं मुनेः संगमात्।
समग्रनिजमन्दिरात्स प्रतिमास्तदाऽपाकरोद्
दृढात्मबलतः सगोत्रमनुजान् समावर्जयत् ॥९०॥

ठाकुर मुकुंदसिंह छलेसरके एक समृद्ध जमीदार थे। छलेसर के अतिरिक्त उनकी जमीदारी में कई अन्य ग्राम भी थे। वे स्वामीजी के सत्संग से वैदिक मतानुगामी बन गये। उन्होंने अपने बीस पच्चीस मन्दिरों में से मूर्तियां उठाकर गंगा में फिकवा दीं। इस पर उनके सजातीय क्षत्रीय और ब्राह्मण उनसे बिगड उठे; परन्तु दृढ आत्मबल से उन्होंने सबों को अपनी ओर झुका लिया ॥९०॥

स्वामीन्द्रं महताऽऽदरेण नगरे नीत्वा समारोहतो-
राजन्यैरनुगैस्तमं समुदितः स्वोद्यानमावासयत् ।
यज्ञे विप्रवरान्निमन्त्र्य मुदितान् द्रव्याशनाद्यैर्व्यधाद्
वेदाङ्गाध्ययनालयं व्यरचयद्-वीरो मुनेराज्ञया ॥९१॥

ठाकुर मुकुन्दसिंह अपने दो सौ-ढाईसौ अन्य क्षत्रियों के साथ उनके स्वागत के लिये एक पालकी लेकर छलेसर से दो मील दूर काली नदी पर पहुँच कर स्वामीन्द्र को बड़े सम्मान और प्रेम से स्वागत कर नगर में ले आये। उन्होंने उस बाग में ही जिसमें कि पाठशाला स्थापित करने का निश्चित किया था एक सुसाज्जित गृह में उनके निवास का प्रबन्ध कर दिया था। दो एक दिन पश्चात् वैदिक-विद्यालय मुनीन्द्र की आज्ञा से मार्गशीर्ष कृष्णापञ्चमी सवत् १९२७ ता. १३ नवम्बर सन् १८७० में खोला गया। प्रथम हवन हुआ जिसमें ब्राह्मणों को उचितदक्षिणा दी गई, पश्चात् ब्रह्मभोज दिया गया। इस से ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए ॥९१॥

षष्टिं ग्रामान् विराजां निगमसरणिगान् सत्यधर्मावबोधै-
रेकेशोपास्तिगंगामृतरसरसिकान् यज्ञपूतात्मभूतान् ।
आनन्दस्नेहभक्तित्रिविधरसनदीधौतभक्तात्मचित्तान्
निर्मायाचार्यदेवो जनकतनययो र्द्वयहार्दं ततोऽगात् ॥९२॥

आचार्य-देव ने सत्यधर्म के उपदेशों से साठ ६० क्षत्रियोंके ग्रामों को वेद मार्गानुयायी बना दिया। वे लोग एकेश्वरोपासना रूपी गंगामृत का पान करने लगे; उन्होंने पञ्चमहायज्ञों से अपने अन्तःकरणों को पवित्र बना लिया और वे आनन्द, स्नेह तथा भक्ति की त्रिविध-रस धारा में स्नान करके कृत कृत्य हो गये। ऋषि ने ठाकुर मुकुन्दसिंह और उनके पुत्र चन्दनसिंह में जो मनोमालिन्य हो गया था उसे दूर कर दिया। पश्चात् मुनीन्द्रने वहां से प्रस्थान किया ॥९२॥

वंगप्रान्तं प्रयास्यन् नृपपुरडुमराऊंनरेशातिथित्वं
स्वीकृत्य स्नेहतोऽयं प्रथितबुधवरं भूरिविद्याभिमानम् ।
दुर्गादत्तं विवादे प्रविदितविषये वाग्मिसम्राड् विजित्य
स्थित्वा नागाश्रमेऽसौ तदधिपविनयादायताऽऽरापुरीं ताम् ॥९३॥

बंगाल को जाते हुए स्वामीजी ने एक दिन डुमराऊँ के महाराजा महेश्वर बख्शसिंहजी के आतिथ्य को प्रेम से ग्रहण किया। वहां प्रसिद्ध, पण्डितवर परमहंस दुर्गादत्तजी जो बड़ा विद्याभिमानी था उसको मूर्तिपूजा के शास्त्रार्थ में वाग्मि सम्राट ने जीत लिया; उसका गर्व खर्व हो गया। वहीं साधु नागाजी नानकपंथी थे और डुमराऊँ के प्रसिद्ध समृद्धशाली पुरुषों में गिने जाते थे उनकी प्रार्थना से स्वामीजी कुछ दिन उनके मठ में ठहरे पश्चात् आरापुरी गये ॥९३॥

आरायां हरवंशलालरजनीकान्तातिथित्वाञ्चितः
शास्त्रार्थे प्रतिभाप्रभाकरयतिः श्रीरुद्रचन्द्रौ बुधौ ।
जित्वा वैदिकधर्मभाषणयुगं दत्त्वा नयन्नैस्सभं
संभाष्यागमसम्मतं च पटनां गत्वास्थितोद्यानके ॥९४॥

आरा में वकील मुन्शी हरवंशलाल और बाबू रजनीकान्त मुखोपाध्यायने उनका आदरातिथ्य किया । वहां प्रतिभाकर यतीन्द्र ने पं. रुद्रदत्त और पं. चन्द्रदत्त को शास्त्रार्थ में जीत लिया । वहां वैदिकधर्म पर दो व्याख्यान हुए । आरा के तत्कालीन 'मैजिस्ट्रेट जिला-मिस्टर एच डब्ल्यु. अलेक्जेन्डर' से रजनी बाबू ने स्वामीजी को मिलाया । स्वामीजी के संस्कृत का अनुवाद रजनीबाबू करके सुनाते थे । वे खुश हुए, वहां से विदा हो कर स्वामीजी भाद्रपद शु० ३–४ ता. ६–७ सितम्बर सन् १८७२ को पटना पहुचे और महाराजा भूपसिंह के रोशन बाग में ठहरे ॥९४॥

रामजीवनभट्ट पैर्द्विह षष्टि पण्डितमण्डलै-
र्ब्रह्मविस्तममण्डनेन समं समालपितुं तदा
बुद्धिमान्द्यवशकृताऽयवदन्त ते तु मिथो मुधा
वाद एव विवादतां गत इत्यगुः स्वगृहं बुधाः ॥९५॥

स्वामीजी के आगमन का समाचार नगर में फैलते ही उच्च राजकर्मचारी, पण्डित और सम्भ्रान्त पुरुष उनके दर्शन और उनसे वार्तालाप करने आने लगे । एक दिन वहां के प्रसिद्ध पण्डित रामजीवन भट्ट ५०–६० ब्राह्मणों को साथ लेकर ब्रह्मज्ञानी ऋषि के साथ शास्त्रार्थ करने आए । स्वामीजी के 'दृष्ट वाहासौ' शब्द कहने पर एक पण्डितने कहा कि—यह पाठ आपने अशुद्ध कहा । पं. रामजीवन तो चुप बैठे रहे और अन्य पण्डित शास्त्रार्थ करते रहे परन्तु थोडी देर में वे मन्द बुद्धि आपस में ही विवाद करने लग गये अतः वे लोग स्वयमेव उठकर घर चले गये आपस की फूट से शास्त्रार्थ अधूरा ही रह गया ॥९५॥

॥ इति ऊनविंशः सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सचित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्मार्के महाकाव्ये महर्षेः पूर्वदिग्विजयारम्भो वैदिकपाठशालाप्रणयनप्रवृत्तिश्च नामैकोनविंशः सर्गः ।

॥ विंशः सर्गः ॥

[उपजातिः]

व्याख्यानवाचस्पतिवाक्प्रभावात् प्रभाविताः पाटलिपुत्रविज्ञाः ।
विज्ञानभानुं प्रमुदाऽन्वयुस्तं हित्वा जडार्चां ग्रहवन्निकामम् ॥१॥

व्याख्यान वाचस्पति यतीन्द्र के वाणी प्रभाव से पटने के विद्वान् महोदय अत्यन्त प्रभावित हो गये और वे अति हर्षित हो कर मूर्तिपूजा त्याग कर ग्रहगण तुल्य इस विज्ञान सूर्य के अनुगामी बन गये ॥१॥

गुरुप्रसादो विनतोऽन्वयुङ्क्त हेया सुतस्त्रीगृहसंसृतिः किम् ? ।
पानाशनश्वासनसुप्रबोधशौचादिकं किं ह्युचितं नु हातुम् ॥२॥

गुरुप्रसाद नामक एक प्रतिष्ठित व्यक्ति, अनेक सज्जनों के सहित ऋषि दर्शनार्थ आये और नमस्कार करके पूछने लगे कि—भगवन् ! पुत्र, स्त्री, परिवार आदि संसार त्यागना उचित है अथवा नहीं ? स्वामीजी ने कहा कि संसार में तो खाना, पीना, सोना, जागना, श्वास प्रश्वास लेना, शौच स्नान, विद्याभ्यासादि सभी कर्म आ जाते हैं अतः उनका त्याग करना क्या सम्भव है ? ॥२॥

असंभवं त्यक्तुमिदं यथैव संसारपक्षोऽपि तथावगम्यः ।
ज्ञानप्रयत्नौ तनुभृत्स्वभाव इतीङ्गितोऽयं यमिना प्रसन्नः ॥३॥

जैसे स्वाभाविक कर्म त्यागना असम्भव है वैसे यह गृहाश्रम भी त्यागने योग्य नहीं है । ज्ञान और प्रयत्न आत्मा का स्वभाव है, अतः वैदिक कर्तव्य और धर्मज्ञान सम्पादन करना आवश्यक है ऐसा आप जानिये । यतीश्वर के इस उत्तर से वह प्रसन्न हो गया ॥३॥

इत्थं यतिः पाटलिपुत्रपौरान् वेदोक्तधर्मोत्तमतां निबोध्य ।
यन् वाष्पयानेन ततोऽर्द्धरात्रे सेऽवातरत्सतनमन्तरस्थम् ॥४॥

इस प्रकार सन्यासीजी पाटली पुत्र के पौरजनों को वैदिक कर्त्तव्य की उत्तमता का उपदेश दे कर वहां से रेल पर सवार हो मध्य रात्रि मे जमालपुर जक्शन पर उतरे ॥४॥

यानान्तरारोहणमिच्छुरार्यो यानस्थले सोऽभ्रमदांग्लपत्न्यै ।
नारोचताऽटन्निह सेतिकान्तं निषेद्धुमेनं समुवाच साधुम् ॥५॥

मुगेर की गाडी के छूटने में एक घण्टे की देर थी। स्वामीजी कौपीन मात्र धारण किये प्लेटफार्म पर टहलने लगे। एक अंग्रेज इञ्जिनियर और उसकी पत्नी प्लेटफार्मों पर खडे थे। मेम साहेब को एक नगे साधु को टहलते देखकर बुरा लगा। इस लिये अपने पतिसे इस साधु को टहलने से रोक देने को कहा ॥५॥

स्थानाधिपो गौरनिदेशनुन्नः कौपीनवन्तं समुपेत्य सन्तम् ।
आरामवेत्रासन एव तत्र विश्राम्यतु प्रार्थयतेति नम्रः ॥६॥

उसने स्टेशन मास्टर से कहा। स्टेशन मास्टर ने कौपीनधारी संत के पास आकर नम्रता पूर्वक उनसे प्रार्थना की कि—'महाराज! आप कुर्सीपर आराम कीजिये; गाडी जाने में बहुत देर है। ॥ ६ ॥

ज्ञाताशयः स्थान पतिं यतीन्द्रो जगाद तं त्वं गद सभ्यमेवम् ।
'वयं जनास्तस्य युगस्य यस्मिन् हव्वादमौ श्रीपितरौ सुनग्नौ ॥७॥
लज्जां भ्रमन्तौ नहि चक्रतुस्तौ' बभ्राम च प्रागिव पुण्यकीर्त्तिः ।
आंग्लेनपृष्टोऽवददेनमेष श्रीमन्! न साधारण एष भिक्षुः ॥८॥

यतीन्द्र ने उनका भाव समझ कर स्टेशन मास्टर से कहा कि—"साहब से कह दो कि हम उस युग के लोग हैं जब बाबा आदम और बीबी हव्वा अदन के उद्यान में नंगे रहने मे तनिक भी लज्जा न करते थे। पुण्यकीर्ति ने टहलना जारी रक्खा। साहब के पूछने पर स्टेशन मास्टर ने उनसे कहा कि 'श्रीमन्! वह कोई भीख मगा तो है नहीं जिसे प्लेटफार्म से निकाल दूं' ॥७-८॥

स्वतन्त्रसंन्यासिमणिस्स एको यो माञ्च युष्मान्मनुते तृणाय ।
तन्नामपृष्टोऽयमुवाच चामुं स्वामी दयानन्द सरस्वतीति ॥९॥

वह एक स्वन्त्र सन्यासी रत्न है, जो मुझे और आप को कुछ भी नहीं समझता। नाम पूछने पर स्टेशन मास्टर ने कहा कि ये स्वामी दयानन्द सरस्वती हैं ॥९॥

ख्यातो दयानन्दसरस्वतीति सुधारकोऽयं किमहो !! यतिशः ? ।
ओ३मित्युपाकर्ण्य स विस्मिताक्ष स्तत्पार्श्वमभ्येत्य ननाम नम्रः ॥१०॥

साहब ने कहा कि—क्या यही प्रसिद्ध सुधारक यतीश्वर दयानन्द सरस्वती हैं? 'हां ये ही हैं, ऐसा सुनकर वह विस्मित हो इनके पास आया और सभ्यता से नमस्कार किया और बोला कि— ॥१०॥

उवाच चेमं भगवन्! मनोमे चिराद् भवद्दर्शनकाममासीत् ।
भाग्येन मे दर्शनमद्य वोऽभूत् स आलपद् यानविनिर्गमान्तम् ॥११॥

भगवन् ! चिरकाल से मैं आपके दर्शन की इच्छा कर रहा था। भाग्य से आज आपका दर्शन हो गया; फिर वह ट्रेन छूटने तक बातचीत करता रहा ॥११॥

मुंगेरमायाद् रजनीविरामे गंगान्तिकस्थाश्रममध्यवात्सीत् ।
अभिज्ञवद् योगिगुरुः कहारं सोऽताडयच्छिष्यकरेण धृष्टम् ॥१२॥

स्वामीजी ता. ४ अक्टूबर सन् १८७२, आश्विन शु० १ संवत् १९२९ के प्रातःकाल मुंगेर पहुँचे। और परिचित के तुल्य योगिगुरु गंगाधारा के निकट जाकर एक साधु के आश्रम में ठहरे। कुछ दिन बाद उन्होंने शिष्य राजनाथ के हाथसे धृष्ट कहार को पिटवाया ॥१२॥

अभिक्षतायं समिधस्तदीशं तद्योगदृष्ट्या विदितं सतेति ।
स राजनाथश्चकितोऽस्यसूदो भृशं भुजिष्योऽपि स विस्मितोऽभूत् ॥१३॥

उसने टाल (बखार) पर स्वामीजी के लिये ईंधन की भिक्षा मांगी थी। यह बात योग-दृष्टि से स्वामीजी ने जान ली थी; इस लिये वह राजनाथ जो पाचक का काम भी करता था चकित हुआ और वह कहार तो अत्यन्त विस्मित हुआ कि इन्होंने यह कैसे जान लिया ॥१३॥

सम्भाविताः स्वामिपदं समीयुः शुश्रूषमाणा विबुधाश्च धर्मम् ।
अथ प्रतस्थेऽन्यपुरं महेच्छः स भागलाख्यं शुभधर्मवक्ता ॥१४॥

धर्मोपदेश सुनने की इच्छा से बहुत से संभावित जन और पण्डितगण स्वामीजी के स्थान पर आया करते थे। कार्तिक कृष्ण २ संवत् १९२९ ता. १८-१०-१८७२ को शुभ धर्मोपदेशक महाशय महर्षि भागलपुर के लिये चल पडे ॥१४॥

मनोरमारामकृताधिवासः सत्संगसौगन्ध्यविलोभितात्मा ।
हितोपदेशैः कृतलोकभद्रः समादृतोऽयं सुचरित्रविज्ञैः ॥५१॥

वहां पहुँच कर सुन्दर उद्यान में निवास किया। उनके सत्संग की सुगन्धी से अनेक सज्जन आकर्षित हुए। मंगलमय उपदेशों से वे जन कल्याण करने लगे। वहां गवर्मेन्ट हाई-स्कूल के पं. अभयराम और अत्यन्त साधु चरित्र बाबू पार्वती चरण ने स्वामीजी का आदरातिथ्य किया ॥ १५ ॥

व्याख्यानमस्यामरवाचि तस्यां श्रुत्वा विमुग्धाः पुरि बङ्गधीराः ।
सहस्रशः पौरवराः समायुर्वचोऽमृतं पातुममन्द पुण्यम् ॥१६॥

महर्षि का अमरवाणी में व्याख्यान सुनकर उस नगर के बंगाली विद्वान् महाशय अति मुग्ध हो गये; हजारों नागरिक श्रेष्ठ इनका अत्यन्त पवित्र वचनामृत पीने के लिये एकत्रित होते थे ॥ १६ ॥

अथैकदा पर्वणि गांगतीरे सायंभ्रमन्नैक्षत योगिराजः ।
कन्या ददानान् यजमानमूढान् पुरोहितेभ्यः सुकृताभिलाषात् ॥१७॥

पश्चात् एक दिन पर्व प्रसंग पर गंगा किनारे सायंकाल भ्रमण करते हुए योगिराज ने देखा कि—मूर्ख यजमान लोग पुण्योपार्जन की इच्छा से अपनी लड़कियां पंडों को दान कर रहे हैं ॥१७॥

अज्ञानमालोक्य दयालुचेता अदूयतातीव निजार्यभूमौ ।
चिन्तानिमग्नः सुचिरं निशायां गंगातटान्तान् न्यवृतन्निशान्तम् ॥१८॥

अपनी आर्यभूमि में ऐसा अज्ञान देखकर दयालु हृदय दयानन्द अत्यन्त दुःखी हुए और चिरकाल तक रात्रि में चिन्ता निमग्न रहे; बड़ी रात होने पर गंगा तट से अपने आसन तरफ लौटे ॥१८॥

न भोजनाद्यस्मरदेष किञ्चत् तं नन्दनोऽपृच्छदये ! महात्मन् ?।
नाभुङ्क्त नक्तं भगवान् किमर्थम् ? शोच्यां दशां श्रावितवांस्तदार्यः ॥१९॥

भोजन आदि का ऋषि को ध्यान तक न आया। उनके भक्त नन्दन ओझा ने पूछा कि महात्मन् ! भगवान ने रात को भोजन क्यों नहीं किया ? उत्तर में महाराज ने भारत की शोचनीय दशा सुनाई ॥१९॥

पिता तवायाति पितुर्विनाऽऽज्ञां कथंन्वमायाः क्लिशितः पिता ते ।
इत्युक्तिमाकर्ण्य मुनेः स सूदो महानसादेत्य बहिर्बुलोके ॥२०॥

"राजनाथ ! तेरा पिता आरहा है, उनकी आज्ञा बिना क्यों आया ? तेरा पिता कष्ट पा रहा है" । मुनि का यह वचन सुन कर वह रसोइया पाकशाला से बाहर आकर देखने लगा ॥२०॥

दृष्टस्तदानीं जनको न किन्तु होरार्द्धतो वीक्षित एव सत्यम् ।
वीक्ष्यैव पुत्रं स रुरोद यस्मान्नय त्वमेनं मुनिरेतमाख्यत् ॥२१॥

पिता तो उस समय नहीं दिखाई दिये किन्तु आधे घण्टे के बाद सचमुच ही उसको उनके दर्शन हुए। बाप, बेटे को देख कर ही रो पड़ा; तब मुनि ने उससे कहा कि—"तू अपने पुत्र को ले जा" ॥२१॥

अन्यादृशो नास्मि विधाय शिष्यं तवात्मजं त्वां दुनुयां मुधाऽहम् ।
तौ विस्मयं प्रापतुरस्य साधो र्योगञ्च शीलञ्च विलोक्य पुण्यम् ॥२२॥

मैं अन्य साधु सदृश नहीं हूं कि तेरे पुत्र को चेला बना कर मैं व्यर्थ तुझे दुःख दूं। वे दोनों बाप बेटे इस संत का योगबल तथा पवित्र चरित्र देखकर विस्मित हो गए ॥२२॥

श्राद्धं सदा जीवितयोः स्वपित्रोः पुत्रै र्विधेयं तदिति व्रतीन्द्रः ।
व्याख्यानकाले विदुषां सभायां स्वधर्ममालम्ब्य दिदेश पौरान् ॥२३॥

सदा अपने जीवित माता पिता का श्राद्ध पुत्रों को करना चाहिये मरे हुओं का नहीं; इस प्रकार व्रतीन्द्र ने व्याख्यान के समय विद्वत् सभा में मनुष्य कर्त्तव्य का नागरिक जनों को उपदेश दिया ॥२३॥

श्रुत्वा प्रशंसां यमिनो नरेन्द्रः श्रीवर्द्धमानस्य मुनेर्द धीरान् ।
नैयायिकाँ स्तँश्चतुरः प्रचर्चां कर्त्तुं यतीन्द्रेण तदान्तिथेयः ॥२४॥

बरदान के महाराजाने यतीन्द्र की गुणावली सुनकर चार नैय्यायिक पण्डितों को उनसे शास्त्र चर्चा करने के लिये भेजा ॥२४॥

नैयायिका न्यायविचक्षणेन न्याये विवादं व्यदधुश्चिरन्ते ।
आनेष्यतेऽस्माभिरवश्यमिन्द्र इत्यूचुरार्येन्द्रमिमे व्रजन्तः ॥२५॥

उन न्याय शास्त्रियों ने न्याय निपुण महामुनि के साथ चार घण्टे तक चर्चा की और यह प्रतिज्ञा करके चले गये कि हम अगले दिन आर्येन्द्र का सत्सङ्ग कराने के लिये महाराजा को लावेंगे ॥२५॥

आंग्लेशवीयैरथ मौलवीयै र्गत्यन्तरे धुरनेन धर्मे ।
साक्षेपयुक्तौ यमिनो विमेतुं नामण्विलं कश्चिदपि प्रवक्ता ॥२६॥

अगले दिन प्रातःकाल ही ३०-४० योरोपियन् और देसी पादरी तथा कई मौलवी ऋषि के साथ धर्म सम्बन्धी बातचीत करने आए। वह दिन इसी में व्यतीत हुआ। उनमें से कोई भी वक्ता यतीश्वर के आक्षेपात्मक युक्तियों का उत्तर न दे सका ॥२६॥

यदाऽपराह्णे यतिराडवादी-दीशाकृतौ यीशुजनैस्तदानीम् ।
श्रीवर्द्धमानेश्वर पत्य विघ्नैः शृण्वन् समं सावहितस्स्थितोऽभूत् ॥२७॥

अपराह्न में जब यति-सम्राट पादरियों के साथ ईश्वर साकार है वा निराकार! इस विषय पर कथोपकथन कर रहे थे; उसी समय वर्धमान के नरेन्द्र उन चार पण्डितों के साथ आए और ध्यान देकर उनकी चर्चा सुनते रहे ॥२७॥

निजालयावासकृतेऽर्थितोऽयं नृपेण नात्मानुगुणं समीक्ष्य ।
नेयाय योगीति नृपोऽत्रनित्यं धर्मोपदेशश्रवणाश्रमायात् ॥२८॥

चलते समय महाराजा ने अपने राजमहल पर निवास करने की ऋषि से प्रार्थना की; किन्तु योगी 'राजमन्दिर में रहना ठीक नहीं है' ऐसा विचार कर न गए। इसलिये महाराजा ही धर्मोपदेश सुनने के लिये वहां नित्य आया करते थे ॥२८॥

बङ्गेशवीयो द्विजवंशजात स्तप्तोऽन्वरोदीदिति तं वदन्तसः ।
भवादृशस्स्यादुपदेशकश्चेल्लब्धः पुरा स्यां नहि धर्महन्ता ॥२९॥

एक ब्राह्मण-कुलोत्पन्न बंगाली ईसाई हो गया था। वह महर्षि के उपदेश सुन कर अत्यन्त संताप प्रकट करके रोने लगा और कहने लगा कि भगवन्! यदि आप जैसे उपदेष्टा मुझे पहले मिलते तो मैं कदापि धर्महन्ता ईसाई न होता! ॥२९॥

वर्षीयसैकेन नृपेण योगी पुत्रीयताऽयं शिबिकाधिरूढः ।
अनायि सौधं तनयेष्टिचर्चां कर्तुं तदाख्यद् विदिताशयस्तम् ॥३०॥

बनैला के राजा निरानन्दसिंह पुत्र-कामना से योगिराज को पालकी में सवार करा कर अपने महल पर ले गये। वे अति वृद्ध थे। उन्होंने स्वामीजी से पुत्रेष्टि विषयक चर्चा की। स्वामीजी ने उनका आशय समझ कर उनसे कहा कि— ॥३०॥

सुपुत्रवत्यां नृप ! पूर्वपत्न्यां तृतीयभार्यां परिणीय जीर्णः ।
स्नेहप्रणाशं कृतवानसि त्वं व्यर्था सुताशा तव वार्द्धकेऽस्याम् ॥३१॥

"हे राजन! आपकी पहली स्त्री जीवित है। उससे एक पुत्र पद्मानन्दसिंह भी है! तृतीयवार आपने विवाह कर पुत्रवती स्त्रियों का स्नेह नष्ट किया है जिससे सब में मनोमालिन्य रहता है; उस पर भी आप अति वृद्ध हो गये हैं अतः आपकी यज्ञ से पुत्रप्राप्ति की आशा व्यर्थ है ॥३१॥

अथेन्द्रदिङ्मण्डनराजधानीं बंगीयलोकोत्तरलोकपूताम् ।
श्रीभारताधीश्वरशासकाढ्यां समुद्रगंगारुचिरांकदुर्गाम् ॥३२॥
अभ्रंलिहाग्रालयपंक्तिरम्यां लक्ष्मीकृपापात्रनरेन्द्रकाम्याम् ।
विद्यालयालङ्कृतमध्यभागां जगाम बाष्पोत्तमयानतोऽयम् ॥३३॥

पश्चात् पूर्व दिशा की अलङ्कार सी, बंगाली लोकोत्तर नररत्नों से पवित्र, भारताधीश्वर—अंग्रेज-शासकों से शासित, समुद्र और गंगा के मनोहर मध्य भाग में बने हुए महान् दुर्ग से शोभित, गगनचुम्बी शिखरोंवाली महालयों की परम्परा से रमणीय, लक्ष्मी के कृपा पात्र नरेन्द्रों से अभिलषित और मध्य भाग में विश्वविद्यालयों एवं महा विद्यालयों से अलङ्कृत कलकत्ता राजधानी को ये यतीन्द्र उत्तम बाष्प-यान (ट्रेन) पर सवार होकर गये ॥३२-३३॥

वादस्थिरश्चन्द्रसुशेखरस्तं यानस्थलाद् विश्वगुरुं स नीत्वा ।
सुरेन्द्रसंमोहनकाननान्त र्न्यवासयद् सद्मनि सुप्रबन्धे ॥३४॥

हावडा स्टेशन से इन जगद्गुरु को बैरिस्टर मिस्टर चन्द्रशेखर नगर में ले गये और राजा सौरेन्द्र मोहन के 'प्रमोदकानन' नामक बाग में एक सुन्दर निवास में उन्होंने इनको ठहराया तथा सब प्रकारका प्रबन्ध कर दिया ॥३४॥

श्रीराजधान्यां यतिराजकीर्तिं स्तता समन्ताद् विदुषांसभासु ।
सत्संगगंगा मनुजान्तरंगान् वेदोक्तिभंगैरपुनाच्चितान्तम् ॥३५॥

राजधानी में यतिराज की कीर्ति विद्वानों की सभाओं में चारों ओर फैल गई । अतः ऋषि की सत्संग गंगा वेदोपदेश के तरंगों से मानवों के अन्तरङ्गों को नितान्त पावन करने लगी ॥ ३५ ॥

ब्राह्मोपदेशोन्मुकहेमचन्द्रं वर्णाश्रमाचारपरेशबोधम् ।
अष्टांगयोगं गुरुमन्त्रमस्मै प्रदाय शिष्यं विदधौ मुनीन्द्रः ॥३६॥

ब्राह्म-समाज के प्रसिद्ध उपदेशक पं. हेमचन्द्र चक्रवर्ती को ज्ञातिभेद, आश्रम कर्तव्य, ईश्वर ज्ञान तथा अष्टाङ्ग योग आदि अच्छी प्रकार समझाकर गायत्री मन्त्र देकर मुनीन्द्र ने अपना शिष्य बनाया ॥३६॥

षड्दर्शनानामितरेतरस्य समन्वयं सम्यगयं निदर्श्य ।
यज्ञोपवीतं परिधाप्य वाग्मी कृतार्थतां तं तु निनाय चन्द्रम् ॥३७॥

इन वाचस्पति ने उनको षडदर्शनों का अन्योन्य सम्यक् समन्वय बतला कर एवं यज्ञोपवीत धारण करवा कर कृतार्थ कर दिया ॥३७॥

अथागमत् केशवचन्द्रसेन श्चिरं सताऽऽभाषत भाषणान्ते ।
पृष्टो यतिस्तेन स संगतः किं श्रीकेशवोऽयं पुरतस्थितो मे ॥३८॥

एक दिन केशवचन्द्रसेन महर्षि के पास आए, बडी देर तक इनसे बातचीत करते रहे । अन्त में उन्होंने यतीश्वर से पूछा कि आप केशवचन्द्र से मिले हैं ? स्वामीजी ने हँस कर कहा हां अभी मिला हूं, और आप ही केशवचन्द्रसेन हैं ॥३८॥

ज्ञातः कथं भाषणरीतिरीदृङ् नान्यस्य कस्यापि सुसंभवा नु ? ।
ऊहाद्रयशक्त्या नृपरीक्षणेऽस्य मुनेः प्रसन्नोऽजनि केशवोऽलम् ॥३९॥

केश०—आपने कैसे जान लिया कि मैं ही केशवचन्द्रसेन हूं ? स्वा०—जैसी बात आपने की है ऐसी किसी दूसरे की नहीं हो सकती । मुनीन्द्र की तर्कशक्ति एवं पुरुष परीक्षा से केशवचन्द्रसेन अति प्रसन्न हुए ॥३९॥

धर्मत्रयं तद् बृहदेव पृथ्व्यां सत्यो नु तस्मिन् कतमः पुनः सः ।
अपृच्छदार्यं यतिरेनमाख्यत् सर्वाग्रणीत्वं निगमस्य तर्कैः ॥४०॥

केशव०—इस समय हमारे सामने बाईबल, कुरान और वेद इन पुस्तकों के आधार पर तीन बड़े धर्म हैं। सभी अपने को सच्चा कहते हैं। हमें कैसे विदित हो कि इनमें से वास्तव में कौनसा सच्चा है? स्वामीजी ने अनेकतर्कों से वेदों की सत्यता एवं सर्वाग्रगण्यता सिद्ध कर दिखाई ॥४०॥

विभाव्य तर्कान् प्रतिभामपूर्वां बभाण सेनो वत वेदविद्वान् ।
जानाति नांग्लीयगिरं स नोचेद् भवेदयं स्निग्धसखाऽऽङ्गलदेशे ॥४१॥

महर्षि की अपूर्व प्रतिभा और युक्तियोंका परिचय पाकर सेन महाशय ने कहा—"शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता; अन्यथा इंग्लेड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता ॥४१॥

सद्योमुनिः प्रत्यवदत् सहासं स ब्राह्मसंसत्प्रमुखो न वेत्ति ।
गीर्वाणवाणीमिह सभ्यधर्मे यः शिक्षितुं वाञ्छति भिन्नवाचा ॥४२॥

मुनीन्द्र ने भी तत्काल हँस कर उत्तर दिया कि—"शोक है कि ब्राह्मणसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देना चाहता है, जिसे वे समझते ही नहीं" ॥४२॥

श्रीकेशवो लोकगिरोपदेष्टुं वासांसि संधारयितुञ्च लोके ।
ददौ मुनीन्द्राय सुसम्मतिं यां मेने सुयोग्येति स तां प्रसन्नः ॥४३॥

श्री केशवचन्द्रसेन ने मुनीन्द्र को लोक भाषा में उपदेश देने तथा नगर में वस्त्र धारण करने के लिये जो सुसम्मति दी; उसे उन्होंने स्वीकार की, अतः वे प्रसन्न हो गए ॥४३॥

द्विजेन्द्रनाथः स्वसभोत्सवेऽमुं महर्षिदेवेन्द्रगृहं निनाय ।
सुमण्डपे श्लोकविमण्डिते सन् धर्मोक्तिभि र्नन्दयति स्म सभ्यान् ॥४४॥

महर्षि देवेन्द्रनाथजी के ज्येष्ठ पुत्र द्विजेन्द्रनाथ अपनी सभा के उत्सव में महर्षि दयानन्द को अपने घर ले गए। उत्सव मण्डप श्लोकों से सजाया गया था; वहां दयानन्द देव ने प्रभावशाली धर्मोपदेश से सभ्य सज्जनों को आनन्दित कर दिया ॥४४॥

श्रीकेशवावासगृहे सभायामद्वैतवादेश्वरमूर्त्तिपूजे ।
प्रत्यावदज्जन्मन एष वर्णे सँल्लब्धवर्णो बुधमण्डितायाम् ॥४५॥

श्री केशवचन्द्र के सदन में, बुध-मण्डित सभा में अद्वैतवाद, ईश्वर की मूर्ति की पूजा, जन्म से वर्णव्यवस्था आदि का महर्षिने प्रबलता से खण्डन किया, उसका विद्वद्-वृन्द पर अच्छा प्रभाव हुआ ॥४५॥

श्रीगौरचन्द्रस्य निकेतनेऽभूद् व्याख्यानमेकेश्वरलक्षणाढ्यम् ।
महेशचन्द्रादिबुधानिहान्ते वादे विजिग्ये वदतां वरेण्यः ॥४६॥

१३ फाल्गुन शाके १७९४ ता. १३ मार्च सन् १८७३ को ऋषि का बाबू गौरचन्द्र के गृह पर ईश्वर और धर्म विषय पर संस्कृत में एक व्याख्यान हुआ। व्याख्यान के अन्त में पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न प्रिन्सिपल-संस्कृत कालेज के साथ व्याख्यान वाचस्पति का गर्मागर्म शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ भी सस्कृत में था, ऋषि ने उनको हराया ॥४६॥

सारल्यलालित्यगुणाभिरामां तर्कप्रमाणाच्छनिदर्शनान्ताम् ।
विद्वद्वरा देवगिरं सधारां श्रुत्वा चिरन्ते मुमुहुर्मुनेस्ताम् ॥४७॥

सभा में विद्वान् लोग, विद्वत्-मणि मुनीन्द्र की सरल ललित, मनोहर, तर्क तथा प्रमाण एवं शुभ दृष्टान्त से सम्पन्न, धारा प्रवाह युत उस देववाणी को चिरकाल तक सुनकर मन्त्र मुग्ध हो जाते थे ॥४७॥

बुधस्सततताराचरणस्तु काश्यां जितो बभूवेति यतेः पुरोऽत्र ।
शशाक नागन्तुमपि प्रणुन्नो दिवाकरस्यैव यथादिवान्धः ॥४८॥

राज पण्डित ताराचरण तर्करत्न जो पहले काशी में जीता गया था; वह लोगों से प्रेरित करने पर भी यतीन्द्र के सामने नहीं आसका। "जैसे दिवाकर के सामने दिवान्ध" ॥४८॥

भूदेवमध्यस्थ बुधाग्रसंसत्पुरोऽनुमेनेऽथ स राजविद्वान् ।
मूर्त्यर्चनं तद् वितथं तु राज्ञो वक्तुं न शक्तो भयतोऽहमेवम् ॥४९॥

ता. ८ अप्रेल सन् १८७३ मंगलवार को उस राज पण्डित ने भूदेव मुखोपाध्याय की अध्यक्षता में हुई विद्वत्—परिषत् के सामने स्वीकार किया कि—मूर्ति का पूजना तो असत्य है किन्तु मैं काशीनरेश के भय से स्पष्ट नहीं कह सकता हूं ॥४९॥

श्रीमन्मथो विप्रयुवाऽस्य विद्या-सौशील्यतो मुग्ध इयानभूद्यत् ।
ऋषेस्सदा सङ्गनिवासनिद्रां मुदाऽकृतानेन मुनिः प्रसन्नः ॥५०॥

बाबू मन्मथ नाथ चौधरी बी. ए. नामक एक बंगाली विद्वान युवक ऋषि की विद्या, सच्चरित्रता और सभ्यता पर इतना मुग्ध हो गया कि वह उन्हीं के साथ रहता, खाता, पीता सोता। इससे मुनि प्रसन्न हो गए ॥५०॥

गृहे सभायां वहिरन्तरेको नृपेषु दीनेषु बुधेषु चायम् ।
समानशीलः सरलः पवित्रो विनिस्स्पृहोऽदृश्यत पुण्यमूर्त्तिः ॥५१॥

मनाङ्न मानोऽक्रियतेश्वराणां न दीनतृणामपमान एषाम् ।
सत्यप्रतिज्ञेन महर्षिणेत्थं परीक्षितोऽसौ बहुधाऽत्र यूना ॥५२॥

इस युवक ने घर में, सभा में, बाहर, अन्दर, राजाओं के साथ, दीनों के साथ और पण्डितों के साथ इन निस्पृह पुण्यमूर्ति का एक सा, निष्कपट, पवित्र, सरल वर्ताव देखा तथा अनेक बार इसने इनकी परीक्षा ली, तो ये महर्षि सत्य प्रतिज्ञ एवं निष्पक्ष होकर न तो राजाओं का सम्मान और नाही दीन जनों का अपमान करते हैं; ऐसा उसको विदित हुआ ॥५१-५२॥

स्वदेशभक्तो निजधर्मरक्तो महेशसक्तो विषयाद् विरक्तः ।
स्वतन्त्रशीलः पुरुषाग्रगण्यो विद्वद्वरेण्यो नुत एष विज्ञः ॥५३॥

ये महापुरुष स्वदेशभक्त, स्वधर्मरक्त, ब्रह्मपरायण, विषयों से विरक्त, स्वतन्त्रशील एवं विद्वानों के वरेण्य मण्डनरूप हैं; इस प्रकार विद्वान् लोग इनकी प्रशंसा करते थे ॥५३॥

चारित्र्यविद्यागुणसत्प्रभावै र्विजित्य देवः कलकत्तिकां ताम् ।
निवृत्य तेनैव पथा समायाद् विहारराम्यां छपरापुरीं सः ॥५४॥

दयानन्द देव चारित्र्य, विद्या और सद्गुणों के उत्तम प्रभाव से राजधानी कलकत्ता को जीत कर उसी रास्ते लौटे और बिहार प्रान्त की मनोहर छपरापुरी में आविराजे ॥५४॥

शिवेन सत्कृत्य विशालगेहे निवासितो योगिवरः सुभक्त्या ।
विज्ञाप्य पौराणिकपण्डितेन्द्रं शास्त्रार्थयुद्धाय जुहाव शीघ्रम् ॥५५॥

ज्येष्ठ कृ० १४ संवत् १९३० ता. २५ मई सन् १८७३ को छपरा के सुप्रतिष्ठित जमीदार राय शिवगुलाम साह बहादुर ने बडे सम्मान के साथ ऋषि का स्वागत किया और एक विशाल सुसज्जित भवन में उन्हें ठहराया। योगीन्द्र के मधुर भाषण और प्रेमरस सानी वाणी ने राय बहादूर को भक्त बना लिया। रायबहादुर ने विज्ञापन दे कर पौराणिक पण्डित प्रवरों को शास्त्रार्थ युद्ध के लिये शीघ्र आह्वारन किया ॥५५॥

मध्ये निधायांशुकमेषवादं कर्तुं कथञ्चिन्मनुजै र्नियुक्तः ।
सज्जो जगन्नाथबुधोऽल्पकालात् पराजितो वाक्पतिना द्रुतोऽलम् ॥५६॥

पौराणिकों ने जगन्नाथ नामक पण्डित को बीच में पर्दा डालकर शास्त्रार्थ करने के लिए किसी प्रकार तैयार किया। वाणीपति ने जरा सी देर में उसे अति पराजित कर भगा दिया ॥ ५६ ॥

प्रवाह्य वाग्मी निगमोक्तिगंगां तत्पुण्यनीरै र्जनचित्तपङ्कान् ।
प्रक्षाल्य नृभ्यो भवसिन्धुपारं गन्तुं ददौ वेदतरिं सुभक्तिम् ॥५७॥

वागीश्वर ने वहां वेदोपदेश की गगा बहा कर उसके पवित्र जलसे सफल मानव मन के मल को धो डाला और उन्हें संसार सागर पार करने लिये सुन्दर भक्तिरूपी दृढ बल्ली वाली वेद नौका प्रदान की ॥५७॥

प्रस्थाय देवः छपरापुरीतो मिर्जापुरं प्राप्य स पाठशालाम् ।
प्रबन्धकाशक्तिवशाच्च भंक्त्वा काश्यामिमां स्थापयितुं प्रयेते ॥५८॥

छपरापुरी से प्रस्थान कर भगवान दयानन्द मिर्जापुर पहुँचे। वहां की पाठशाला के प्रबन्ध कों की अशक्ति के कारण बन्द करके इसी को काशी में स्थापन करने के लिये उन्होंने प्रयत्न किया ॥५८॥

जवाहरोद्योगत एष तस्यां संस्थापयामास सुपाठशालाम् ।
अथ प्रयागे प्रथयन्त्सुधर्मं ययौ ततः कर्णपुरं यमीन्द्रः ॥५९॥

बाबा जवाहरदास के उद्योग से देवने काशी में अच्छी पाठशाला स्थापित की। पश्चात् यतीन्द्र प्रयागराज में धर्म प्रचार कर वहांसे कानपुर गये ॥५९॥

व्याख्यानपंक्त्या परितोष्य सभ्यान् स हेमचन्द्रं निगमान्तविद्याम् ।
अध्यापयँल्लक्ष्मणपत्तनं तं गतस्तमादाय ततो मनस्वी ॥६०॥

वहां व्याख्यानमाला से सन्तुष्ट करके बाबू हेमचन्द्र चक्रवर्ती को उपनिषद् पढाते रहे। तदन्तर मनस्वी उनको लेकर वहां से लखनऊ गए ॥६०॥

गंगाधरं संस्कृतशास्त्रचुञ्चुं श्रीवेदवित्तः प्रतिवादसंख्ये ।
विजित्य तच्छिष्यमनः स्वपक्षे जयध्वजं तत्र निखाय निन्ये ॥६१॥

लखनऊ में वेदज्ञ महर्षिने कैनिंग कालेज मे पूर्वीय शिक्षा विभाग के अध्यक्ष, संस्कृत शास्त्र के धुरधर पं. गगाधर शास्त्री को शास्त्रार्थ सग्राम में जीतकर वहा विजय ध्वजा फहरा दी और उस शास्त्री के शिष्यों के मन को स्वपक्ष में खीच लिया ॥६१॥

दिदेव देवेन गजाधरेऽत्र काशीनरेशस्स्वपुरे यथैव ।
ममार्जपंकं नृपति स्तु तप्तः श्रेष्ठी ममारात्मकलंकयुक्तः ॥६२

रईस लाला गजाधर प्रसाद ने भी यहां लखनऊ में भगवान् के साथ वही चाल खेली और वैसा ही दुर्व्यवहार किया जो काशी में काशी नरेश ने खेली थी और जैसा दुर्व्यवहार किया था। काशी नरेशने तो अपने पाप को धो डाला परन्तु वह रईस पाप का कलङ्क मस्तक पर लिये ही परलोक सिधारा ॥६२॥

समासदत्सादितशत्रुपक्षः सदग्रणीः फल्गुपुरं सहेमा ।
न्यदर्शयद् घातकभक्तलोकान् स शिष्यचन्द्रं प्रमुदोपपन्नान् ॥६३॥

सन्तों के अग्रणी, विपक्षियों के पक्ष को खण्डित करके श्री हेमचन्द्र के साथ फर्रुखाबाद जा विराजे। महाराज ने अपने शिष्य चन्द्र को वे लोग भी दिखाए जो पहली बार मारने आये थे और इस समय भक्ति भाव से सेवा कर रहे थे ॥६३॥

संयुक्तप्रान्तस्य सुशासकेन शिक्षाविभागस्य च चालकेन ।
मिमेल योगी निजगाद लाटं गवां वधं वारयितुं तदेति ॥६४॥

" स्वदेशयात्रां नु भवान् विधाता वेष्टाऽऽप्य तं भारतमन्त्रिगोष्ठीम् ।
ध्यात्वा तदा भारतमंगलार्थं यतेत धेनोर्वधवारणार्थम् " ॥६५॥

इस बार महाराज का मिलाप, संयुक्त प्रान्त के छोटे लाट म्योर साहेब से और प्रान्त के शिक्षा विभाग के अध्यक्ष कैम्पसन् से हुआ। बातचीत में योगीन्द्र ने लाट साहेब से कहा कि—' अब आप स्वदेश यात्रा करने वाले हैं। वहां जाकर आप भारत सचिव की सभा में सम्मिलित होंगे। उस समय भारत के हितका ध्यान रख कर गोवध बंद कराने का यत्न कीजियेगा " ॥६४–६५॥

आकर्णयल्लाटमहोदयोऽदो मुनेर्वचः सावहितस्तदानीम् ।
अदाद् वचो गोवधरोधनाय ध्रुवं यतिष्येऽहमिति प्रसन्नः ॥६६॥

लाट महोदय ने मुनीन्द्र के कथन को दत्तचित्त हो कर सुना और प्रसन्नता से वचन दिया कि—" मैं अवश्यमेव गोवध रोकने के लिये यत्न करूँगा " ॥६६॥

संतोष्य भक्तानथ योगिराजः पश्यन्निजाः संस्कृतपाठशालाः ।
पुरेष्वनेकेषु चरन्नयासी दलीगढं राजजयातिथिस्सन् ॥६७॥

अनन्तर योगीन्द्र फर्रुखाबाद, कासगंज, छलेसर आदि नगरों में अपनी संस्कृत पाठशालाओं का निरीक्षण करते हुए, भक्त मण्डल को वचनामृत से तृप्त करते हुए अलीगढ में सुशोभित हुए। वहां ये राजा जयकिसनदास सी० एस० आई० डिप्टी कलेक्टर के अतिथि बने ॥६७॥

व्याख्यानमालां जनरत्नमाला श्रुत्वा प्रमुग्धा प्रशशंस नित्यम् ।
समग्रसंसारसमानभद्रां भद्रैषिणोऽस्मिन्नगरे यतीन्दोः ॥६८॥

इस नगर में हितैषी यतिचन्द्र की अखिल संसार का कल्याण करने वाली व्याख्यानमाला को नित्य सुन कर जन रत्नमाला मुग्ध हो गई और ऋषि की प्रशंसा करने लगी ॥६८॥

हितोपदेशान् यमिनं स राजा सुलेखबद्धाननुरुध्य कर्त्तुम् ।
प्राकाशयद् ग्रन्थमणिं स्वलक्ष्म्या समग्रभूमानवबोधहेतोः ॥६९॥

राजा साहब ने संयमीश्वर के हितोपदेशों को न केवल आर्य जाति के लिये अपितु समग्र मनुष्य जाति के लिए इतना उपयोगी समझा कि आगे चलकर स्वामीजी से उन्हें लेखबद्ध करने के लिये अनुरोध किया और उन्होंने अपनी सम्पत्ति से मनुष्यमात्र के सत्यज्ञान के लिये ग्रन्थ रत्न सन् १८७५ में प्रकाशित किया जिसका नाम 'सत्यार्थ प्रकाश' रखा गया ॥६९॥

ख्यातेन्द्रमण्याख्यकुरानवित्तः समेत्य तेनालपदात्मतत्त्वे ।
अहम्मदोऽपि क्रतुलाभवार्तां प्रासीददाकर्ण्य सतां वरेण्यात् ॥७०॥

अलीगढ मे कुरानके पण्डित, मुरादाबाद वासी मुन्शी इन्द्रमणि ने स्वामीजी का दर्शन कर जीव के अनादित्व पर चर्चा की। वहो सर सय्यद अहमदखाँ ऋषि से मिलने आये। उन्होंने यज्ञलाभ पर बातचीत की। सन्त वरेण्य से हवन का लाभ सुनकर वे प्रसन्न हुए ॥७०॥

गुरुप्रसादस्य गुरूत्तमस्तं वेदानुवादं सुतरां निनिन्द ।
शास्त्रीयशंकाविलयेन विद्वान् स बुद्धिसिन्धुः प्रशशंस देवम् ॥७१॥

ठाकुर गुरुप्रसाद जाट अपने को बडा वेदज्ञ समझता था, गुरुदेव ने उसके रचे हुए यजुर्वेद भाष्य का खूब खण्डन किया। प. बुद्धि सागर अलीगढ के विख्यात विद्वानो में गिना जाता था। वह शिष्टतासे संस्कृत में शास्त्रीय शंकाएं करता था। देव बडी योग्यता से उनका समाधान करते थे। वह महर्षि की योग्यता (विद्वत्ता) पर मुग्ध हो गया और उनकी प्रशंसा करता रहा ॥७१॥

भूपालसिंहात्मजमार्यचन्द्रः स्वदेशवासोवसनं दिदेश ।
मुकुन्दसिंहार्थनयाऽत्र सामगो गानं व्यतानीज्जनता च मुग्धा ॥७२॥

छावली निवासी ठाकुर उधोसिंह अपने पिता ठाकुर भूपालसिंह के साथ भगवान् के दर्शन करने के लिए अलीगढ में आए। उनका विलायती वेष देखकर आर्यचन्द्र ने स्वदेशी वस्त्र पहनने का उनको उपदेश दिया। यहीं एक दिन ठाकुर मुकुन्दसिंहजी की प्रार्थना से मुनीन्द्र ने सामगान सुनाया; सारी जनता आनन्द मुग्ध हो गई ॥७२॥

मुकुन्दभूपालजयाञ्चितोऽयं पदं न्यधाद्धस्तरसे रसज्ञः ।
श्राद्धस्य मिथ्यात्वमसाधयत्स्वै मृतस्य तर्कैः प्रबलैः प्रमाणैः ॥७३॥

ठा० मुकुन्दसिंह, ठा० भूपालसिंह, और राजा जयकृष्णदास से शोभायमान ब्रह्मानन्दरसज्ञ गुरुदेव ने हाथरस में पदार्पण किया। वहां प्रबल प्रमाण एवं तर्को से महाराज ने मृतकश्राद्ध का मिथ्यात्व सिद्ध कर दिखाया ॥७३॥

अथ स्वविद्यागुरुधामपुण्यां कलिन्द कन्याजलरम्यतीर्थाम् ।
जगद्गुरुः श्रीमथुरां निभाल्य वृन्दावनं भक्तजनाहृतोऽयात् ॥७४॥

अनन्तर जगद्गुरु ने कलिन्द कन्या-यमुना के प्रवाह से मनोहर घाटों वाली, स्वविद्या गुरु के पवित्र धाम से मण्डित मथुरापुरी के दर्शन कर और अज्ञात भक्त, राजा उदित नारायण-सिंह का आदर आतिथ्य ग्रहण कर वृन्दावन के लिये प्रस्थान किया ॥७४॥

ब्राह्मोत्सवेऽत्रामितमानवानां बभूव मेलः पृथुलोऽनुवर्षम् ।
अनन्तमूर्त्यालयदुर्गकल्पं वृन्दावनं धाम जडार्चनादेः ॥७५॥

यह वृन्दावन असंख्य मूर्तिमंदिरों का विशाल दुर्ग है, मूर्तिपूजा रासलीला आदि का धाम है, यहाँ प्रतिवर्ष ब्रह्मोत्सव नामक रथ का बडा भारी मेला होता है; जिसमें दूर दूर से सहस्रों नर नारी, राजे महाराजे, सेठ साहुकार तथा अन्य गण्य मान्य पुरुष एकत्रित होते हैं ॥७५॥

सौवर्णमूर्त्तिव्रजहेमकेतुस्तम्भाभिरामोज्जवलमन्दिरेशः ।
श्रीरङ्गकाचार्य इहाखिलानां बभौ गुरुः शंख इवोपधीनाम् ॥७६॥

वृन्दावन में श्रीरंगाचार्य चकांकितों का गुरु रहता था; जो शंखासुर के समान सब प्रकार के छलों में निपुण था। यहां उसने सुवर्ण स्तम्भ से सुन्दर और सुवर्ण कलशों से शोभित मन्दिर बनवाया था। जिसमें सुवर्ण मूर्तियां सुहाती थीं ॥७६॥

तमाजुहाव प्रतिमार्चनादेः शास्त्रार्थसंख्याय मनीषिमुख्यः ।
प्रादर्शयत्प्राङ् मिषमुत्सवस्य पश्चादसौ कायिकरुग्णतायाः ॥७७॥

मनीषिहस ने रंगाचार्यजी को प्रतिमा पूजा आदि विषय पर शास्त्रार्थ संग्राम के लिये आह्वान किया। प्रथम उसने उत्सव का बहाना किया ॥७७॥

मिथ्यापुराणोपल तुंगभित्ति रुक्मादिमूर्त्यर्चननूत्नदुर्गम् ।
वेदार्थवज्रैर्विददार तीव्रैः श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीन्द्रः ॥७८॥

श्रीमान् दयानन्द सरस्वती रूपी इन्द्र ने मिथ्यापुराण रूपी पाषाण की ऊँची दिवालों वाले, सुवर्णादि मूर्तिपूजा रूपी नये किल्ले को तीक्ष्ण वेदार्थरूपी वज्र से तोड गिराया ॥७८॥

सुब्रह्मवर्मान्तरितोरुदेहे भीष्मोपमेऽस्मिन् व्रतिसार्वभौमे ।
असंख्यपौराणिकवक्त्रचापविमुक्तदुर्वाग्विशिखा न फेलुः ॥७९॥

असंख्य पौराणिक पण्डितों के मुख धनुष्यों से छोड़े गये हुए दुर्वचन बाण, उत्तम ब्रह्मज्ञान रूपी कवच से आच्छादित विशाल देह वाले, भीष्म पितामह समान ब्रह्मचारी सम्राट पर सफल न हुए ॥७९॥

आचार्यरंगे विमुखे विवादान् मुहुर्मुहुः संसदि देवहूते ।
पाषाणपूजां परिहाय विष्णो भक्ता उपास्ति विदधुर्विमूर्त्तेः ॥८०॥

सभा में बारबार देव से बुलाए गए हुए रंगाचार्य शास्त्रार्थ के लिये सम्मुख न आए; इस लिये बहुत से सज्जन पाषाण पूजा छोड़ कर अमूर्त विष्णु की उपासना करने लगे ॥८०॥

विवेकतेजो गृहिसाधुपंक्त्यै वितीर्य वृन्दावन आर्यसूर्यः ।
उद्दण्डपण्डां मथुरां स्वभासा प्रभावयामास सुबुद्धिभानुः ॥८१॥

वृन्दावन में आर्यसूर्य ने गृहस्थों एवं साधुओं को विवेक तेज प्रदान कर अपनी सुबुद्धि किरण प्रभा से उद्दण्ड पण्डो और मुस्तण्ड चौबों से मण्डित मथुरापुरी को प्रभावित कर दिया ॥८१॥

सुरामिषावक्रययाचनार्थं नुन्नो नृशंसो द्विषता सभायाम् ।
ग्रीवांगृहीतो यतिनाऽनुयुक्तो स्वप्रेषकाख्यां मुनिमाख्यतां तौ ॥८२॥

मुनीम मांगीलाल नामक विरोधीने सभा में एक कसाई और एक शराब वाले को भेजा। उन्होंने जाकर स्वामीजी से कहना आरम्भ किया कि हमारे शराब और मांस के दाम तो दे दीजिये। स्वामीजी ने हंस कर कहा कि बहुत अच्छा? व्याख्यान के पश्चात् तुम्हारा हिसाब भी कर दूंगा। व्याख्यान समाप्त होने पर यतीन्द्र ने एक हाथ से एक की और दूसरे से दूसरे की गर्दन पकड़ कर पूछा कि—बतलाओ तुम्हारे कितने कितने दाम हैं? तब उन्होंने घबरा कर अपने को भेजने वाले का नाम मुनीन्द्र को बतला दिया ॥८२॥

व्यख्यानकाले प्रहितापि वेश्या व्रतीन्द्रपुण्यास्यविधुं विलोक्य ।
विलीनपापा हृदि साऽनुतप्ता पपात पुण्यात्मपदाम्बुजे द्राक् ॥८३॥

व्याख्यान के समय में कुछ एक दुष्टों ने एक वेश्या को समझा बुझाकर मुनीन्द्र को कलङ्क लगाने के विचार से भेज दिया। सभा में व्रतीन्द्र के पवित्र मुखचन्द्र को देखकर उसकी पापवृत्ति विलीन हो गई और वह हृदय में पश्चाताप करने लगी; अतः वह शीघ्र ही पुण्यात्मा के पदाम्बुज मे गिर पड़ी ॥८३॥

क्षमां ययाचे मुनिमालपन्ती वारांगनैवं भगवन् मयेदम् ।
श्रीमत्कलंकाय विचिन्तितं यद् घोरं महाघं तदकारि चित्ते ॥८४॥

और यह कर वह वारांगना मुनीन्द्र से क्षमा मांगने लगी कि—'भगवन्? मैंने मन में जो आपको कलङ्कित करने के लिए सोचा यह मुझसे घोर-तम पातक हुआ है' ॥८४॥

संभ्रामिताऽहं पुरुषाधमै र्यत् कृतापराधा क्षमयानुकम्प्या ।
आश्वासयन् वाचमुवाच देवो देवि ! स्थिरा स्तात् सुमतिस्सदैवम् ॥८५॥

'कितनेक नराधमोंने मुझे बहका कर यहां भेजा है: अतः मैं अपराधिनी हूं। दया करके आप मुझे क्षमा प्रदान कीजिये'। देव ने उसे ढाढस बंधाया और कहा कि "देवी ! जाओ ! ईश्वर करे कि तुम्हारी ऐसी सुमति सदा बनी रहे" ॥८५॥

विख्यातकीर्त्ति र्मदनोऽतिवृद्धः पौत्रेण सार्द्धं समयान्मुनीन्द्रम् ।
शास्त्रार्थहेतोः परमार्थशीलै र्विमोहितोऽर्चार्चनखण्डनोत्कः ॥८६॥

एक दिन ८० वर्ष के अति-वृद्ध पाण्डे मदनदत्तजी अपने पोते गरुडध्वज और शिष्य बाल कृष्ण के साथ मुनिवर के पास शास्त्रार्थ करने के लिये आए: किन्तु ऋषि के ज्ञान व चरित्र से वे इतने प्रभावित हुए कि वही मूर्तिपूजा का खण्डन करने लगे ॥८६॥

ऊचु र्जना मोहनमन्त्रशक्त्या मुनीन्द्र आवर्जयति द्विषोऽपि ।
नूनं न चेदेष पलै र्न कर्त्तुं पक्वं बुधेन्द्रं प्रभवेत्स्ववश्यम् ॥८७॥

लोग कहने लगे कि मुनीन्द्र के पास कोई मोहन मन्त्र है जिसके प्रभाव से वे कडे विरोधियों को भी अपने अनुकूल बना लेते हैं। अन्यथा कडे से कडे पण्डित राज को अपने वश मे क्षणों में न कर सकते ॥८७॥

मुरशयननरेन्द्रो यानमारोप्यदेवं
स्वनगरमुपनीयापूपुजद् भक्तिनम्रः ।

निगमविवृत्तिकारश्चाजुहावात्मगेहे
यतिगुरुपुर आयान्नैष शास्त्रार्थभीरुः ॥८८॥

मुरसान के राजा टीकमसिंहजी, महाराज को भक्ति से प्रणाम कर अपनी बग्गी पर सवार करा कर अपने नगर में ले गए और उन्होने इनका बडा सत्कार किया। राजा साहब ने यजुर्वेद भाष्यकार ठाकुर गुरुप्रसाद को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये अपने घर पर बुलाया किन्तु वह डरकर यतीन्द्र के सामने नही आया ॥८८॥

जबलपुरमथागान् तीर्थराजः प्रयागाद्
बलपतिसदनेऽभूद् भाषणं योगिनोऽस्मिन् ।

प्रतिकृतिरभिरूपा कृष्णरावाग्रहेण
भुवनहितकरस्यागृह्यतालेख्यकर्त्रा ॥८९॥

वहां से अक्टूबर सन् १८७४ की किसी तारीख को तीर्थरूप महर्षि प्रयाग होते हुए जबलपुर में पधारे। सरदार मल्हारराव इंगलौर के भवन पर योगीन्द्र का व्याख्यान हुआ। एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर म० कृष्णरावने ही इनका आतिथ्य किया और उन्होंने अति आग्रह करके संसार हितकारी ब्रह्मचारी का फोटो खिंचवाया ॥८९॥

गोदावरीतटगपञ्चवटीमनोज्ञं
श्रीजानकीपतिनिवासपवित्रितान्तम् ।
विख्याततीर्थवरनासिकपत्तनं स
प्रायात्ततः प्रथितबाष्परथेन हंसः ॥९०॥

वहां से परमहंस ने एक्सप्रेस ट्रेन से प्रस्थान कर गोदावरी तीरस्थ पञ्चवटी से मनोहर, श्रीजानकीपति रामचन्द्र के निवास से पवित्रित, विख्यात तीर्थक्षेत्र नासिक नगर को सुशोभित किया ॥ ९० ॥

गोदावर्या रुचिरपुलिने भिक्षुविप्रेन्द्रजुष्टे
व्याख्यद् धर्मं निगमसुमतं मानवं मानवेन्द्रः ।
मूर्त्तेः पूजां व्यदलयदलं शैववेदान्तिदम्भान्
तीर्थप्रज्ञां स्थलजलजडे शास्त्रतस्तर्कतश्च ॥९१॥

पुरुषश्रेष्ठ ने भिक्षुक ब्राह्मणों और पुरोहितों से सेवित गोदावरी के सुन्दर तट पर वेदोक्त मानव धर्म पर व्याख्यान दिया, मूर्तिपूजा का अतिशय खण्डन किया और शास्त्र तथा तर्क के आधार पर शैव मत, वेदान्तियों का अद्वैत मत एवं स्थल, जल आदि जड़ पदार्थ में तीर्थ बुद्धि-जन्य पाखण्ड को वेद विरुद्ध प्रतिपादित किया ॥९१॥

न्यायाधिकारिविदुषा विदुषां वरस्य
वादाय नैजभवने विहितः प्रबन्धः ।
आमन्त्रिताश्च बहुशास्त्रिवराः परं ते
चर्चां विधातुमशकन्न यतीश्वरेण ॥९२॥

रावबहादुर विष्णु मोरेश्वर भिडे सबजज ने विद्वद्वर्य दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ के लिये अपने घर पर ही प्रबन्ध किया; और समग्र शास्त्री धुरन्धरों को उन्होंने आमन्त्रण दिया, किन्तु वे यतीश्वर के साथ चर्चा न कर सके ॥९२॥

चातुर्वर्ण्य सुधारभाषणवरं श्रुत्वा श्रुतिज्ञस्य तु
श्रोतारो विबुधाः प्रसन्नमनसा संश्लाघ्य तस्मै ददुः ।
वासोरत्नमुपायनं परिषदि श्रेयोवचोवादिने
स्वातन्त्र्यायनसूचिने गुणजुषेतीन्दुप्रकाशेऽकितम् ॥९३॥

वेदज्ञ महर्षि ने चातुवर्ण्य सुधार के लिये उत्तम भाषण दिया। सुधारक विचार के विद्वान् श्रोतागण इनका व्याख्यान सुनकर अति प्रसन्न हुए। उन पण्डितों ने मानवजाति के लिये श्रेयस्कर वचन कहने वाले, स्वातन्त्र्य प्राप्ति का मार्ग सुचन करने वाले, इस महर्षि को एक बडी भारी परिषद् में बहु मूल्य वस्त्र उपहार में दिये और खूब प्रशसा की। यह समाचार गुणग्राहक लेखक ने 'इन्दु प्रकाश' नामक बम्बई के समाचार पत्र के एक अङ्क में प्रकाशित किया ॥ ९३ ॥

भिक्षावृत्तिरतान् विवेकरहितान् वेदार्थशून्यान् यतीन्
विप्रान् नामभृतो विबोध्य नितरां स्वंधर्ममात्मम्भरीन्।
ब्रह्मज्ञानविनिर्भयो विशदघाग् ब्रह्माश्रयो योगिराड्
यातो मोहमयीं महीतलमणिं भक्तोत्तमामन्त्रणात् ॥९४॥

ब्रह्मके एक मात्र आश्रय पर रहनेवाले योगीश्वर ब्रह्मज्ञान से निर्भय होकर स्पष्टवाणी से भिक्षावृत्ति मे निरत, विवेक रहित, वेदार्थ शून्य, नामधारी सन्यासियों को एवं उदरभरि ब्राह्मणों को स्वधर्म का तत्त्व सम्यक् समझा कर भक्त श्रेष्ठों के आमन्त्रण से पृथ्वी तल में रत्नरूप मोहमयी को सुशोभित करने पधारे ॥९४॥

॥ इति विंशतितमः सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवक्तृनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सच्चित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षे. दिव्यप्रतिभाबलेन पूर्वोत्तर-दिग्गजपण्डितेन्द्र विजयो नाम विंशतितमः सर्गः ।

॥ एकविंशः सर्गः ॥

[वंशस्थवृत्तम्]

अखण्डभूखण्डन् मण्डनावली-विमण्डिता मोहमयी पुरी बभौ ।
यथा विमोह्याखिलमानवान् गुणैः कृतं कृतार्थं निजनाम कामदम् ॥१॥

समग्र भूखण्ड के नररत्नों की मण्डलियों से मण्डित मोहमयी नगरी सुहाती थी; जिस नगरी ने अपने गुणों से सकल मानवों को मोहित करके कामदायक अपना नाम चरितार्थ किया है ॥ १ ॥

विशालकटावार्णवराज आत्मना महार्हहारान् मणिमौक्तिकाञ्चितान् ।
तरंगहस्तैरुपहृत्य यत्पदे बभार रत्नाकरनाम सार्थकम् ॥२॥

विशाल अरबी महासागर अपने तरङ्ग हाथों से महामूल्यवान् मणि और मोतियों के हार इस नगरी के चरणों में अर्पण कर अपना रत्नाकर नाम सार्थक धारण करता था ॥२॥

दृशन्मणिप्रोज्वलसप्तभूमिकै मृगांकशालाललिताग्रभागकैः ।
गवाक्षवातायनवृन्दनन्दनै महालयै र्या रुरुचे मनोरमा ॥३॥

संगमर्मर के पत्थरों से चमकती हुई सात मञ्जिलों वाले चन्द्रशाला से सुन्दर छत वाले और खिडकियों एवं झरूखों से आनन्ददायी महलों से अलङ्कृत यह नगरी मनोहर शोभा प्रदान करती थी ॥३॥

असंख्यरत्नावलिदीपदीपितेष्वहर्निशं यन्निलयेषु रेष्वहो ! ।
सुखेन पण्यव्यवहारमीश्वरा वितेनिरे व्योममणे विना रुचम् ॥४॥

अहो ! ! लक्ष्मीश्वर व्यापारी लोग विशाल भवनों के अन्तर गृहों में सूर्य के प्रकाश के बिना ही असंख्य रत्नावली रूप दीपों को प्रज्वलित कर रात दिन जहां सुख पूर्वक करोडों रुपयों की वस्तुओं का क्रय विक्रय करते थे ॥४॥

यदन्तरे वाष्पचलद्रथावली-त्रिवर्गपीठान्युपविश्य नागराः ।
मनोरमोद्यानविरामधामनि गमागमं गम्यगृहे प्रचक्रिरे ॥५॥

जिस मुंबई नगरी में नगरवासी जन भाँप से चलने वाली रथावली (ट्रेन) में तीनों वर्गों के आसनों पर बैठ कर मनोहर उद्यान और विश्राम भवन से आनन्ददायक अपने अपने कार्यालयों में गमनागमन करते थे ॥५॥

यदीयकोलाः कलयन्त्रचालिताः समग्रभूद्वीपवराभिगामिनः ।
विशेषवस्तुक्रयविक्रयैस्सदा सदात्मलाभाय समुद्यतास्तटे ॥६॥

उस मुंबई नगरी के महासागर के तट पर यन्त्रों से चलाई जाती हुई बडी बडी स्टीमरे (विशाल जहाज) सारे संसार के टापुओं में अनेक पदार्थ बेच तथा खरीद कर देश को लाभ पहुँचाने के लिये सदा तैयार रहती हैं ॥६॥

सुलेहपेयांशुकरत्नमौक्तिक प्रलोभ्यवस्तूज्ज्वलपण्यवीथिकाः ।
यदीयघण्टापथपार्श्वसद्मनां तलप्रदेशेषु बिरेजिरेऽतुलाः ॥७॥

बम्बई नगरी के विशाल घण्टापथ (टावर रोड) के दोनों तरफ के भवनों के तल प्रदेशों में भांति २ के अचार, मुरब्बे, सोडा-लेमन, आईस, जिंजर, दूध, दही, बर्फी, पेडे, जलेबी, गुलाबजामुन, भजिये, सेव, पूडी, कचौडी आदि खाने पीने की चीजों की कहीं २ सस्य धान्य की, और कहीं २ लुभावने सोने, चान्दी, हीरे मोती के अलङ्कारों की, और कहीं विविध रंग की जरी की साडियों तथा चमकदार शाल दुशालें, धोतियों आदि की दुकाने शोभा दे रही थीं ॥७॥

सुविश्वविद्यालयनाटकालयै र्मनोहराहारविहारमन्दिरैः ।
अशेषदेशातिथिसुन्दराश्रयैरलङ्कृता या शुशुभे महीमणिः ॥८॥

पृथ्वी के अलङ्कार सी यह महापुरी कहीं विशाल विश्वविद्यालयों से, कहीं नाटक गृहों से, कहीं मनोहर उपहार भवनों से, कहीं विहार मन्दिरों से, कहीं विविध देश के अतिथि निकतनों से और कहीं विश्रान्ति-सदनों से विभूषित थी ॥८॥

अनन्तविद्याधरयक्षरक्षसां सदप्सरोदेवनृणां कुलैरियम् ।
श्रिताच्छगन्धर्वगणै र्निरन्तरं पुरोऽतिशिश्ये जगतीगता गुणैः ॥९॥

यह महा नगरी असंख्य विद्याधर, यक्ष, राक्षस, देव, गन्धर्व, अप्सरा एवं मनुष्यों के मण्डलों से अलङ्कृत होने के कारण अपने मोहक गुणों से संसार की सारी पुरियों को तुच्छ समझती थी ॥९॥

रवीन्दुमेघाम्बुधिवायुसेवका अनारतं भारतमण्डनामिमाम् ।
सिषेविरे नम्रतया समक्रमा यथर्तुकालं सुखदा मनोरमाः ॥१०॥

भारत को भूषण रूप इस नगरी की सूर्य, चन्द्र, मेघ, महासागर और वायुरूपी सेवक गण ऋतु २ अनुसार क्रमसे मनोहर एवं सुखकर होकर निरन्तर नम्रता से सेवा करते थे ॥१०॥

उदन्वदुत्तुङ्गतरंगमण्डले रवीन्दुसौन्दर्यदिदृक्षवोऽनिशम् ।
परस्सहस्राः पुरुषा वरस्त्रियो विचेरुरानन्दहृदा यदध्वनि ॥११॥

जिस अलबेली मोहमयी नगरी के चौपाटी के मार्गपर हजारों नर नारी-रत्नों की मण्डलियां सायंप्रातः आनन्दित हृदय से महासागर की उत्तुङ्ग तरङ्गावलियों पर सूर्य चन्द्र की अस्तोदय समय की मनोहरता देखने की इच्छा से विचरती थीं ॥११॥

शशाङ्कशोभाप्रतिबिम्बितेादरे सुचन्द्रशालाञ्चितहर्म्यशेखरे ।
सुभाग्यवन्तेा गृहिणो नराः परं प्रियासुखं निर्विविशुर्यदाश्रयाः ॥१२॥

इस नगरी का आश्रय करने वाले अति भाग्यवान् लक्ष्मी के लाडले, गृहस्थ नर, चन्द्र की शोभा से प्रतिबिम्बत फर्शवाली, चन्द्रशाला मण्डित हवेलियों के छत पर सौन्दर्य शालिनी गृहिणी के साथ गार्हस्थ सुख भोगते थे ॥१२॥

श्रुतापुराणेषु यथाऽलकापुरी यथेन्द्रशिष्टा रुचिराऽमरावती ।
विलेाकिता नैव कदापि मानवै र्यथार्थतः साध्य विलेाक्यतां मुदा ॥१३॥

पुराणों में जैसी अलकापुरी वर्णन की है, और जैसी इन्द्र पालित रुचिर अमरावती की ख्याति है: उन नगरियों केा तेा कभी मनुष्यों ने देखा ही नहीं है; अतः इस समय आप आनन्द से यथार्थ रूप में इसी केा अलकापुरी और अमरावती जानिये ॥१३॥

गृहे गृहे चैत्ररथं पदे पदे मनेाहरं नन्दनमत्र पुष्पकम् ।
सुवैजयन्ता धनदालयाः पथे पथे विरेजुः सुरयक्षभूभुजाम् ॥१४॥

इस नगरी में तेा भवन भवन में मनेाहर चैत्ररथ और नन्दनवन, पद पद पर इन्द्र महल और कुबेर भवन देवेा, यक्षेा और राजाओं के उपभोग के लिये विराजते थे तथा मार्ग मार्ग मे पुष्पक यान दिखाई देते थे ॥१४॥

पुरीश्वरीं तामुपसेदिवान्मुनि र्विशालयानालयमागतै र्नरैः ।
समादृतो माल्यवर महाशयै रथेननिन्ये वरवालुकेश्वरम् ॥१५॥

ता. २६ आक्टूबर सन् १८७४ सवत् १९३१ आश्विन में मुनीन्द्र इस नगरीश्वरी में आ पहुँचे, विशाल यानालय बेारीबन्दर स्टेशन पर अनेक महाशय सज्जनों ने इनका पुष्पहारों से सत्कार किया; और वे ऋषि केा रथारूढ कर वालकेश्वर ले गये ॥१५॥

तरंगसम्पर्कसमीरसेविते विशालसद्मन्यधिवासितेा यतिः ।
दधौ स कापायपटं सुपादुके सुरूप्यमुष्टि वरयष्टिमप्यहो ? ॥१६॥

यतीन्द्र को सागर के तरङ्ग के सङ्ग से शीतल वायु वाले विशाल गोशाला नामक भवन में उन्होंने ठहराया। स्वामीजी गेरुआ वस्त्र पहनते थे और बाहर जाते समय चान्दी की मूठवाली छडी हाथ में रखते थे। पैरों में काले चमकदार जूते पहनते थे ॥१६॥

सुलेखकं मण्डनरामपण्डितं सुपाचकं श्रीबलदेवसिंहकम् ।
प्रयागराजादिह योगिमण्डनः समानयल्लेखनपाचनाय तौ ॥१७॥

योगी मण्डन प्रयागराज से यहां अपने साथ सुलेखक प. मण्डनराम को लेखन कार्य के लिये और सुपाचक बलदेवसिंह को भोजन बनाने के लिये ले आए थे ॥१७॥

इदंयुगादर्शसुधारकाग्रणी-र्यशोहिमांशुर्निजकौमुदीं भुवि ।
वितत्य विद्वन्नृचकोरकानलं निनाय तृप्तिं रुचिरां पुरे पुरे ॥१८॥

इस युग के आदर्श सुधारक श्रेष्ठ दयानन्द का कीर्ति चन्द्रमा, ससार मे अपनी रुचिर चान्दनी फैलाकर नगर २ के विद्वन्नर—चकोरो को अत्यन्त तृप्त करता था ॥१८॥

स काशिशास्त्रार्थ इयानदीयत प्रकाशितः सेवकभद्रपूरुषैः ।
इहत्यसाधारणलोक आत्मविद्गुणैस्तदा संस्तुतएव सर्वथा ॥१९॥

श्री सेवकलाल आदि भद्र पुरुषों ने वह काशी शास्त्रार्थ प्रकाशित करके इतना बांटा कि उस समय इस महानगरी की साधारण जनता भी आत्मविद् मुनिवर के गुणों से सर्वथा परिचित हो गई थी ॥१९॥

ऋषेर्निवासेन समं समन्तत स्ततस्समाचार इहाखिले जने ।
ततस्स्वधर्मालपनाय सज्जना यमिस्थलेऽमी समगंसतामुना ॥२०॥

महर्षि के निवास के साथ ही सारी जनता मे इसका आगमन वृत्तान्त फैल गया; अतः सब ओर से सज्जन गण धर्मालाप करने के लिये इनके निवास स्थल पर एकत्रित होने लगे ॥ २० ॥

सहायकै र्जीवनरामसूनुभिः स्वसम्मतिं वल्लभमार्गखण्डने ।
अदीयत स्वामिवराय साम्प्रतं प्ररोचनां सा समदृष्टये कथम् ॥२१॥

रा. रा. जयकृष्ण जीवनराम, प्रभुराम जीवनराम, श्री लखमीदास खेमजी तथा रा. रा. लीलाधर ऊधोजी आदि सज्जनों ने वल्लभ सम्प्रदाय के मत का खण्डन करने के लिए स्वामीजी को अपनी सम्मति दी; क्यों कि ये अन्य सम्प्रदाय के थे परन्तु समदृष्टि वाले महर्षि को उनकी यह सम्मति कैसे पसन्द आवे ? पन्थो की पोल खोलने में किसी एक का पक्षपात कैसे कर सके ॥२१॥

न पक्षपातो मतदोषदर्शने व्यधीयतानेन तु तर्कभानुना ।
अशोष्यताशेषकुधर्मकर्दमो मतार्णवः क्षुब्धतरोऽभवद्यतः ॥२२॥

मतों के दोष दिखलाने में इस तर्क सूर्य ने पक्षपात न किया किन्तु इन्होंने तर्क के आतप से सब पन्थों के कीचड को शुष्क कर दिया जिससे सम्प्रदाय सागर अति क्षुब्ध हो गया ॥ २२ ॥

स जीवनो वल्लभधर्मदेशिकोऽभवन्महारि बलदेवपाचकम् ।
सहस्ररूप्यै मुनिमारणोद्यतं विधाय तस्मै प्रददौ कियद् धनम् ॥२३॥

वल्लभ सम्प्रदाय के गुरु गोस्वामीजी भगवान् के महान् शत्रु हो गए थे। एक दिन उन्होंने इनके पाचक बलदेव को हजार रुपये की लालच देकर मुनीन्द्र को मारने के लिए उद्यत किया और तुरन्त उसे पांच रुपये और पांच सेर मिठाई दे भी दी ॥२३॥

महामुनिर्मानसलोचनैरवेदमुष्य गुप्तां कृतिमन्वयुङ्क्त तम् ।
अगाः किमु त्वं हरिमन्दिरं ततो विनिश्चितं किं बलदेव ! मेवद ॥२४॥

महामुनि ने हृदय नेत्र से पाचक की गुप्त कृति को जान लिया था; अतः वहां से आते ही उससे स्वामीजी ने पूछा—'बलदेव ! तुम गोकुलियों के मन्दिर में क्यों गये थे ? और वहां क्या निश्चय किया ? वह मुझे कहो ॥२४॥

इति प्रपृष्टश्चकितोऽवदत्तदा समग्रवार्तामृतमेष सन्मणिम् ।
अनेकदाऽदायि विषं जनैर्हि मे मृतो न चाद्यापि मरिष्यते न तु ॥२५॥

सत शिरोमणि ने जब ऐसे प्रश्न किए तब तो उसने चकित होकर सब सत्य बात कह दी । ऋषि ने कहा—'बलदेव ! मुझे अनेक बार अनेक मनुष्यों ने विष दिया है; परन्तु मैं मरा नहीं और अब भी न मरूँगा ॥२५॥

इति ब्रुवन्तं यतिमानतः क्षमामयाचतायं न पुनश्च वञ्चने ।
अहं पतिष्यामि कदाप्यसन्नृणामिति प्रतिज्ञां प्रचकार पाचकः ॥२६॥

यतीन्द्र ने जब ऐसा कहा तब यह पाचक प्रणाम कर उनसे क्षमा मांगने लगा और 'फिर कभी मैं दुर्जनों के कपट जाल में नहीं फसूंगा' । ऐसी उसने प्रतिज्ञा की ॥२६॥

समुद्रतीरे भ्रमणाय सन्मणि र्ययौ सदा जीवननुघ्नघातुकाः ।
तदान्वयुस्तं तदवेत्य स स्थितः खलानपृच्छत् किमु मां जिघांसथा ॥२७॥

सन्त रत्न सदा समुद्र तीर पर भ्रमणार्थ जाया करते थे। एक दिन गोस्वामी जीवनजी के भेजे हुए घातक लोक स्वामीजी के पीछे हो लिए, यह बात जान, ऋषि रुक गए और उन्होंने उन गुण्डों से पूछा क्या तुम मुझे मारना चाहते हो ? ॥२७॥

निभाल्य दीप्तिं व्रतिभानुवक्त्रजां नृशंसनेत्राण्ययुरन्धतां तदा ।
प्रकम्पनाकम्पितपिप्पलच्छदा इवाम्बिलास्तेऽस्यभिया चकम्पिरे ॥२८॥

ब्रह्मचारी सूर्य की मुख दीप्ति को देखकर उनकी आंखे चौंधियां गईं। पवनसे कम्पित पीपल के पत्ते की भांति वे हत्यारे थरथर कापने लगे और इतने भयभीत हुए कि स्वामीजी के पीछे जाने का उन्होंने नाम तक नहीं लिया ॥२८॥

सुमन्कृतो राजजनै र्बुधेश्वरः स रामकृष्णो बुधविष्णुशास्त्रिणा ।
सुधारकोऽभूत् पुरि विश्रुतो यतेरुपान्तमायाल्लपितुं श्रुतेर्मते ॥२९॥

डॉ० सर रामकृष्णजी० भण्डार कर सरकार मे सम्मानित थे और शिक्षा विभाग के उच्च अधिकारी थे। पं. विष्णु परशुराम शास्त्री भी इस पुरी में प्रकाण्ड पण्डित गिने जाते थे। दोनों ही सुधारक थे और प्रार्थना समाज के नेता थे। वे दोनों यतीन्द्र से वेद मत विषयक वार्तालाप करने के लिए उनके स्थान पर आए ॥२९॥

अनेकदेवत्वसमर्थकानृषिप्रणीतवेदान् नितरामसंस्त सः ।
निराकरोत्सर्कबलेन तन्मतं यति र्यतस्तौ रुषितौ बभूवतुः ॥३०॥

डॉ० भण्डारकर वेदोंको बहु देवतावाद के समर्थक एवं ऋषि प्रणीत मानते थे। महर्षि ने उनके इस मत को तर्कबल से खण्डन किया; जिससे वे दोनों रुष्ट हो गए ॥३०॥

स्वशास्त्रनैपुण्यमहाभिमानिनौ श्रुतेर्मते व्याकरणेऽपि मर्दितौ ।
अशुद्धिदर्शी विधवाविवाहने स्फुटंनिषिद्धे मुनिनेतिवैरिणौ ॥३१॥

उन दोनों को अपनी शास्त्र निपुणता का महान् अभिमान था। मुनीन्द्र ने उनके वैदिक मन्तव्य एवं उनके लिखे व्याकरण पुस्तक की गलतियां दिखाकर उनका मानमर्दन किया तथा विधवा विवाह वेद सम्मत नहीं है; ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया, जिससे वे दोनों इनके शत्रु बन गए ॥३१॥

अभून्मुनेर्भाषणभव्यमन्दिरे स्वधर्मदेशोदयभाषणद्वयम् ।
कुरीतिमूर्त्यर्चनदम्भभेदकं प्रभावशालि प्रबलञ्च मोदकम् ॥३२॥

'ग्रॉमजी काडमजी' हॉल में ता. २५ तथा २८ नवम्बर १८७४ को क्रमशः मुनीन्द्र के दो व्याख्यान हुए जिनमें मूर्तिपूजा, कुरूढि तथा पाखण्ड का खण्डन और अपने धर्म तथा देश की उन्नति का मार्ग, ये विषय थे। व्याख्यान बड़े प्रभावशाली एवं मनोरंजक थे ॥३२॥

प्रभावितो जीवनशिष्यसज्जनो विहाय तद्वल्लभदुर्मतं मुदा ।
समं सुहृद्भिः श्रुतिधर्ममार्गगो मुनेस्सदुक्त्याऽभवदार्यशीलवान् ॥३३॥

गोस्वामीजी जीवनजी के शिष्य मथुरा पथ भाटिया इतने प्रभावित हुए कि आनन्द से वल्लभ सम्प्रदाय को त्यागकर कई मित्रों के साथ वेद धर्मानुगामी बन गए; मुनीन्द्र की सद्वाणी से वे आर्य चरित्र सम्पन्न हो गए ॥३३॥

व्रती विरक्तो बलवाञ्जटी कुटी-गतो द्विजश्रीबलदेवनामकः ।
दयादृशः प्रेमगिरा प्रभावितो ह्यनन्यभक्तोऽजनि नित्यसंगतः ॥३४॥

बालकेश्वर में एक दूसरा बलदेवसिंह रहा करता था । वह कान्य कुब्ज ब्राह्मण था और ब्रह्मचारी एवं खाकी बाबा के नाम से प्रसिद्ध था उसके सिर पर जयजूट थे । वह स्वामीजी के स्थान पर पडा रहता था । महाराज की दयादृष्टि और प्रेमवाणी से इतना प्रभावित हुआ कि उनका अनन्य भक्त होकर नित्य सगति में रहने लगा और जटाएँ मुडवादीं ॥३४॥

अपूर्वपाण्डित्ययशोनटी पटो रतीत्य सीमां सुगिरां स्वपुण्यगोः ।
समुद्रपारं हरिवर्षवासिनां नृणां मनोरंगतले ननर्त सा ॥३५॥

उत्तम वाणी चतुर गुरुदेव की अपूर्व पाण्डित्य की कीर्तिरूपी नटी स्वपुण्य भूमि भारत की सीमा को लांघ कर समुद्र पार हरिवर्ष (योरोप) वासी सज्जनों के हृदय रग-भूमि पर नृत्य करने लगी ॥३५॥

वटोदरीराज्यसुमन्त्रिमाधवो जनार्दनश्चार्यविदाऽत्र संगतौ ।
वितेनतु र्धर्मविचारणां नतौ गतौ विमुग्धौ पुनरीक्षणेच्छया ॥३६॥

एक दिन बडोदे के दीवान सर टी० माधवराव और नायब दीवान मि० जनार्दन कीर्तनीय इन आर्य विद्वत् मणि से यहा मिलने आए । वे दोनों नमस्कार करके इनसे धर्म विषय पर विचारणा करते रहे और प्रभावित होकर पुनर्दर्शन की इच्छा से चले गये ॥३६॥

स कृष्णरामो निगमान्तपण्डितः श्रुतार्यकीर्त्तिः समगंस्त योगिना ।
सुलेखकत्वेन नियुक्त आगमान् पठन्नवात्सीदृषिसन्निधौ मुदा ॥३७॥

पं. कृष्णराम इच्छाराम अद्वैतवादी स्वामीजी की गुणगाथा सुनकर इनके सत्संग में आए । योगीराज ने इनको अपना सुलेखक नियुक्त किया; वे आनन्द से ऋषि के समीप वेदों को पढते रहे ॥३७॥

निबन्धमद्वैततमोनिवारणं व्यलेखयल्लेखवरोऽस्य पाणिना ।
व्यनश्यदद्वैततमोऽतितार्किक-प्रमाणतर्कांशुभिरस्य हृद्दिवः ॥३८॥

देववर ने इनके हाथ से 'वेदान्त ध्वान्त निवारण' नामक निबन्ध लिखवाया। तार्किक सम्राट के प्रमाण एवं तर्क किरणों से इसके हृदयाकाश का अद्वैतान्धकार नष्ट हो गया ॥३८॥

ऋगाद्यसूक्तोत्तमभाष्यमात्मविन् निदर्शनार्थं स विधाय शास्त्रिणाम् ।
स्वदेशभाषातिलकांकितं च तत् प्रकाश्य पार्श्वे प्रजिघाय विश्वतः ॥३९॥

अनन्तर आत्मविन् महर्षि ने ऋग्वेद के पहले सूक्त का भाष्य-जिसमें हिन्दी, गुजराती और मराठी भाषा में अनुवाद भी था, वेद भाष्य के नमूने के तौर पर रचकर एवं प्रकाशित कर काशी, कलकत्ता तथा भारत के अन्य नगरों के पण्डित प्रवरों के पास भेजा ॥३९॥

स वल्लभस्वामिमतादिखण्डने विलेख्य मुद्रापितवान् स्वपुस्तकान् ।
मनोज्ञसंस्कारविधे र्विनिर्मितिं प्रचक्रमे तत्र जनोदयं विदन् ॥४०॥

ब्रह्मर्षि ने वल्लभाचार्य एवं स्वामी नारायण के मतों के खण्डन विषय में पुस्तकें बनाकर प्रकाशित करवाईं। और मनुष्य के अभ्युदय की इच्छा से मनोहर 'संस्कार विधि' की रचना आरम्भ कर दी ॥४०॥

ऋषेरिहाध्यैषत सेवकादयः सुदर्शनग्रन्थमणीन् यथार्थतः ।
विनांग्लशिक्षां यतितर्कसन्मतिं समीक्ष्य साश्चर्यहृदोऽभवन्नमी ॥४१॥

यहां सेवकलाल कृष्णदास, रामदास छबिलदास प्रभृति भक्त सज्जन महर्षि से दर्शन-ग्रन्थरत्न पढ़ा करते थे; अंग्रेजी शिक्षण के बिना भी यतीन्द्र की तर्कशक्ति एवं विमलमति देखकर इनके हृदय आश्चर्यमग्न हो गये ॥४१॥

शतावधानो बुधगट्टलालनो बभूव काणो नयनेन जन्मना ।
अनेहसा संसरतान्धतां गतो मनोऽग्रणी र्वल्लभसम्प्रदायिनाम् ॥४२॥

प. गट्टूलाल शतावधानी था। वह जन्म से काणा था। कुछ काल के बाद दूसरी आंख से भी अंधा हो गया। वल्लभ सम्प्रदाय का वह अग्रणी विद्वान् माना जाता था ॥४२॥

मुहुर्मुहु र्वादकृते कृतेक्षणः सभाजिताऽऽकार्यत सम्प्रतिज्ञया ।
स्वपक्षहानस्य परं स वञ्चकः प्रतारणामेव ततान पक्षिभिः ॥४३॥

सभाजित, कृतविद्य, मुनीन्द्र ने सभा में यह प्रतिज्ञा की कि—"यदि वह मूर्तिपूजा वेद प्रतिपादित सिद्ध कर दें तो मैं सन्यास छोड़कर प. गट्टूलाल का अनुसरण करूंगा और तिलक, माला आदि धारण कर लूंगा; परन्तु उसे भी यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि यदि वह वेद से मूर्तिपूजा का समर्थन न कर सकेगा तो देव मन्दिरों से मूर्तियां उठा देगा और मन्दिर मन्दिर में वैदिक पाठशाला स्थापित कर देगा।" ऐसी प्रतिज्ञा सुनाकर ऋषि ने बार २ शास्त्रार्थ के लिए उसे ललकारा किन्तु वह धूर्त अपने पक्ष वालों के साथ भी धूर्तता करता रहा ॥ ४३ ॥

शतावधानत्वमसन्मतेरभूदजाच्छकण्ठस्तनवन्निरर्थकम् ।
निरुत्तरो यो निजशिष्यकैः कृतो धृतिः कथं तस्यबृहस्पतेः पुरः ॥४४॥

इस दुर्बुद्धि का शतावधानत्व अजागलस्तन वत् निरर्थक हुआ। जो अपने शिष्य कालीदास पण्डित और जनार्दन गोपाल वकील आदि से निरुत्तर किया गया; उसका इन बृहस्पति के सामने आने का धैर्य कैसे हो ? ॥४४॥

क्वचिन्महाखातचलत्प्लवाकुलां तमालतालाच्छरसालसंकुलाम् ।
क्वचिच्च कासारविशोभिकाननां शरद्घनालङ्कृतशेखराचलाम् ॥४५॥
गजेन्द्रसिंहादिपशूत्तमाश्रयां विहङ्गमेन्द्रादिशकुन्तसंचयाम् ।
सजीवनिर्जीवसुकन्तुजन्तुभृन्मनोहराश्चर्यनिकेतनां क्वचित् ॥४६॥
विलोकयँल्लोकहितैषिकुञ्जरः समन्ततो मोहमयीं भ्रमन्मुनिः ।
स गुर्जरप्रान्तविशेषपत्तनेष्वनार्यलीलादलनोत्सुकोऽभवत् ॥४७॥

कहीं बडी खाडियों में चलती हुई नौकाओं से घिरी हुई, कहीं तमाल, ताड तथा आम्रवृक्षों से व्याप्त, कहीं सरोवरों से शोभित जगलें वाली, कहीं शरन्मेघों से अलङ्कृत शिखर युक्त पहाडो वाली और कहीं हाथी, सिंह आदि उत्तम पशुओं से मण्डित, गरुड, मयूर, राजहंस आदि विविध पक्षियों के सग्रह वाली, सजीव और निर्जीव सुन्दर प्राणियों से मनोहर आश्चर्य शाला (म्युझियम) से शोभित, मुम्बापुरी को देखते हुए एवं उसके चारों ओर घूमते हुए लोक कल्याण चाहने वाले मुनिश्रेष्ठ गुर्जर-प्रान्त के खास २ नगरों में अनार्य लीलाओं का खण्डन करने के लिये उत्कण्ठित हुए ॥४५-४७॥

जगाम तापीतटशालिसूरतं ततो जगज्जीवनदासयानतः ।
गतस्तदुद्यानमयं यमी रुचे रयोग्यमालोक्य तदन्यतोऽवसत् ॥४८॥

सद्गुरुेन्द्र ता. १-१२-१८७४ को तापीतट पर विराजित सूरत को गए वहां डिप्टी कलक्टर राव बहादुर जगजीवनदासजी की गाडी में सवार होकर उनके बाग में गए किन्तु वह स्थान स्वरुचियोग्य न देखकर अन्य स्थल में जा बसे ॥४८॥

कतारमार्गस्थनिकेतनंश्रितः सकृष्णरामो बलदेवसेवितः ।
सभापतित्वे भवजीवनस्य स श्रुतिप्रतीपान्यमतान्यखण्डयत् ॥४९॥

कतारगांव को जानेवाले मार्ग पर के एक भवन में ठहरे। साथ में पं. कृष्णराम और बलदेव पाचक थे। सुरत शहर मे रा. जगजीवनजी के सभा पतित्व में महाराज ने वेद विरुद्ध वल्लभमत, स्वामी नारायण पन्थ, और रामानुजमत का खण्डन किया ॥४९॥

अथांग्लविद्यालयप्राङ्गणेऽभवद् द्वितीयवक्तृत्वममुष्य योगिनः ।
जिनोक्तबुद्धोक्तपुराणतन्त्रजे मते निजार्येोक्तमधर्मरूपणम् ॥५०॥

योगीन्द्र की दूसरी वक्तृता ४ दिसम्बर को गवर्नमेण्ट हाई स्कूल के आंगन में हुई और उसके सभापति प्रिन्सिपल साहब थे । व्याख्यान का विषय था बुद्धोक्त, जिनोक्त, पुराणोक्त तथा तन्त्रोक्त धर्म में आर्य धर्म का स्वरूप ॥५०॥

सुकन्यकापाठगृहेऽजनीतरत् ततस्तुरीयं रघुनाथभूतले ।
रजस्स्थले भाषणमातपेऽपितच्छ्रुतं जनैः शान्ततया स्थितैर्यतेः ॥५१॥

तीसरी वक्तृता सेठ रामचन्द्रजी कन्या पाठशाला में हुई । स्वामीजी की चौथी वक्तृता रघुनाथ पुरा में सेठ ठाकुरभाई के हवेली में होना नियत हुआ; किन्तु जब व्याख्यान का समय हुआ तब हवेली का द्वार बंद था; अतः उसीके आंगन में धूप में ही लोग जमीन पर बैठ गए और शान्ति से उन्होंने यतीन्द्र का व्याख्यान सुना ॥५१॥

नृसिंहकाचारिगुरु र्मठाधिपः सभान्तरे मोहनसाधुरेत्य तम् ।
प्रणम्य साष्टांगमुपाविशन्नतः समादृतो वाग्मिनृपेण पीठिकाम् ॥५२॥

व्याख्यान के बीच में ही सूरत के एक मठधारी वृद्ध श्री मोहनलाल बाबा ब्रह्मचारी आए । जो बडोदे के नृसिंहाचार्य के गुरु थे उन्होने स्वामीजी को साष्टाङ्ग प्रणाम किया । वाग्मिराज ने उनको आदर पूर्वक कुर्सीपर बिठाया ॥५२॥

नमन्तमालोक्य मुनेः पदाम्बुजे विस्मिप्मिये सा जनता मठेश्वरम् ।
अवैद् दयानन्दयतिं सुरोत्तमं निशम्य प्रागेव यशोऽस्य दर्शनात् ॥५३॥

मुनीन्द्र के चरणारविन्द मे मठेश्वर को वन्दन करते हुए देखकर जनता विस्मित हो गई । प्रथम से ही ये महन्त दयानन्द यति को एक अवतारी देव पुरुष मानते थे । इन्होने ऋषि की कीर्ति सुनी थी । आज इनको देवका प्रत्यक्ष दर्शन हो गया ॥५३॥

स लूथरोऽमन्यत नागरद्विजो जनैः पुरस्यास्य सुधारकाग्रणीः ।
स नर्मदाशंकरपण्डितश्चतौ सभाप्रबन्धे सततोद्यतौ यतेः ॥५४॥

प. दुर्गाराम मेाता नागर सूरत के 'लूथर' समझे जाते थे। सुधारकों में वे अग्रगण्य थे। वे और कवि नर्मदाशङ्कर पण्डित दोनों यतीन्द्र के सभा प्रबन्ध मे सदा उद्यत रहते थे ॥५४॥

कवे र्गृहाभ्यर्णविशालभूतले समेश्वरे नागरलूथरे मुनिः ।
अभाषताद्वैतमतप्रखण्डने यदा तदाऽऽस्यन्तखलैरिहेष्टकाः ॥५५॥

पांचवीं वक्तृता कवि नर्मदाशङ्कर के घर के निकट एक मैदान में हुई। उसमें सभापति नागर ब्रूथर थे। मुनीन्द्र ने अद्वैतवाद के खण्डन में व्याख्यान दिया। कुछ दुष्टों ने सभा में ईंटें फेंकी ॥५५॥

वचोऽवसाने प्रतिवादिशास्त्रिणो व्यधात्क्षणेरेव निरुत्तरान् व्रती ।
सभासमाप्तौ व्रतिमोहनाग्रहान्मठं ययौ पण्डितमण्डनै र्मुनिः ॥५६॥

व्याख्यान के समाप्त हो जाने पर प. इच्छाशंकर और अन्य शास्त्रियों को आदित्य ब्रह्मचारी ने कुछ ही मिनिटों में शास्त्रार्थ में निरुत्तर कर दिया। सभा समाप्त होने पर बाबा मोहनलाल ब्रह्मचारि के आग्रह से मुनिवर कवि नर्मदाशंकर, प. दुर्गाराम नागर तथा प. कृष्णराम के साथ उनके आश्रम को गए ॥५६॥

प्रलम्बमानांशुकरत्नपल्लवप्रसूनमालासमलंकृतो मठः ।
सतोरणोऽद्य ध्वजसुन्दरोंऽशुकं निजाश्रमादानृपमार्गमास्तृतम् ॥५७॥

ब्रह्मचारीजी ने उस दिन मठ को लता, पल्लव, पुष्प एवं बहु मूल्य वस्त्रों से अतिशय सजाया था। द्वार पर तोरणमाला और पताका लगवाई थी। अपने आश्रम से राजमार्ग तक महन्त ने वस्त्र बिछवा दिया था ॥५७॥

यदाश्रमं श्रीभगवानुपासदन् मठेश्वरः शिष्यगणै र्जयस्वनैः ।
सुपुष्पवर्षै र्यतिराजमर्चयन् निनाय रत्नासनमण्डितालयम् ॥५८॥

जब श्री भगवान् आश्रम में जा विराजे तब मठाधीश ने जयमाल, चन्दन और पुष्पवर्षा से जयनाद पूर्वक यतिराज का सत्कार किया और उनको रत्नासन मण्डित गृह में ले गए ॥५८॥

महार्हपीठं ह्यपवेश्य योगिनं स पुष्पमाला परिधाप्य चन्दनैः ।
प्रचर्च्य भालं गुरुवन्दनै र्गुरुं परेशगीतै र्मधुरैरनन्दयत् ॥५९॥

उसने योगीश्वर को रत्नासन पर बिठाकर पुष्पहार पहनाया, ललाट में चन्द का तिलक किया और मधुर ईश भक्ति के गायनों से गुरुदेव को आनन्दित किया ॥५९॥

सुजेमनं व्यञ्जनरोचकं ललौ जगल्ललामैर्ललनाकुलैः शृतम् ।
हृद्यभोज्यं मरणञ्च काशिजं सुविश्रुतं चेति बुधैरभुङ्क्त सः ॥६०॥

मोहन बाबा ने इनको त्रिभुवन सुन्दरी महिला मण्डली से पकाया हुआ, अनेक व्यञ्जनों से रुचिकर मिष्टान्न खिलाया। सूरत का भोजन और काशी का मरण सुविख्यात है; अतः विद्वानों के साथ ऋषि ने भोजन किया ॥६०॥

कृषीवलैस्तत्र कतारवासिभि र्निमन्त्रितः पक्वनिधान्यहेतवे ।
गतो मुनिस्तैस्सममाम्रकानने प्रियम्वदोऽदो बुभुजे जनै र्मुदा ॥६१॥

कतारगांव के किसानों ने भगवान् को नई भुनी हुई ज्वार (पोंक) खाने के लिये निमन्त्रण दिया । मधुर भाषी मुनीन्द्र वहां गए और आम्र कानन में किसानों के साथ बैठकर उन्होंने आनन्द से भुनी हुई जुवार खाई ॥६१॥

अपक्वयत्नना लयमेति वा कृषिः फलेष्वपक्वेषु यथा न माधुरी ।
शिशो र्विवाहे स्वकुलस्य संक्षयः सुखोदयस्यापि तथावगम्यताम् ॥६२॥

कृषाणवंशे शिशुपाणिपीडनं विनाश्यतामित्युपदिश्य कर्षकान् ।
सहर्षमामन्त्र्य च मन्त्रदोत्तमो विसर्जितः प्रेमहृदाऽऽगमद् गृहम् ॥६३॥

मन्त्रदाता दयानन्द ने उन किसानों को इस प्रकार उपदेश दिया कि—"जैसे कच्चे खेत को काट लेने से अन्न नष्ट हो जाता है, कच्चे फल और ईख में मिठास नहीं होता, ठीक उसी प्रकार छोटी आयु में जो सन्तान का विवाह कर देते हैं उनका वंश भी बिगड जाता है । सन्तान में सुख और उन्नति का सदा अभाव ही बना रहता है । इस प्रान्त के कृषकों में बाल विवाह की यह कुरीति नष्ट हो जानी चाहिये" । पश्चात् ऋषि सब से प्रेम भरी विदा लेकर अपने स्थान पर आए ॥६२-६३॥

सभान्तरे स्वामिपदे समर्पितं महाधनं श्रेष्ठिवरेण सादरम् ।
यतिस्तदंगीकृतवान्न तं ब्रुवन्नवार्यमेतद्ग्रहणं सभास्विति ॥६४॥

एक दिन व्याख्यान के समय एक सेठने स्वामीजी के चरणों में एक बहु मूल्य दुशाला रख दिया । यतीन्द्र ने उस भद्र पुरुष को कहा कि—"मैं यह वस्त्र कदापि न लूंगा । इस प्रकार व्याख्यानों पर चढावा चढाना वा लेना आर्ष रीति के प्रतिकूल है" ॥६४॥

अगच्छदच्छं भृगुकच्छमच्छहृत् स नर्मदासागरसंगमस्थितम् ।
सुधर्मशालामुपगम्यधर्मराडुपाससत्ताञ्च निजानुगाञ्श्रितः ॥६५॥

वहां से धर्म सम्राट नर्मदा और सागर के संगम पर विराजमान मनोहर भृगुपुर (भरुच) को गए । ये पुण्यात्मा अपने भक्तों के साथ वहां भृगु ऋषि की धर्मशाला में जा ठहरे ॥६५॥

विराड्वणिग्वाक्पटुसभ्यसज्जनाः सुभोजनार्थं प्रबबन्धुरर्हताम् ।
वरस्य तत्रैव च भाषणामृतं निपीय पौरामुदमापुरद्भुतम् ॥६६॥

ठाकुर उमरावसिंह एक धनी वणिक, मोहनलाल वकील और अचरतलाल वकील ने पूज्यपाद के आहार आदि का प्रबन्ध किया। उसी धर्मशाला में दयानन्द देव का उपदेशामृत पान कर नागरिक सज्जन अतिशय आनंदित हुए ॥६६॥

सभांगतो वादकृते स माधवः स्वशिष्यसेनासहितो हितैषिणा ।
क्षणैः परास्तः प्रतिमार्चने श्रुतेरसाधनाल्लज्जितरुट् ईतवान् ॥६७॥

पहले व्याख्यान की समाप्ति पर प. माधवराव त्र्यंबकराव महन्त स्वशिष्य सेना सहित हितैषी महर्षि के साथ प्रतिमा पूजन पर शास्त्रार्थ करने के लिये सभा स्थान में आया और कहने लगा कि—'वेद से मूर्ति पूजा सिद्ध किये बिना आज मैं यहां से नहीं जाऊँगा'। किन्तु भगवान् ने जब उसे कुछ क्षणों में ही पराजित किया तब तो वह लज्जित एवं क्रोधित होकर चला गया ॥६७॥

उपस्थिते माधवपण्डिते पुन श्चखण्ड तन्मण्डनमार्यमण्डनः ।
तदुद्धतच्छात्रकगालिकोपितान् स सैनिकाञ्छान्तहृदस्तदाकरोत् ॥६८॥

फिर दूसरी बार माधव महन्त जब सभा में आया तब आर्य मण्डन ने उस महन्त के मूर्ति मण्डन का खूब खण्डन किया। उसके उद्धत शिष्य अण्ड बण्ड बककर स्वामीजी को गालियां देने लगे; जिससे व्याख्यान में आए हुए उत्तरीय भारत के रहने वाले सिपाहियों की पल्टन उन पर आक्रमण करने के लिये तैयार हो गई किन्तु स्वामीजी ने उनको शान्त कर दिया ॥६८॥

अथैकवेदान्तियतिः श्रुतज्ञतासुविश्रुतो लोकनिवेदितोऽप्ययम् ।
विचारणायां न यतेः पुरोधृतिं बबन्ध तेनेष्टतरु र्व्यभज्यत ॥६९॥

पौराणिक लोगों ने एक अद्वैतानन्द सन्यासी से जिसकी विद्याकी बहुत प्रसिद्धि थी; ऋषि के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये निवेदन किया किन्तु यतीन्द्र के सामने जाने का उसको धैर्य न हुआ; अत: उन लोगों का आशावृक्ष भग्न हो गया ॥६९॥

कथामृतापानमनीषया मुनेस्तदीयशिष्या द्विजयोषितोऽप्ययुः ।
तिरस्करिण्यामुपवेश्य तास्तदा तदीयकर्त्तव्यमुपादिशद् गुरुः ॥७०॥

भड़ौंच में अद्वैतानन्द की बहुत सी चेलियां थीं; वे तथा अन्य ब्राह्मण स्त्रियां मुनीन्द्र के कथामृतपान की इच्छा से धर्मशाला में आईं। तब गुरुदेव ने उन्हें पर्दे में बिठला कर उनके कर्त्तव्य का उपदेश दिया कि— ॥७०॥

न मन्दिरादौ न च साधुसन्निधौ गतागतं साम्प्रतमार्ययोषिताम् ।
गुरु र्हि तासां पतिरेव देवता सदा मनोवाक्तनुभिस्त्रियार्चयताम् ॥७१॥

"आर्य देवियों को मन्दिरों में मठों आदि स्थानों में आना जाना और साधु सन्यासियों के दर्शनों के लिये इधर उधर घूमना उचित नहीं है: उनका पति ही गुरु और देव है, सदा मन, वचन, कर्म से स्त्रियों को पति ही की सेवा करनी चाहिये" ॥७१॥

गुरूपदेशस्तत एव गृह्यतां सुशीलतासद्गुणनोपचीयताम् ।
सुशिक्षया सन्ततिपालनं मुदा विधीयतामुत्तमरीतिसेवया ॥७२॥

"देवियों को स्व स्वामी से ही गुरुमन्त्र ग्रहण करना चाहिये। सुशीलता और सद्गुण बढ़ाने चाहियें। उत्तम शिक्षा और उत्तम रीति से आनन्दपूर्वक सन्तानों का पालन पोषण करना चाहिये" ॥७२॥

पवित्रपुत्रार्कजनीन्द्रदिग्वधू नृरत्नराशे र्जननी स्वनिर्वरा ।
समर्चनीया पुरुषेण शीलतः स्ववंशदेवीव तथागमाध्वना ॥७३॥

"उत्तम माता पवित्र पुत्ररूपी सूर्य के प्रादुर्भाव करने में प्राची दिशा के समान है एवं नर रत्नों को उत्पन्न करने की खान है अतः पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे स्वयं वेदोक्त मार्ग से चलकर उन नारियों को स्व वंश की देवी मान कर अपने शील, सदाचार से उनका सत्कार करें" ॥७३॥

सुता इवेमास्तनयाः सुशैशवे सुशिक्षणीया जनकै र्गुरोः कुले ।
तदैव सीतासुलभानिभा भवेत् पतिव्रता ब्रह्मविदार्यसुन्दरी ॥७४॥

"पिताओं को योग्य है कि पुत्रियों को पुत्रों के समान बचपन में गुरुकुल में भेजकर उत्तम शिक्षण दें, तभी भारत में सीता तथा सुलभा समान पतिव्रता एवं ब्रह्मवादिनी आर्य सुन्दरियां उत्पन्न होंगी" ॥७४॥

अथोमरावोऽवददार्यसद्गुरुं प्रदाय मन्त्रं कुरु शिष्यमद्य माम् ।
करोमि शिष्यं न हि कञ्चिदप्यहं य आर्यधर्मं मनुते स मेऽनुगः ॥७५॥

एक दिन ठाकुर उमरावसिंह ने आर्य गुरुदेव से कहा कि— भगवन! आज मुझे मन्त्र देकर अपना शिष्य बना लीजिये। ऋषि ने कहा कि—"हम किसी को शिष्य नहीं बनाते। किन्तु हमारे जो वैदिक सिद्धान्तों को मानता है; वही हमारा अनुगामी व शिष्य है ॥७५॥

उवाच धाक्कील इनं सतां गुरो ! विमण्डयेच्चेन् प्रतिमार्चनं भवान् ।
वयं भवन्तं कलयेम शंकरं समग्रशास्त्रार्थविदं जगद्गुरुम् ॥७६॥

एक दिन जेठालाल वकील ने सन्तों के स्वामी से कहा कि—"गुरुदेव! आप यदि मूर्तिपूजा का मण्डन करने लगें तो हम आपको अखिल शास्त्रार्थ वेत्ता जगद्गुरु शंकर का अवतार मानने लगें!!" ॥७६॥

प्रलोभनं विश्वपतेः पदस्य मे स काशिराजोऽप्यददादये ! पुरा ।
परं न जह्यां वशमेत्य सत्यतां भवैषणाया ध्रुवमित्यवेहि ताम् ॥७७॥

जगद्गुरु ने उत्तर दिया कि "हे सौम्य ! पहले काशीराज ने भी मुझे जगद्गुरु के पद का प्रलोभन दिया था । परन्तु तुम निश्चित जानो कि मैं लोकैषणा के वश हो कर कभी सत्यता को नहीं छोड़ूंगा" ॥७७॥

अथैकदर्षि ज्वरपीडितं बुधं शिरोनिधीडं समुपाचरत्स्वयम् ।
तदागदस्तं भगवन्न सेवया नवापराद्धो भवितुं तु कामये ॥७८॥

एक दिन कृष्णराम पण्डित ज्वर से पीडित थे: ऋषि ने स्वयं सिर दाब कर उनकी सेवा की । तब वे बोले "भगवन ! मैं सेवा कर कर आपका अपराधी नहीं होना चाहता" ॥७८॥

मनाङ न दोषं त्वमवेहि सन्मते ! मिथोऽत्र सेवा जनधर्म उत्तमः ।
गुरु र्न कुर्याद् यदि शिष्यसेवनं न भावना शिष्यजनेऽस्यसंभवेत् ॥७९॥

ऋषि बोले 'मतिमन् ! आप इसमें जरा भी अपना अपराध न समझें । अन्योन्य सेवा करना मनुष्य का परम धर्म है । यदि बड़े छोटों की सेवा न करेंगे तो छोटों में भी सेवा भावना न आवेगी ॥७९॥

ततो यतिः साभ्रमतीविराजितामहम्मदाबादमहापुरीं गतः ।
रथावतारे नररत्नसत्कृतो निवासितो माणिकदेवमन्दिरे ॥८०॥

भरुच से यतीन्द्र ता. १३-१२-१८७४ की रात्रि में साबरमती से सुशोभित अहमदाबाद नामक महापुरी को गए । रेलवे स्टेशन पर इनके स्वागत के लिये महीपतराम रूपराम और गोपालराव हरि देशमुख जज प्रभृति सज्जन उपस्थित थे । उन्होंने स्वामीजी को माणिकेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहराया ॥८०॥

निजोपदेशैरतुलैः प्रभाविताः प्रतिष्ठिताः शिक्षितसज्जनाः सता ।
निमन्त्रिताः शास्त्रिवरा अनेकशः सभास्थले सभ्यबुधै र्न ते ययुः ॥८१॥

सत्पुरुषने अपने अनुपम उपदेशों से रावबहादुर केवलदास अबाईदास, रा. ब. गोपालराव हरि देशमुख, रा. ब. भोलानाथ सारभाई और रणछोडदास छोटेलाल आदि सुशिक्षित माननीय सज्जनों को प्रभावित किया । उन सभ्य विद्वानों ने अनेकवार पं. बापाजी, केशवशास्त्री आदि शास्त्रिगण को शास्त्रार्थ के लिये सभा स्थान में आमन्त्रित किया किन्तु वे न आए ॥८१॥

स्वधर्मसाहित्यमहोच्चयोग्यता पवित्रवेदार्थनिरूपणप्रथा ।
यथा दयानन्दयते विलोकिता सुसंगताऽन्यस्य तथा न तैरितः ॥८२॥

उन सज्जनों ने दयानन्द यति की जैसी स्वधर्म साहित्य की उच्चतम योग्यता तथा पवित्र वेदों के अर्थ निरूपण की जैसी अद्‌भुत और सुसङ्गत रीति-शैली देखी वैसी अन्य किसी विद्वान् की नहीं देखी ॥८२॥

सुतीर्थनिम्नादमथैकवासरे प्रगम्य पौराणिकदुर्गसंनिभम् ।
स तीर्थलीलामवखण्डय तीर्थराट् समासदत् तामलकोपमां पुरीम् ॥८३॥

पश्चात् एक दिन तीर्थराज दयानन्द गुजरात देश में विख्यात तीर्थस्थान 'निम्राद' नामक पौराणिकों के दुर्ग में जाकर तीर्थ लीलाओं का खण्डन कर पुनः अलकापुरी सी राजपुरी (अहमदाबाद) में आ विराजे ॥८३॥

स राजकोटं ततपत्य वेदविद् विशालधर्मालयमध्युवास तम् ।
यतोऽभवन्नष्ट सुभाषणान्यलं मुनेः स्वमन्तव्यनिदर्शकान्यहो ॥८४॥

वहां से २८ दिसम्बर १८७४ ई. स. अर्थात् पौष कृ. ७ वि. स. १९३१ को वेदज्ञ मुनि राजकोट गए और विशाल धर्मशाला में टिके वहां ऋषि के स्वमन्तव्य दर्शक आठ उत्तम व्याख्यान हुए उनके विषय निम्न प्रकार थे (१) ईश्वर (२) धर्मोदय (३) वेदोंका अनादित्व और अपौरुषेयत्व (४) पुनर्जन्म (५) विद्या अविद्या मुक्ति और बन्ध (६–७) आर्यों का इतिहास तथा (८) कर्तव्य ॥८४॥

शिक्षणानुभवालयस्य गुरुत्तमो गुरुभूपते-
राजकोटनिवासभोजनभाषणादिसुयोजनाम ।
लोकदानधनव्ययैरकरोद्धरः ससुहृद्धरः
स्थापिताऽऽर्यसमाजसंसदिहार्यधर्मवशम्वदैः ॥८५॥

ऐंग्लिश कालेज के प्रिन्सिपल श्री हरगोविंददास ने गुरु सम्राट के आहार, मार्गव्यय, भाषण आदि कार्य के लिये चन्दा एकत्रित करके सब प्रबन्ध कर दिया और आर्य धर्माभिमानी सज्जनों ने राजकोट में सब से पहला आर्यसमाज स्थापित किया ॥८५॥

राजपुत्रसुशिक्षणालयसद्गुरुर्हरिर्वर्षजो
मांसभक्षणदोषदर्शनविस्मितो मुनिमुक्तवान् ।
राजसूनुगणो ध्रुवं नरके पतिष्यति मांसभुग्
भूमुजां मृगयार्थिभिर्विहिता कृपिव्रजरक्षिणाम् ॥८६॥

राजकुमार कालेज के प्रिन्सिपल मेकनाटेन साहब ने ऋषि के बताए मांस भक्षण दोष से चकित होकर मुनि से कहा कि—"तो मांस खाने वाला क्षत्रिय समुदाय निश्चित नरक में गिरेगा ! अतः मांसाहार पाप है"। स्वा०—जंगली हिंसक जन्तुओं से खेतिओं का रक्षण करने के लिये ऋषिओं ने क्षत्रियों के लिये शिकार करना घटित कर दिया है ॥८६॥

धर्म एव न पापमत्र विशांसुखाय कृतो वधो-
योगिनेतिसमाहितो मुदितः कृतज्ञतयाकुलः ।
मोक्षमूलरभट्टगुम्फितवेदयुग्ममुपाहरद्
वेदभक्तिभृते सतेऽस्य सुयोग्यतागुणलोभितः ॥८७॥

प्रजा के सुख के लिये किया गया हुआ प्राणिवध धर्म ही है: इसमें राजाओं को पाप नहीं लगता इत्यादि प्रकार से योगी ने जब साहब का समाधान किया तो वह प्रसन्न हो गया। इनकी सुयोग्यता एवं सभ्यता के गुण से प्रभावित हो कर उसने वेद भक्त महर्षि को कृतज्ञता दर्शानेके लिये मैक्समूलर-सम्पादित ऋग्वेद की दो पुस्तकें भेंट की ॥८७॥

विद्वत्तां गुरुचिन्तनं मतिमतः सूक्ष्मं विचारं श्रुते-
र्व्याख्यानेऽस्य समीक्ष्य शिक्षितनरा आश्चर्यसिन्धौ रताः ।
शास्त्रे शास्त्रिवराः पराजिततरा मन्त्रे मुनेः सद्गिरा
सत्यासत्यविवेकनिर्मलधिय स्ते गीष्पतौ श्रद्दधुः ॥८८॥

शिक्षित समुदाय इन अमित प्रज्ञाशालि, बृहस्पतिसम दयानन्द की विद्वत्ता, वेद विषयक सूक्ष्म विचार एवं महान् आलोचन देखकर आश्चर्य सागर में मग्न हो गया। शास्त्रिगण मुनीन्द्र की सत्यवाणी से हार कर म्लानवदन हो गए। अतः सत्यासत्य विवेक से निर्मल बुद्धि वाले ऋषिभक्त गुरुदेव पर अधिक श्रद्धा रखने लगे ॥८८॥

आगम्याथ महापुरीं पुनरयं श्रीराजमान्यान् बुधा-
न्तत्रत्यार्यसमाजनिर्मितिकृते प्रोत्साह्य शास्त्रिव्रजान ।
मन्त्रार्थे समितौ विजित्य परिषन्नेत्रार्चितः प्राभृतै-
र्देवः सूरतपत्तनं प्रति ययौ संप्रार्थितः सज्जनैः ॥८९॥

फिर ये भगवान अहमदाबाद आए और वेचरदास गोपालराव, प्रभृति राजमान्य विद्वानों को वहां आर्य समाज निर्माण के लिये उन्हों ने प्रोत्साहित किया। एक शास्त्रार्थ सभा में शास्त्रियों को मन्त्रार्थ करने में योगीन्द्रने जीत लिया। सभापति ने बहु मूल्य उपहारों से भगवान का सत्कार किया। पश्चात् आर्य जनों की प्रार्थना से ये भरुच होते हुए सूरत गए ॥ ८९ ॥

ऋषिमुनिकृतशैल्या वेदभाष्यं प्रदर्श्य
बुधसमितिमनन्दं ब्रह्मविच्चन्दयित्वा ।
जगति विजयनादं वेदधर्मस्य तन्वन्
स जयति सुरवन्द्यो भारतीयद्विजेन्द्रः ॥९०॥

देववन्दनीय, ब्रह्मज्ञानी, भारतीय ब्राह्मण सम्राट दयानन्द अपना ऋषि-मुनि कृत शैली से किया हुआ वेद भाष्य विद्वत्-समूह को बतला कर एवं उनको अति आनन्द प्रदान कर संसार में वेद धर्म का विजय नाद करते हुए सर्वोपरि विराजमान हुए ॥९०॥

॥ इति एकविंशतितमः सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्दुर्गीसाप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रतनीर्थस्य कृतौ सचित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्मार्ङ्के महाकाव्ये महर्षेर्महामहिम्ना मोहमर्यादाप्रान्तार्यसमाज स्थापनारम्भो नामैकविंशतितमः सर्गः ।

॥ द्वाविंशः सर्गः ॥

[उपजातिः]

साक्षात्कृतः शिक्षणभागवीक्षकः श्रीपण्डितो बूलरनामसज्जनः ।
महात्मना वैदिकवाङ्मयेऽवदद् गिरा सुराणामिह सादरं चिरम् ॥१॥

सूरत मे महर्षि का डॉ० बान बुलर से साक्षात्कार हुआ; वे उस समय शिक्षा विभाग के इन्स्पेक्टर थे । वह अच्छे संस्कृतज्ञ थे । स्वामीजी से उनका संस्कृत में वैदिक वाङ्मय विषय पर देर तक वार्तालाप हुआ । स्वामीजी उनसे प्रसन्न हुए ॥१॥

भक्तेः प्रकाशाय कृतज्ञसज्जनैर्महार्हवस्त्रं स्वपदेऽर्पितं तदा ।
तदाग्रहान्स्वामिवरोऽग्रहीत्ततः स कृष्णरामो वलसाडमासदत् ॥२॥

स्वामीजी जब सूरत से चलने लगे तो प. निर्भयराम, दुर्गाराम माता आदि सज्जनों ने उनके प्रति अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उनके चरणों में एक बहु मूल्य शाल भेंट में दिया; अनिच्छा होने पर भी भक्तों के आग्रह से स्वामिवर्य ने उसे स्वीकार कर लिया । पश्चात् पं. कृष्णराम के साथ वलसाड पहुँचे ॥२॥

श्रीपारसीकोपवने धनेश्वरैः सुस्वागतं तत्र निवेशितो यतिः ।
व्याचष्ट धर्मं जगतोविधातृतां जगत्पतेर्वेदमते यथायथम् ॥३॥

वहां यतीन्द्र का बड़े समारोह से धनिक सज्जनों ने स्वागत किया और उनको रतनजी पारसी के उद्यानस्थ भवन में उतारा गया । वहां ऋषि ने अनीश्वर वादियों की उपस्थिति में जगत्पति के सृष्टि कर्तृत्व को वैदिक सिद्धान्तानुसार सिद्ध कर बताया और धर्म पर व्याख्यान दिया ॥ ३ ॥

पौराणिकै राजगुरुः प्रणोदितः शास्त्रार्थहेतोः समितिं समागतः ।
व्याख्यानमाकर्ण्यऋषे र्मतं श्रुते नास्ति प्रतीपं स जनानुवाच यत् ॥४॥

वलसाड के पण्डित भवानीशंकर भावनगर के राजगुरु थे । वे अपने पाण्डित्य के लिये गुजरात भर में प्रसिद्ध थे । पौराणिकों ने उनको शास्त्रार्थ के लिये प्रेरित किया । वे स्वामीजी के व्याख्यान सुनने आया करते थे । व्याख्यान सुनकर उन राजगुरुने लोगों से कहा कि— 'दयानन्द ऋषि का मत वेद विरुद्ध नहीं है; फिर मैं उनसे किस बात पर शास्त्रार्थ करूं' ॥ ४ ॥

महर्षिणाऽयं विदितोऽभ्यधीयत प्रकाशयेद् वेदमतं भवादृशः ।
मया गृहस्थेन न कर्तुमीश्यते यते ! श्रुतेः सत्यमतप्रचारणम् ॥५॥

महर्षि को जब यह बात विदित हुई तब इन्होंने उनसे कहा कि—'आप जैसे विद्वानों को वैदिक सिद्धान्तों का प्रकाश करना चाहिये'। गुरुजी ने कहा कि 'हे यतिराज' मैं गृहस्थ हूं, अतः मेरे द्वारा मूर्तिपूजा का खण्डन और वैदिक मत का प्रचार सम्भव नहीं है ॥ ५ ॥

श्रीपारसीका यवना विशेषतो मनोहराः साधुगिरः प्रशुश्रुवुः ।
भक्त्या मुनिं वाग्परथे निवेश्य ते व्यसर्जयन्माल्यगलं महाशयाः ॥६॥

अनेक प्रतिष्ठित पारसी और मुसलमान सज्जन इन साधुजन की मनोहर कल्याणी वाणी सुनने आया करते थे। उन महाशयों ने जब महाराज ट्रेन में आरूढ़ हुए तब उनके कण्ठ में पुष्पमाला पहनाई और भक्ति से विदा दी ॥६॥

ततोऽन्तरालस्थपुरं प्रयाय स गोविन्दराजाग्रहतो गुरुः सताम् ।
भद्रोपदेशैर्जनतां कुमार्गतो निवर्त्य तस्मादगमत्पुरीश्वरीम् ॥७॥

वहां से यतिराज बसई गए। वहां बडोदा के वेतन-भोगी गोविंदराव रहते थे; उनके आग्रह से सद्गुरु ने चार दिन ठहर कर जनता को उत्तम उपदेश दिया और वे वहां से मुम्बापुरी गये ॥ ७॥

उत्तम्भितस्तत्र सुवेदमण्डपो भक्तैर्विशालो बहुलोकलाभदः ।
व्याख्यानमालाभिरिहैव नागरा न्मुनिश्चकारोत्तमधर्मदीक्षितान् ॥८॥

बम्बई में २६ फरवरी सन १८७५ को भक्तों ने विशाल 'वेद मण्डप' सब लोगों के लाभ के लिए बनाया था; उसी में मुनीन्द्र ने व्याख्यान परम्परा से अनेक सज्जनों को वेद धर्म में श्रद्धालु बना कर दीक्षित किया ॥८॥

वादस्थिरा वाक्पटुशिक्षकोत्तमाः श्रेष्ठीश्वरा राजजना महोदयाः ।
शास्त्रार्थमालोकितुमुत्सुका ययु र्मनीषिणो व्याकरणेऽत्र पण्डितैः ॥९॥

नियत दिवस पर एक बड़ा शास्त्रार्थ हुआ। उस समय बड़े २ सेठ आए, साहूकार आए, बैरिस्टर और मॅजिस्ट्रेट आए, कालेजों के महोपाध्याय और स्कूलों के उपाध्याय आए। उद्भट मण्डित पण्डित आए और सरकारी अमलादार भी आए। मनीषि इन का पण्डितों के साथ व्याकरण में शास्त्रार्थ देखने की उत्सुकता से सब आए ॥९॥

संसत्पतौ बापुदलात्मजे वृते ज्योतिर्विदाख्यन् प्रकृतेतरद् यतः ।
निवारितः सभ्यजनैस्ततः परं शुक्लोऽनुयोक्तुं स यतिं प्रचक्रमे ॥१०॥

श्री आत्माराम बापूदल शास्त्रार्थ सभा के सभापति पद पर प्रतिष्ठित हुए । पं. खेमजी बालजी जोशी ने प्रकृत विषय पर तो कुछ कहा नहीं; परन्तु इधर उधर की बातें कहने लगे: अतः सभापति ने उन्हे बिठा दिया । तत्पश्चात् पं. इच्छाशकर शुक्ल ने यतीश्वर से व्याकरण सम्बन्धी प्रश्न करने आरम्भ किए ॥१०॥

वाग्मी ददौ योग्यतया तदुत्तरं प्रश्ने समाप्ते पदतन्त्रपारगः ।
पप्रच्छ तं पाणिनिसूत्रशङ्कना यदुत्तरं दत्तमलिख्यताखिलम् ॥११॥

वाग्मीश्वर ने योग्यता पूर्वक उनके उत्तर दिए । जब इच्छाशकर के प्रश्न समाप्त हो गए; तब शब्द शास्त्र-पारगत महर्षि ने पाणिनीय सूत्र पर शङ्काएँ पूछा । पण्डित गण के दिये हुए सारे उत्तर लिखे गए ॥११॥

असाधयद् भ्रान्तियुतं तदुत्तरं पातञ्जलग्रन्थबलेन सर्वथा ।
यदा तदा पण्डितमण्डलीमदः शशाम स व्याकृतिदाक्ष्यजोऽनृतः ॥१२॥

स्वामीजी ने महाभाष्यादि ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा जब उनके उत्तरों को सर्वथा भ्रम पूर्ण सिद्ध कर दिया: तब तो उस पण्डित मण्डली का व्याकरण निपुणता का मिथ्या अहङ्कार शान्त हो गया ॥१२॥

पराजिता व्याकरणे तदाक्षिपन् विज्ञा नियोगोपरि किञ्चिदेव ते ।
यदुत्तरं योग्यतया स युक्तिभिः स्वामी ददौ येन बुधा ललज्जिरे ॥१३॥

जब वे व्याकरण में हार गए; तब उन्होंने नियोग पर कुछ आक्षेप किये; जिनका उत्तर स्वामीजी ने बड़ी योग्यता और प्रबल युक्तियों से दिया कि पण्डित-गण लज्जित हो गए ॥१३॥

अज्ञायत प्रेक्षकशिक्षके स्फुटं श्रीमद्दयानन्दविदग्धनाऽतुला ।
एतत्सुशिष्यैरपि शास्त्रसंगरे न शाब्दिकानां पण्डितनेति तर्हिने ॥१४॥

उसदिन दर्शक शिक्षित समुदाय को स्पष्टतया प्रतीत हो गया कि पण्डित वर्ग तो श्रीमद्दयानन्द से क्या उनके शिष्यों से भी शास्त्रार्थ संग्राम में तर्क करने की योग्यता नहीं रखते ॥ १४ ॥

अथार्यधर्मानुगभद्रपूरुषैः संरोपितोऽार्यसमाज उत्सुकैः ।
सुधाकलपद्रुमएष नन्दनः श्रीवेदबोधामृतदानजीवितः ॥१५॥

उद्घाटितः स्वान्तमलापनोदनः सत्संगगंगास्रवणोवन्यं नृणाम् ।
विपन्नसेवासमितिः स्वगौरवप्राप्तादरक्षाव्रतिसंघ एष नु ? ॥१६॥

चैत्र शु० ५ शनिवार संवत् १९३२ एवं १०-४-१८७५ को बम्बई में गिरगाम रोड के समीप आर्यधर्मानुगामी, उत्सुक भद्र पुरुषों ने डॉ० माणिकचन्द्र की वाटिका में आर्यसमाज रूपी आनन्ददायक सुधार का कल्पतरु प्रारोपित किया । ऋषि के वेदोपदेशरूप जल दान से उसको सजीवन किया । मानो मनुष्यों के अन्तःकरण के मैल को मार्जन करने के लिए यह सत्संग गंगा का स्रोत खुल गया; दीन दुःखियों की सहायता के लिए एक सेवा समिति मानो स्थापित हुई एवं आर्यगौरव रूप राज महल की रक्षा के लिए एक व्रतधारी प्रहरी मण्डल मानो उद्यत हुआ ॥१५-१६॥

प्रधानमन्त्र्यादिपदाधिकारिणो निर्वाचितास्तत्र सभासदः शतम् ।
आदित्यतिथ्यामधिवेशनं तदा बभूव तेषां नियमेन सर्वदा ॥१७॥

प्रधान मन्त्री आदि पदाधिकारी चुने गए । उसमें सौ (१००) सभासद् बने । रविवार को नियम पूर्वक सदा उनका अधिवेशन होने लगा ॥१७॥

प्रास्तूयत स्वामिवरोऽधिनायक स्तमभ्यैः परं तस्य सदस्य एष सः ।
स्थितः स्वशुल्कं प्रददौ सदस्यवन् न निस्पृहाणां निजमानकामना ॥१८॥

पूज्यपाद स्वामीजी को सभ्यों ने आर्यसमाज का अधिनायक बनाने के लिये प्रस्ताव किया किन्तु ऋषि ने साधारण सभ्य ही रहना स्वीकार किया और एक सभ्य की हैसियत से अपना शुल्क भी दे दिया, निस्पृह महात्माओं को स्वमान की आकांक्षा नहीं होती ॥१८॥

श्रीवैष्णवानां गुरुरम्बुजाम्बकः शास्त्रार्थसंख्ये कथमप्युपस्थितः ।
दधर्ष नापि न च विष्णुशास्त्रिणं ययौ स नानामिषतः सभागृहात् ॥१९॥

प० कमलनयनाचार्य वैष्णव सम्प्रदायके प्रमुख विद्वान और नेता समझे जाते थे ।' वैष्णवों के आग्रह से किसी प्रकार जैसे तैसे शास्त्रार्थ सभा भवन में उपस्थित हुए । ऋषि के साथ वे वाद करने का साहस न कर सके और विष्णु परशुराम शास्त्री के साथ भी शास्त्रार्थ करने का उनको धैर्य न हुआ; इस लिये वे अनेक बहाने बना कर सभा भवन से चले गये ॥१९॥

अनेकमन्त्रोद्धरणै निराकरोत् स मूर्तिपूजां जिनबुद्धशिष्यजाम् ।
समर्थयन् वृत्तगिरा गिरां पतिं व्यनाशयत् तद्गतभक्तिमर्चनाम् ॥२०॥

वाचस्पति दयानन्द ने अनेक मन्त्रों के उद्धरण देकर मूर्तिपूजा का निराकरण किया और इतिहास द्वारा सिद्ध कर दिया कि मूर्तिपूजा जैनियों से एवं बौद्धों से प्रचलित हुई है; उनके व्याख्यानों ने मूर्तिपूजकों की प्रतिमा पूजा की भक्ति को नष्ट कर दिया ॥२०॥

वैराग्यशीला महिला स्वशैशवान् नवीनवेदान्तविचारसंस्कृता ।
सत्यार्थसंलोकमवाप्य सा यतौ श्रद्धामयी मोहमयीमुपाययौ ॥२१॥

पञ्जाब के 'हरयाना' नामक नगर की माई 'भगवती' देवी तरुण दशा में ही वैराग्यवती हो गई थी । उस महिला ने नवीन वेदान्त के विचारों से स्वहृदय को भर दिया था । उस माई भगवती के हाथ में किसी प्रकार 'सत्यार्थप्रकाश' आ गया; उसके पाठ से वह यतीन्द्र में श्रद्धालु हो कर बम्बई में आई ॥२१॥

पञ्जाम्बुवेशाग्निजदर्शनेच्छया तिरस्करिण्यामुपवेश्य सत्तमः ।
उपेयुषीं तां विदुषीमुपादिशत् स्ववेदधर्मं तनु योगितीति सः ॥२२॥

पञ्जाब प्रान्त से स्व दर्शन की इच्छा से उपस्थित हुई उस विदुषी महिला को वस्त्र की ओट में बिठाकर सन्त रत्न ने उसे वेद धर्म का उपदेश दिया और आदेश दिया कि 'आप स्त्री जाति में वैदिक धर्म का प्रचार करें' ॥२२॥

गुरूपदेशान्निजनाम सार्थकं चितन्वती सा महिलोपदेशनम् ।
विधाय काषायपटा स्वजीवनं स्त्रीश्रेयसि ब्रह्मविचिन्तनेऽनयत् ॥२३॥

गुरुदेव के उपदेश से माई भगवती अपने को निहाल हुई मानने लगी उस देवी ने भगवा वस्त्र धारण कर अपने नगर में आकर स्त्री शिक्षा और स्त्री सुधार का कार्य आरम्भ कर दिया और अपना जीवन नारी जाति के कल्याण में और ब्रह्मचिन्तन में बिता दिया ॥ २३ ॥

यतिक्षितीशोऽथ सुधारकोत्तमै र्निमन्त्रितः पुण्यपुरं ततोऽसरत् ।
भीशंकरश्रेष्ठिगृहेऽवसच्च स व्यज्ञापयद् ग्रन्थगणान् स्वसंमतान् ॥२४॥

न्याय मूर्ति रा. रा. महादेव गोविंद रानडे और श्री महादेव मोरेश्वर कुंटे आदि सुधारक दल के नेताओं ने यति सम्राट् को पूना आने के लिये निमन्त्रण दिया था; अतः महाराज पूना गये । पूना में वे विठ्ठल पेठ में श्री शंकर शेठ के भवन में ठहरे । पश्चात् शीघ्र ही उन्होंने यह विज्ञापन दिया कि हम अमुक २ ग्रन्थ को प्रामाणिक और अमुक २ को अप्रामाणिक मानते हैं ॥२४॥

पुण्यात्मनः पुण्यपुरे नृपुण्यदं व्याख्यानवृन्दं हि शतार्द्धमुत्तमम् ।
बभूव पुर्यां शिबिरे च रोचकं मनोहरदृष्टान्तयुतं यतेस्तदा ॥२५॥

उस समय पुण्यनगर में पुण्यात्मा के जन पुण्य कारक प्रभावशाली उत्तम ५० व्याख्यान हुए; वे मनोहर दृष्टान्तों से रुचिकर होने के कारण जनता को प्रिय लगते थे: कुछ व्याख्यान शहर में और कुछ छावनी में होते रहे ॥२५॥

पर्यायतो भाषणमेकवासरे शंकासमाधानमथो दिनान्तरे ।
अजायतातो जनतास्य वाग्मिनो वेदज्ञतावाग्मितयो मुमोह सा ॥२६॥

वाग्मीश्वर का एक दिन व्याख्यान और दूसरे दिन शङ्का समाधान क्रमशः हुआ करता था । सहस्रों की संख्या में लोग आते थे और महाराज की वेदज्ञता, विद्या एवं वाग्मिता पर मुग्ध हो जाते थे ॥२६॥

विद्वन्महादेवयुगं युगान्तरप्रवर्तकाचार्यविनेयरत्नताम् ।
प्रधार्य धैर्येऽचलजित्वरं वरं सभाहवे संरुरुचे सतासमम् ॥२७॥

न्यायमूर्ति रानडे महोदय और कृते महोदय, युगान्तर प्रवर्तक, आचार्य दयानन्द के शिष्यरत्न बन गये थे; और वे दोनों सभा संग्राम में हिमाचल को जीतने वाला अनुपम धैर्य धारण कर महा पुरुष के साथ चमकते थे ॥२७॥

उन्मीलितं ज्ञानविलोचनं नृणां येषां नु ते शुश्रुवुरादराद् गिरम् ।
उत्तेजिता मूढजना विनेनिरे स्वकूटजालं यमिनो निहिंसने ॥२८॥

जिन सज्जनों का ज्ञान-नेत्र खुल गया था; वे तो आदर पूर्वक संयमी सम्राट् की पवित्र वाणी को सुनते थे और इतर मूढ जन ऋषि की वाणी से क्रोधित हो कर इनको मारने के लिए षडयन्त्र रचते थे ॥२८॥

सतां सतागमनोत्सुके वरे ततः सभास्तारवरास्सभाजनम् ।
कर्तुं विनिश्चक्युरिनस्य योगीनां शोभासुयात्रासहितं हितैषिणः ॥२९॥

सतरत्न जब पूने से शिवराज की राजधानी 'सतारा' को जाने के लिये उत्सुक हुए; तब श्रेष्ठ सभ्यों ने संसार हितकारी योगीश्वर की शोभा यात्रा ता. ५ सितम्बर रविवार को समारोह पूर्वक निकालने का निश्चय किया ॥२९॥

संवर्द्धनासंमदि योगिभाषणे वृत्ते कृतज्ञत्वविसूचिसद्गिरा ।
महार्हवस्त्राण्युपहृत्य भक्तृभिः सपुष्पहारं परिपूजितो यमी ॥३०॥

निश्चित दिन संवर्धना सभा संगठित हुई । योगिराज ने "यथेमां वाचं कल्याणीम्" इत्यादि वेद मन्त्र की व्याख्या की । पश्चात् गंगाराम भाऊ भस्के ने पूना निवासियों की ओर से कृतज्ञता प्रकट की । अनेक वक्ताओं ने संयमीश्वर के उपकारों का वर्णन किया । इसके अनन्तर गुरुदेव को पुष्पमाला पहनाई गई । कई सज्जनों ने एक जोड़ा-शाल, पगड़ी, एक रेशमी पिताम्बर और एक रेशमी चादर श्रद्धा के साथ श्री चरणों में भेंट किए और उनपर पुष्प वर्षा की ॥३०॥

दन्तीन्द्रमारोढुमथो निवेदितो यतीन्द्रएनं न समारुहद् यदा ।
अग्रे गजो बाजिदलं ततो बलं वाद्यं पुन योगिनृपोऽचलद् बुधैः ॥३१॥

यतीन्द्र को पश्चात् दन्तीन्द्र पर सवार होने के लिये निवेदन किया गया किन्तु वे उसको स्वीकार न कर विद्वान् महोदयों के साथ पैदल ही चले । आगे २ हाथी; उसके पीछे अश्वसेना, तदनु सैनिक-दल, उनके पीछे बाजे वाले फिर योगिसम्राट् और उनके भक्त जन और अन्त में अन्य लोग चले ॥३१॥

श्रीपारसीका यवना यहूदिकाः सम्माननसंसम्मिलिताः समं ययुः ।
मनुष्यमात्रोपकृतौ धृतव्रते प्रदर्शयेयु र्न हि के समादरम् ॥३२॥

इस सम्मान सभा में पारसी, मुसलमान और यहूदी सज्जन भी सम्मिलित हुए थे । भला !! मनुष्य मात्र के उपकार का व्रत धारण करने वाले महा पुरुष में कौन श्रद्धा नहीं प्रकट करेंगे ? ॥३२॥

जडार्चनाजन्यजडत्वदर्शिनीं मनुष्यजन्मन्यपि पाशवार्थिनीम् ।
पौराणिका रासभराजनन्दनाः प्रादर्शयन् गर्दभतामिहोल्वणाम् ॥३३॥

दूसरी ओर गर्दभदल के नेता नारायण भी काजी जोगलेकर आदि पौराणिकों ने जड पूजा से उत्पन्न जडता को दर्शाने वाली, मानव जन्म में भी पशुता का अभिनय करने वाली महर्षि के उपहास में एक गर्दभ समारोह यात्रा निकाली ॥३३॥

कामं भषन्तां भषकाः स्वराश्च ते गच्छन्तमालोक्य गजेन्द्रमध्वना ।
गंभीरतां किं गुरुगौरवाञ्चितां जह्यान्नरेन्द्रार्चितकुञ्जरो निजाम् ॥३४॥

गजेन्द्र को महापथ से जाते हुए देखकर कुत्ते और गदहें चाहे जितना भोंके !! किन्तु क्या नरेन्द्रों से पूजित गजराज अपनी गौरव युक्त गंभीरता को छोड दें ? ॥३४॥

अस्ताः खले गोमयकर्दमेष्टका उक्ताश्च गाल्यः परमात्मविन्मुनिः ।
निस्सीमगाम्भीर्यभृतां सरस्वतां श्रियं बभाराचलतांश्च भूभृताम् ॥३५॥

खल मण्डली ने ब्रह्मज्ञानी मुनीन्द्र पर ईंटें, पत्थर, गोबर और कीचड फेंकना आरम्भ कर दिया और गालियां भी बरसाने लगें; किन्तु गुरुदेव ने समुद्र की सी असीम गंभीरता और हिमाचल की सी निश्चलता की शोभा को धारण किया ॥३५॥

व्याख्यान वेश्मान्तिकमागते यतेः शोभाप्रयाणे शिविरात्पुरे शुभे ।
महासमारोहयुते खरेश्वरै रुपद्रवोऽकारि स लोकगर्हितः ॥३६॥

छावनी से समारोह पूर्वक यतिराज की शोभा यात्रा पुण्यपुरी के व्याख्यान भवन के ज्योंहि पास आई त्योंहि उन गर्दभों ने लोक निन्दित उपद्रव किया ॥३६॥

गम्भीरशान्त्याऽथ स शान्तिसागरो बृहस्पतिः श्रोतृसहस्रसंकुले ।
सभागृहे चन्द्रविनिन्दनानने मन्द्रोपदेशं प्रददौ सुमद्रवाक् ॥३७॥

किन्तु शान्ति के सागर, चन्द्र विनिन्दक मुखवाले, बृहस्पति सम स्वामीजी ने सहस्रों श्रोताओं से घिरे हुए सभा भवन में गंभीर शान्ति से जन कल्याण कारिणी वाणी से उपदेश दिया ॥३७॥

भीन्यायमूर्तिप्रभृतिप्रवक्तृभिः प्रोक्तं यथा भद्रजना जगद्गुरुः ।
जगन्महामंगलकामुको नृणां स्वभूतिमुक्तिश्रुतिधर्ममादिशत् ॥३८॥

पश्चात् न्यायमूर्ति रानडे, कुंते महोदय और शास्त्री रघुनाथ ने अपने २ भाषणों में कहा कि—'भद्र पुरुषो ! जगन्मङ्गलाभिलाषी जगद्गुरु दयानन्द ने मनुष्य जाति के अभ्युदय एवं मोक्ष के लिए वैदिक धर्म का प्रकाश किया है ॥३८॥

निष्पक्षतां नैरवलम्ब्य शास्त्रिभि र्विचिन्तनीयं यतिदृष्टिमादरात् ।
नूनं दयानन्दसरस्वतीपदं व्यधादयं सार्थकमात्मवित्तमः ॥३९॥

अतः शास्त्रियों को निष्पक्ष भाव का अवलम्बन करके यतीन्द्र के उपदेश पर नम्रता से विचार करना चाहिये। वास्तव में आत्मज्ञानी मुनीन्द्र ने अपना 'दयानन्द सरस्वती' नाम सार्थक कर दिया है ॥३९॥

ग्राह्या गिरो विश्वगुरो सुखेप्सुभिः संमाननीयोऽतुलपूरुषोत्तमः ।
अन्वर्थनाम्नी निजपूरियंध्रुवं पुण्यात्मनोऽजायत पुण्यलाभतः ॥४०॥

सुख चाहने वाले मानवों को विश्व गुरु की वाणी का स्वीकार करना चाहिये और अनुपम महापुरुष का आदर करना चाहिये। सचमुच !! आज यह पुण्य नगरी इन पुण्यात्मा के पुण्य समागम से सार्थक नामवाली बन गई है ॥४०॥

प्रहीष्यते नो यतिनोपदा यदा तदाश्वनेभाष्यकृते प्रदीयताम् ।
प्रस्तुत्य चेत्थं सकलानुमोदिता मुद्राः प्रदत्ता यतयेऽत्र सज्जनैः ॥४१॥

सज्जनों ने सोचा कि—"सन्यासी भेंट रूप में द्रव्य न ग्रहण करेंगे तो वेद भाष्य प्रकाशन के लिए अर्थ साहाय्य करना अच्छा होगा"। इस प्रकार प्रस्ताव करके सर्वानुमति से २५०) रुपये यतीन्द्र को भेंट किए गए ॥४१॥

सुपुष्पहारैरभिनन्दितो मुनिः समाददौ सादरतः सहायताम् ।
आस्थानतः स्थानममुष्य गच्छतः क्षिप्ताः खरैः लेष्ट्रचयाउपर्यहो ! ॥४२॥

मुनीन्द्र ने यह साहाय्य सादर ग्रहण किया । तत्पश्चात् सभास्थ पुरुषों ने स्वामीजी पर पुष्प वर्षा की । महर्षि सभा से अपने स्थान पर जा रहे थे, तब गदहों ने उनके ऊपर ठेलें फेंकें ॥४२॥

बालेयलीलामवलोक्य लोकपो जिघृक्षुरेतान् यमिना निवारितः ।
क्षिपन्तु बाला न हि कापि मे क्षतिर्न चैषु रोषो मम वेति बोधितः ॥४३॥

इस गर्दभ लीला को देखकर इन्स्पेक्टर 'ट्रेन' उन नर पशुओं को पकड़ने लगे । तब ऋषि ने मना कर दिया और समझाया कि ये मूर्ख भले ठेलें फेंकें ! मेरी इससे कोई हानि नहीं है और न ही इन पर मेरा रोष है ॥४३॥

विशेषकम्]

नदीद्वयालङ्कृतशैलसुन्दरात् ततः सतारां शिवराजकीर्तिदाम् ।
द्रुमावलीलालिततुंगशृंगकान् पश्यन्नयाद् वर्त्मनि वाष्पयानगः ॥४४॥

स्वराज्यसौख्यारुणपूर्वपर्वताञ् शिवाजिसम्राड्विजयध्वजोपमान् ।
सिंहादिसद्दुर्गमनोरमान् गिरीन् महामनाः प्राणितिवृत्तबोधकान् ॥४५॥

उपत्यकासस्यवसुन्धराधरां शिवाजिवाजिव्रजराजितां जिताम् ।
न तां ततां भूमिभृतां वरैर्वरः सतां हितान्तां नगरीं गरीयसीम् ॥४६॥

दो नदियों से सुशोभित, शैल राजि से मनोहर पुण्यनगर से सन्त रत्न महामना दयानन्दजी बाष्पयान पर आरूढ हो कर मार्ग में वृक्षमाला से अङ्कुत, गगन चुम्बी उच्च मस्तक वाले, छत्रपति शिवाजी सम्राट् की विजय ध्वजा के तुल्य, स्वराज्य सौख्य रवि के उदय पर्वत समान, प्राचीन इतिहास को बतलाने वाले, अद्भुत, हृदयहारी सिंहगढ़, प्रतापगढ़ आदि उत्तम २ दुर्गों से मण्डित पर्वतों को देखते हुए तलहटी में धान्य के खेतों से रमणीय, शिवाजी महाराज के अश्वगण से शोभित, अन्य महीपालों से अजेय अतः वन्य, मंगल प्रदेशवाली, श्रेष्ठ शिवराज की कीर्ति को गाने वाली—'सतारा' राजधानी में आ सुशोभित हुए ॥४४-४६॥

कल्याणरामादिमहोदयाहृतो महानुभावो मुनिरन्तिकागतान् ।
जिज्ञासमानान्निगमोद्धितं मतं तदा तदाचष्ट नरान् यथायथम् ॥४७॥

रा. रा. कल्याणराम सीताराम चित्रे आदि महानुभावों ने इन महात्मा का स्वागत किया और उनके निवास तथा आहार आदि का प्रबन्ध कर दिया। वहां कोई व्याख्यान न हुआ किन्तु जो लोग उनके पास आते और जिज्ञासा करते तो वे उनको यथायोग्य वेदोक्त मत बतला देते ॥४७॥

मन्तव्यमाचिक्षिपुरस्य शास्त्रिणो महात्मनस्तानिति के चिदीक्षकाः ।
संख्यार्थमाह्वासत साहसं कुतः काशीस्थविद्वज्जयिसंमुखे विदाम् ॥४८॥

सतारा के अनन्ताचार्य आदि शास्त्री, महात्मा के मन्तव्यों पर आक्षेप करते थे; अतः कितनेक विचारकों ने उनको स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए आह्वान किया किन्तु काशीस्थ विद्वद्वर को जीतने वाले दयानन्द के सामने आने का उन शास्त्रियों को साहस कहां ? ॥४८॥

प्रतारणं ज्यौतिषिकं फलं मृषा वर्णो हि मान्यो गुणकर्मदर्शनात् ।
इत्यादिबोधैर्जनतां प्रबोध्य स न्यवर्ततास्या लघु पुण्यपत्तनम् ॥४९॥

एक दिन एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि—'फलित ज्योतिष सत्य है वा नहीं ! तो ऋषि ने उत्तर दिया कि वह प्रतारणा मात्र है सत्य नहीं। जिज्ञासु०—वर्णभेद गुण पर निर्भर या जन्म पर ? स्वा०—गुण कर्म पर निर्भर है। मनु के वचनों से ऋषि ने उसको समझा दिया। इस प्रकार सतारा की जनता को उपदेश देकर शीघ्र ही वे ता. २३-१०-१८७५ को पूना लौट आए ॥४९॥

तस्मात् स प्रातः स्मरणीययोगिराट् खण्डालघट्टाचलनिर्झराम्बुना ।
स्थले स्थलेऽलङ्कृतमद्रिकाननं विलोकयन्मोहमयीमुपेयिवान् ॥५०॥

पूने से प्रातः स्मरणीय योगिराट् खंडाला घाट के गिरि-निर्झरों के जल से स्थल २ पर सुशोभित गिरि वन को देखते हुए पुनः बम्बई पधारे ॥५०॥

विद्युत्पथप्रापितवृत्तबोधनाद् यानावतारे तु सहस्रमानवैः ।
समेत्य सुस्वागतपूर्वमर्चितः पुरीं स निन्ये मननीयभाषणः ॥५१॥

तार द्वारा ऋषि के आगमन का समाचार जान कर सहस्रों श्रद्धालु जन स्टेशन पर आये थे। वे मननीय भाषणकार ऋषि का स्वागत करके सम्मान के साथ उनको शहर में ले गए ॥५१॥

अथार्यवृन्दां नववर्षवासरमुद्दिश्य पूज्योऽदिशदुत्तमं जनान् ।
अध्युष्य कञ्चित्समयं प्रियङ्करो घटोद्भवामासदृदेव देवराट् ॥५२॥

बम्बई में २०-१०-१८७५ को पूज्यपाद का "आर्यों का नए वर्ष का प्रथम दिवस" विषय पर एक व्याख्यान हुआ। इसके पश्चात् प्रियंकर देवराट् कुछ काल वहां रहे फिर बड़ौदा पहुँचे ॥५२॥

वटोदराराज्यसुमन्त्रिमाधवप्रबन्धतो धर्मगृहे स्थितो यतिः ।
राज्यातिथित्वेन समादृतो बुधैः श्रीरामचन्द्रप्रभुखैर्नयोत्तमैः ॥५३॥

बड़ौदे सर टी० माधवराव दीवान ने स्टेशन के सामने धर्मशाला में राज्य अतिथिरूप से यतीन्द्र को ठहराया। उनके आतिथ्य सत्कार के विषय में राव बहादुर रामचन्द्र गोपाल देशमुख सब जज आदि राजनीतिज्ञ विद्वान् सदा उद्यत रहते थे ॥५३॥

प्रतिष्ठिता राज्यसुकर्मचारिणो न्यायाधिपाः श्रेष्ठिसुशिक्षिता बुधाः ।
सदा मुदोपास्थियतात्मविद्गुरोर्व्याख्यामकाले श्रवणाय सद्गिराम् ॥५४॥

आत्मज्ञानी गुरुदेव की व्याख्यान समय में अमृत-वाणी सुनने के लिए बड़ौदे के सब प्रतिष्ठित जागीरदार, उच्च कर्मचारी, न्यायाधीश, सुशिक्षित विद्वान् और सेठ साहूकार सदा श्रद्धा से उपस्थित रहते थे ॥५४॥

वेदाधिकारे वदतो बृहस्पतेर्मुखे मुखाद् वेदगिरं निशम्य ते ।
संगीतसम्राड्यवनाग्रतस्थिते निजाङ्गुलीभिः प्यदधुः श्रुती बुधाः ॥५५॥

एक दिन बृहस्पति तुल्य दयानन्द वेदाधिकार विषय पर व्याख्यान दे रहे थे। स्वामीजी "यथेमां वाचं०" इत्यादि वेद मन्त्र का ज्योंहि उच्चारण किया त्योंहि शास्त्रियों ने कानों में अंगुलियों दे ली क्योंकि बड़ौदा के एक लाख पेन्शन पाने वाले सुप्रसिद्ध गायक नवाब मौला बख्श आगे बैठे हुए थे ॥५५॥

मन्त्रोदितं शूद्रपुरो न्यषिध्यत द्विजो न सोऽयं प्रतिभाति नस्ततः ।
शास्त्रार्थमेतेन विधातुमुद्यता इत्यूचुरूच्चैः कलहप्रिया बुधाः ॥५६॥

कलह प्रिय शास्त्रियों ने कोलाहल करके कहा कि—"वेद मन्त्रों का उच्चारण शूद्रों और यवनों के सामने निषिद्ध है। हमको ऐसा प्रतीत होता है कि ये स्वामीजी ब्राह्मण नहीं हैं अतः इनसे शास्त्रार्थ करने के लिये हम तयार हैं" ॥५६॥

व्याख्यानमस्याभवदार्यभाषया व्यज्ञासिषुस्तेन न नैपुणीमयी ।
गीर्वाणवाण्यामिति शास्त्रिणो मुनिं वक्तुं तदाह्वन्त मदान्विता मुहुः ॥५७॥

मुनीन्द्र का व्याख्यान आर्य भाषा में हुआ था: अतः वे समझते थे कि संस्कृत भाषा में इनकी प्रवीणता नहीं है; ऐसा सोच कर शास्त्री लोग अहंकार से वारंवार संस्कृत में बोलने के लिये आह्वान करते थे ॥५७॥

आह्वानमेषां प्रमुदा वदावदः स्वीकृत्य सद्यः स समाप्य भाषणम् ।
यज्ञेश्वरं व्याकरणे सुविश्रुतं चक्रे पराचीनमसुं प्रवर्चया ॥५८॥

वागीश्वर ने इनका आह्वान आनन्द से स्वीकार किया और तत्काल ही व्याख्यान् समाप्त करके प्रथम व्याकरण में अति विख्यात यज्ञेश्वर शास्त्री को व्याकरण के गहन प्रश्नों द्वारा थोडे समय में ही पराङ्मुख कर दिया ॥५८॥

न्यायेऽथ नैयायिकमण्यभिधं संख्यावतां प्राग्रहरस्य संख्यया ।
व्यधात्परास्तं समितौ यदा हि तौ हीनप्रभौ हीणतरौ गृहं गतौ ॥५९॥

तत्पश्चात विद्वानों में अग्रगण्य दयानन्द ने न्याय के पण्डित अप्पय शास्त्री से न्याय विषय पर वाद आरम्भ किया । थोडी देर में ही वह परास्त हो गया । सभा में जब वे दोनों दिग्गज पण्डित संस्कृत बोलने में हतप्रभ हो गये तब वे अति लज्जित हो कर घर चले गये ॥५९॥

मुनेर्मनागाक्रमणेन शास्त्रिणः शिरोबलैर्गर्वगिरेः स्खलत्क्रमाः ।
तुंगाक्षिपत्याननभंगसंगता मनोहता नो दधृषुर्वचोयुधे ॥६०॥

मुनीन्द्र के सहज ही आक्रमण से शास्त्रिगण गर्वगिरी से लुडक कर ऐसे सिर के बल गिरे कि उनका आनन भङ्ग हो गया और फिर वे निराश हो कर वाग् युद्ध के लिये साहस न कर सके ॥६०॥

नरेन्द्रकान्ता यमुनाङ्गनोत्तमा संदर्शनं कर्तुमियेष योगिनः ।
न्यवीविदन्मन्त्रिमुखेन सा मुनिं परं न्यषेधीदिदमर्थनिस्पृहः ॥६१॥

राजमहिषी यमुना बाई योगीश्वर का दर्शन करना चाहती थीं; अतः उस महाराणी ने स्व मंत्री के मुख से मुनीन्द्र को दर्शन देने के लिये निवेदन किया: परन्तु वीतराग व्रतीन्द्र ने निषेध कर दिया ॥६१॥

धर्मे नृपाणामनुलक्ष्य भाषणं श्रोतुं यते राज्यपदाधिकारिणः ।
निमन्त्रिता मन्त्रिवरा अपि स्वयं समागमन्संसदि नीतिकोविदाः ॥६२॥

यतीन्द्र का 'राजधर्म' पर भाषण सुनने के लिये राज्य पदाधिकारि राजपुरुष, नीतिज्ञ मन्त्रि मण्डल एवं प्रतिष्ठत समुदाय को निमन्त्रण पत्र भेजे गए; अतः वे सभा में उपास्थित हुए ॥ ६२ ॥

राज्ञां गुणान् कर्म च शर्मदं विशां शीलं तथा मन्त्रिगणे मनोरमम् ।
स ब्रह्मचर्यावनपूर्वमर्हतां प्रदर्श्य वर्यो नयपद्धतिं वराम् ॥६३॥

विवाहसीमां शिशुशिक्षणाग्रहं नियम्य सर्वाङ्गसमुन्नतेः कृते ।
शिष्यात्प्रजाः स्वात्मजवत्प्रजापतिः सतामित्थमुपादिशज्जनान् ॥६४॥

वन्दनीय स्वामीश्वर ने इस व्याख्यान में राजा के गुण शील और कर्त्तव्य तथा अमात्य वर्ग की प्रजा के सुख के लिये कैसा सच्चरित्र होना चाहिये आदि बातें बतलाईं। ब्रह्मचर्य पालन पर विशेष बल दिया और कहा कि राजाओं को चाहिये कि राजनियम बना कर लोगों को ब्रह्मचर्य पालन पर बाध्य करें, बाल विवाह को रोकें, बालक बालिकाओं के शिक्षण के लिये राजनियमानुसार मातापिताओं को विवश करें, प्रजा की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए प्रजापति राजा स्वपुत्रवत् प्रजा के ऊपर शासन करें अर्थात् उनको सदाचारी, संयमी और वैदिक धर्मानुयायी बनावें ॥६३–६४॥

अमात्यरत्नं नृपमान्यमाधवः साष्टांगपातं प्रणिपत्य पादयोः ।
मुनेरिति प्राववदेव देव नः श्रेष्ठो भवान् नीतिविधौ कियद्गुणः ॥६५॥

जब व्याख्यान समाप्त हो गया; तब रा. रा. सर टी. माधवराव, अमात्य रत्न ने मुनीन्द्र के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम कर कहा कि 'भगवन्! आप राजनीति में हमसे भी गौ गुने निपुण हैं' ॥६५॥

निमन्त्रितो माधवमन्त्रिणा मुनि र्गेहेऽगमत्तस्य विसर्जनक्षणे ।
सहस्रमुद्रा निदधे यतेः पदे न स्वीचकारोपहृता विनिस्पृहः ॥६६॥

एक दिन सर टी० माधवराव श्री महाराज को निन्त्रित करके अपने घर ले गए। कथा वार्ता करने के पश्चात् जब महाराज बिदा होने लगे तब अमात्य वर्य ने एक थाल में एक सहस्र मुद्रा रख उन्हें भेंट की। निस्पृह सन्यासी ने वह भेंट स्वीकार न की ॥६६॥

श्रीकृष्णरामं निजगाद संस्तुतः कश्चिद्धनाढ्यः श्वशुरोऽत्र चारके ।
ममाभियुक्तो निहितश्चिरादहो न निर्णयस्तस्य विधीयते द्रुतम् ॥६७॥

श्रीमद्गुरो माधवमन्त्रिपुंगवे प्रभाव एवास्ति यतोऽस्य निर्णयम् ।
अमात्यमुक्त्वा यदि कारयेद् गुरु र्भाग्याय दद्यां द्वयर्युतंधनं तदा ॥६८॥

किसी परिचित मनुष्य ने पं. कृष्णराम से कहा कि— "श्री गोविन्दराम देसाई नामक मेरे धनाढ्य श्वशुर चिरकाल से बडौदा के जेल में हैं; उन पर अभियोग चल रहा है, उस का शीघ्र निर्णय नहीं किया जाता। आपके गुरुदेव का राजमन्त्री पर अच्छा प्रभाव है; यदि अमात्य रत्न से कह कर गुरुदेव इसका निर्णय करा कर उनको मुक्त करा दें; तो मैं वेदभाष्य के लिये २०००) रुपये भेंट दूं" ॥६७-६८॥

आवेदितो वेदविदां वरेऽमुना रुष्टो यतिस्तं समुवाच तर्जयन् ।
प्रदर्श्य लोभं द्रविणस्य मां पुन र्न प्रस्तुवीतेदृगये ! ममाग्रतः ॥६९॥
प्रत्यैद् यदाऽन्यायत एष संयतः प्रायस्यदार्यः स तदाऽस्यमोचने ।
अभूत्स मुक्तश्च निरीहताजुषो न्यायप्रियत्वस्य निदर्शनं खलु ! ! ॥७०॥

पं. कृष्णराम ने वेद विद्वद्वर्य से जब यह आवेदन किया; तब यतीश्वर ने रुष्ट होकर उनको धमकाते हुए कहा कि—"पण्डितजी ! फिर कभी मेरे सामने मुझे द्रव्य का लोभ दिखाकर ऐसा प्रस्ताव न करना"। किन्तु महर्षि को जब यह विश्वास हुआ कि वह सज्जन अन्याय से कारागृह में डाला गया है; तब इन्होंने उसके छुडाने में प्रयत्न किया और वह जेल मुक्त हो गया। उससे एक भी पाई न ली। सचमुच ! ! दयानन्द देव न्याय प्रियता और निस्पृहता का निदर्शन थे ॥६९-७०॥

श्रीपाण्डुरङ्गात्मजनिर्मितं यति र्वेदानुवादं प्रसमीक्ष्य तस्य ताम् ।
अनार्यशैलीञ्च बभाण लेखकं वेदार्थ ईदृङ् न महर्षिसम्मतः ॥७१॥

बडौदे में राज्यानुवादक रा. ब शंकर पाडुरंग ने अपना अंग्रेजी वेदानुवाद स्वामीजी को दिखाया। उसका भाव सुनकर तथा अनार्ष शैली देखकर लेखक को महाराज ने कहा कि—'इस प्रकार वेदार्थ करना ऋषि प्रणाली के विरुद्ध है' ॥७१॥

संस्कार विध्याख्यनिबन्धलेखनं समाप्तमत्रैव जगद्गुरोरभूत् ।
लोकोपकाराय न लोककीर्त्तये कल्याण कर्तुः कृतिरेव राजते ॥७२॥

बडौदे में ही जगद्गुरु का 'संस्कार विधि' नामक ग्रन्थ का लेखन समाप्त हो गया। कल्याण कर्ता की कृति लोकोपकार के लिए ही होती है; लोक-कीर्ति के लिये नहीं ॥७२॥

श्रीमोहमय्यां मरुराष्ट्रमानवाः श्रीरामलालं नदियानिवासिनम् ।
ज्योतिर्विदं पण्डितमार्ययोगिना संख्यातुमुत्कं प्रसभं प्रचक्रिरे ॥७३॥

बम्बई के मारवाडियों ने शान्तिपुर-नदिया' के एक ज्योतिषी पण्डित रामलाल को आर्य योगीश्वर के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये बलात् सन्नद्ध किया ॥७३॥

उपासदत्संसदि सत्तमस्तदा स रामलालोऽपि विनेयमण्डलैः ।
बादे प्रवृत्ते प्रतिमार्चनाश्रुतिं श्रुतौ न संदर्शयितुं प्रभु बुधः ॥७४॥

मार्च सन् १८७६ में जब सतवर बम्बई में आए, तब प. रामलाल शिष्य मण्डलों के साथ सभा में आए । शास्त्रार्थ प्रवृत्त हुआ । वह विद्वान् वेद में मूर्तिपूजा का प्रमाण नहीं दिखला सका ॥७४॥

बभञ्ज पौराणिकदम्भपादपं जगर्ज योगी गजराजविक्रमः ।
विद्रावयन् द्राक् शशकल्पशास्त्रिणः शास्त्रार्थभूमौ श्रुतिपद्मिनीं श्रित :॥७५॥

योगिराज ने गजराज सा पराक्रम दिखाकर पौराणिक पाखण्ड वृक्ष को भग्न कर दिया और गर्जनाकर शशक तुल्य शास्त्रियों को शीघ्र चर्चा संग्राम से भगा दिया; और वेद पद्मिनी (वेद सरोवर) मे विश्राम लिया ॥७५॥

संत्रासयन् गात्रबलेन दुर्जनान् संतोषयन्नात्मबलेन सज्जनान् ।
विस्मापयन् बुद्धिबलेन पण्डितानुवास कञ्चित्समयं महामनाः ॥७६॥

महामना दयानन्द ने देहबल से दुर्जनों को भयभीत किया, बुद्धिबल से पण्डितों को विस्मित किया; और आत्मिक बल से सज्जनो को सन्तोष प्रदान करके कुछ काल तक बम्बई में निवास किया ॥७६॥

वेदस्य पावित्र्यमहत्त्वरूपणं प्राध्यापको मोनियरो महामुनेः ।
निशम्य चालप्य सता स संस्कृतं विद्याञ्च शैलीञ्च शशंस वाग्मिनः ॥७७॥

प्रो० मोनियर विलियम्स ने महामुनि के साथ बहुत देर तक संस्कृत में वार्तालाप किया। वाग्मीश्वर की वेद की पवित्रता और महत्ता को निरूपण करने वाली शैली सुनकर तथा इनको विद्या जानकर उन्होंने इनकी अति प्रशंसा की ॥७७॥

यतिमृगपति र्मुम्बापुर्यां कुमार्गकुरंगकान्
विकलहृदयान् निर्मायेन्दोः पुरं प्रतिजग्मिवान् ।
व्यतनुतमतं वेदोक्तं श्रीतुकोजिनृपेश्वरं
प्रमुदितमिह व्याख्यानैस्तं चकार शिवानुगम् ॥७८॥

यतिसिंह बम्बई में कुमार्गी दुर्जनमृगों को व्याकुलित करके वहांसे इन्दौर में आ बिराजे। यहां स्वामीजी ने वेदोक्त मत फैलाया । अनेक व्याख्यानों से महाराज ने इन्दौर-नरेश तुकोजीराव को प्रमुदित करके कल्याण मार्गानुगामी बना दिया ॥७८॥

इन्दौरेन्द्रेण दत्तं वसनमणिधनं क्रेतुमङ्गीकृतञ्च
पञ्चाशद्वेदभाष्यप्रतिलिपिनिचयं श्रद्धयाऽस्मै तदानीम् ।
सिद्धान्तं राजनीतेरयमपि जनपायाङ्कितं सम्प्रदाय
प्रायाद् वाराणसीं सप्रणयन निपुणो वेदभाष्यस्य तस्मात् ॥७९॥

इन्दु-पुरेन्द्र ने गुरुदेव को बहु मूल्य वस्त्र और धन दिया । तथा वेद भाष्य की ५० प्रतियां क्रय करने का आदर पूर्वक इन्हें वचन दिया । महर्षि ने नरेश को राजनीति के कुछ सिद्धान्त हिन्दी में प्रकाशित करके दिए । फिर वहां से वेद भाष्यकार दयानन्द काशी को प्रयाण कर गए ॥७९॥

श्रीभीमसेनविबुधं श्रुतिभाष्यकार्ये
योक्तुं समाह्वयदिह व्रतिराट् स्वपार्श्वे ।
संगृह्य पुस्तकगणं वरवेदभाष्यं
सत्यार्थमारभत वेदचणः प्रणेतुम् ॥८०॥

काशी में व्रतिराज ने वेद भाष्य कार्य के लिए पण्डित-प्रवर भीमसेनजी को अपने पास बुला लिया और वेदार्थ प्रवीण ऋषि ने ग्रन्थ समूह जुटा कर सत्यार्थ प्रकाशक, उत्तम वेद भाष्य (ज्येष्ठ सु० ४ संवत् १९३३ ता. २७ मई १८७६) निर्माण करना प्रारम्भ किया ॥ ८० ॥

विनेयवर्यो बुधहेमचन्द्रः काशीं समायान् नयपालगामी ।
आचार्यभानोः सुमतिप्रकाशं ग्रहीतुकामो जनमंगलाय ॥८१॥

शिष्यवर्य प. हेमचन्द्र चक्रवर्ती नेपाल जाते हुए काशी मे आए और उन्होंने आचार्य सूर्य से जननन्दनकारी सुमति प्रकाश ग्रहण किया ॥८१॥

व्यासर्षिभाष्यं शुभयोगदर्शने पातञ्जलं भाष्यवरञ्च सद्गुरुः ।
ददौ सुशिष्याय तदा सदात्मने मूर्त्तं नु मोदं स गुरोरमंस्त तत् ॥८२॥

सद्गुरु ने सदात्मा सुशिष्य को योगदर्शन पर व्यास ऋषि का भाष्य एवं पातञ्जल महा भाष्य प्रदान किए; उन्होंने इस दान को गुरु का मूर्तिमान् आनन्द माना ॥८२॥

संयुक्तप्रान्तीयपुरेषु संभ्रमन् वेदोक्तविद्या निगदञ्जनेषु सन् ।
ऋगादिभाष्योत्तमभूमिकां लिखन् मुकुन्दसिंहाश्रितपत्तनं ययौ ॥८३॥

महापुरुष वहां से जौनपुर, अयोध्या, लखनऊ, मुरादाबाद, बरेली आदि नगरों में जनता को वेद विद्या का उपदेश करते हुए "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" लिखते हुए मुकुन्दसिंह के निवास स्थान छलेसर को जा पहुँचे ॥८३॥

अध्यापकानां श्रुतिमार्गयायिनां दौर्लभ्यतः शिक्षणशीलदूषिताः ।
ताः पाठशाला लयमापिताः स्वयं महर्षिणा वीक्ष्य सुवञ्चनाश्रिताः ॥८४॥

सर्वत्र वेदमार्ग गामी अध्यापकों की दुर्लभता के कारण शिक्षण एवं शील से दूषित, ठगनेवाली पाठशालाओं को देखकर महर्षि ने स्वयं-ही तोड डाली ॥८४॥

साम्राज्यैश्वर्यशक्तिप्रकटनमिषतो भारतांग्लाधिराज्ञ्या-
आदेशेनेह दिल्ल्यां नरपतिपरिषद् योजिता शासकैः सा ।
राजेन्द्रा भारतीयानिजनिजशिविरेष्वासिता भूषितेषु
ब्रह्मात्मा तत्रगन्तुं कृतमतिरभवद् धर्मसंतानकामः ॥८५॥

अंग्रेजों ने दिल्ली में महाराणी विक्टोरिया के आदेश से साम्राज्य के ऐश्वर्य एवं शक्ति को दिखलाने के बहाने से राजदरबार भराने का आयोजन किया था; वहां भारत के राजे महाराजे अप अपने शिविर (कैम्प) डाल कर विराज रहे थे । ब्रह्मज्ञानी महात्मा धर्म प्रचार की इच्छा से वहां जाने के लिये कटिबद्ध हो गए ॥८५॥

॥ इति द्वाविंशतिः सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सच्चित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्मार्के महाकाव्ये महर्षेर्वाङ्महिम्ना मोहमयीप्रान्तदिग्विजयपूर्वं वेदभाष्यारम्भो नामद्वाविंशतिः सर्गः ।

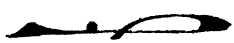

॥ त्रयोविंशः सर्गः ॥

[स्वागतवृत्तम् ।]

अर्थिसार्थहितकल्पसुवल्ली यत्पुरोऽमरपुरी लघुपल्ली ।
यां श्रिता सुकृतिनी वनभिल्ली सा बभावनुपमा भुवि दिल्ली ॥१॥

पृथ्वी पर अनुपम दिल्ली राजधानी विराजती थी । वह याचक गण के लिए कल्प वृक्ष सी इष्ट फल देने वाली थी; जिसके सामने इन्द्रपुरी-अमरावती छोटासा अहीरों का गांव-प्रतीत होता था, जिसका आश्रय कर जंगली स्त्रियां भी भाग्यशाली बन जाती थी ॥१॥

यामुनाङ्कललितोत्तमदुर्गा नामितावनिनरेश्वर वर्गा ।
चारुचित्ररुचिरालयसर्गा भक्तमानवधरार्चितभर्गा ॥२॥

यमुना के किनारे जिसका अति सुन्दर उत्तम किला सुहाता था; वसुन्धरा के राजे, महाराजे जिसके चरणों में सिर झुकाते थे; जिसमें मनोहर, अद्भुत, रुचिर भवनों की सृष्टि थी; जहां श्रेष्ठ मानव भक्ति से शंकर की उपासना करते थे ॥२॥

आर्यभूपतिविभुक्तविमुक्ता यावनावनिपसक्तविरक्ता ।
इन्द्रप्रस्थशुभनामवियुक्ता हस्तिनापुरपदावलियुक्ता ॥३॥

जिसको आर्य सम्राटों ने अनेक बार भोग कर त्याग दिया था; यवन बादशाह भी जिसमें आसक्त और विरक्त हुए थे; जो इन्द्रप्रस्थ के शुभ नाम से वियुक्त हो गई थी और हस्तिनापुर पदावली से युक्त हुई थी ॥३॥

श्रीरिवाखिलनरोत्तमभोग्या गौरिव क्षितिपपालनयोग्या ।
धीर्यथा सुखकरी कविकाम्या स्त्रीव निजपतिमानसरम्या ॥४॥

लक्ष्मी के समान अनेक पृथ्वीश्वरों से जो उपभोग की भाजन थी; धेनु की तरह जो गोपालकों के पालन के योग्य थी; कल्याण कारिणी सुमतिकी तरह जो कवियों की कामना की पात्र थी और जो स्त्री तुल्य स्व-पति के हृदय को हरने वाली थी ॥४॥

आंग्लभौमनृपतीश्वरपाल्यां लम्बितालयसुतोरणमाल्याम् ।
राजराजमहिषीमहमान्यां तां जगाम स यमी सुवदान्याम् ॥५॥

ता. १ जनवरी १८७७ को आंग्ल सम्राटों से पालित, तोरण पुष्पमाला आदि से अलङ्कृत, मन्दिरों वाली, राजराजेश्वरी विक्टोरिया के राज्याभिषेक महोत्सव से गौरवान्वित, अतिदानशील उस राजधानी में सन्यासि सम्राट् आ बिराजे ॥५॥

भूभुजां शिविरसन्निधिभूम्यां दाडिमोपवनवेश्मनिवासम् ।
निश्चिकाय विबुधैस्सममार्यो भक्तबाहुजकृतांशुकगेहे ॥६॥

ठाकुर मुकुंदसिंह, गोपालसिंह, भूपालसिंह आदि महोदयों ने नरेन्द्रों के शिविरों के समीप प्रदेश में शेरमल के अनारबाग में महर्षि दयानन्द के लिये पटमण्डप बना दिए; जिसमें विद्वानों के साथ महाराज रहे ॥६॥

आत्मनामफलकं यमिनाऽस्य द्वारि लम्बितमभूद् बहुरम्यम् ।
स्वागतं भगवतोऽङ्ग ! नमस्ते । तत्रचित्रलिपिरेवमलेखि ॥७॥

तबूं के द्वार पर यतिराज ने अति सुन्दर अपने नाम का फलक (बोर्ड) लटका दिया था और 'आपका स्वागत है' तथा 'नमस्ते' की चित्र पट्टिकाएँ लिखकर लगा दी थी ॥७॥

सर्वतोऽपिविहितो निजघोषो निर्णयाय सदसद्वृषनीतेः ।
पण्डिता यतिमयुः शुभचर्चां कर्तुमत्र सततं ह्युपविशाः ॥८॥

भगवान् ने सर्वत्र विज्ञापन वितरण कर दिया दिया कि 'सत्य धर्म एवं नीति तथा असत्य मतों पर यहां विचार किया जायगा'। अतः निरन्तर दस बीस पण्डितगण धर्म चर्चा करने केलिये यतीश्वर के पास आते ॥८॥

एकदा समुदितं नृपवृन्दं भाषणं नु शृणुयान्मम धर्मे ।
इत्थमिन्दुपुरराजतुकोजिः सूचितोऽत्र स सतेत्यनुमेने ॥९॥

सन्तरत्न ने इन्दौर के महाराजा तुकोजीराव को सूचित किया था कि—'दिल्ली दरबार में आप एक बार राजमण्डल को मेरा धर्म विषयक भाषण सुनने के लिए एकत्रित कीजिये: इस बातको महाराजाने स्वीकार कर लिया था ॥९॥

युग्मम् —

अग्रणीपरिषदि प्रतिभार्कः संगतान् बुधसुधारकचन्द्रान् ।
ऐकमत्यविषये विभुविद्यां संदिदेश सुखदामिव कान्तिम् ॥१०॥

दयानन्ददिग्विजयम् – चित्र सं. ६-७:—

— देहली सभाके अवसर पर सुधारकोंकी सभा —

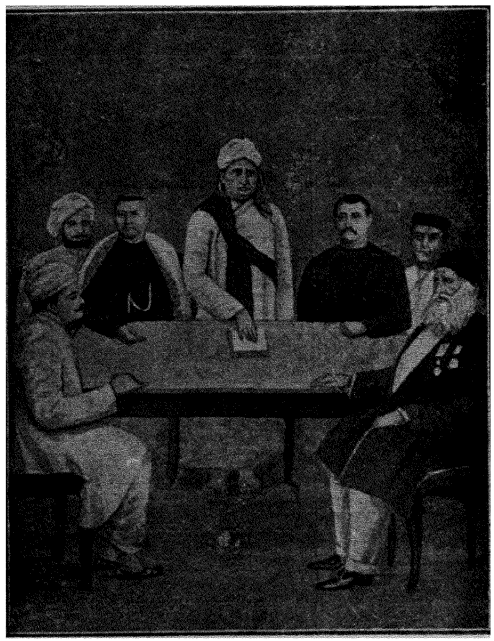

अग्रणी परिषदि प्रतिभार्कः
संगतान् बुधसुधारक चन्द्रान्। सर्ग २३-१०, ११।

— महर्षि दयानन्द के ब्रह्मचर्य के बल का एक प्रमाण —

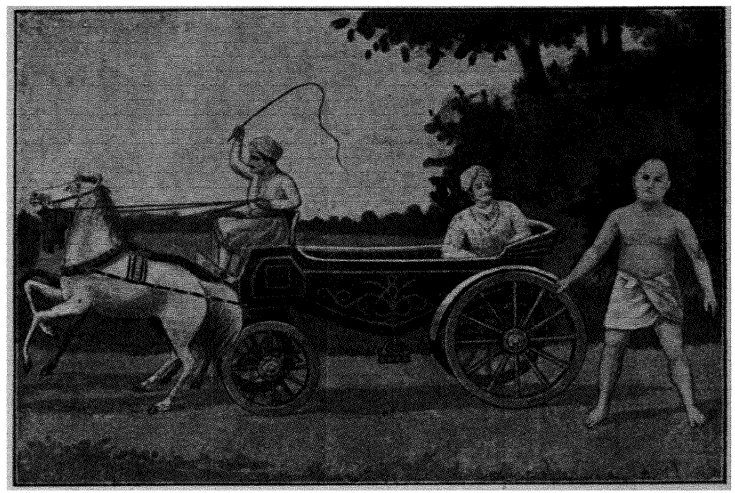

कशाहतो सारथिना तुरंगो मनाङ् न शक्तो चलितुं पदं तु।
यदा तदा पृष्ठत ईक्षितोऽयं ताभ्यां व्रतान्द्रो धृतचक्रपाणिः। २४-१६,१७।

मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी, बाबू नवीनचन्द्र राय, बा. केशवचन्द्रसेन, मुन्शी इन्द्रमणि, सर सैय्यद अहमदखां बा. हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि सुधारक गण की परिषद् में प्रतिभा के सूर्य दयानन्द सरस्वती ने इन सुधारक चन्द्रों को एकता सम्पादनार्थ सुखदायिनी वेद विद्या की प्रभा प्रदान की ॥१०॥

भारतोन्नतिविधायकनीती र्वेदधर्मविहितार्यसुरीतीः ।
ब्रह्मचर्यविधियुक्तसुशिक्षां वर्णयञ्जनहितैषिसुवर्णी ॥११॥

लोकहितैषी, आदित्य ब्रह्मचारी ने इन महानुभावों को भारतोन्नति विधायक नीतियों का, वेद विहित-सुसंस्कृत-आर्य रीतियों का तथा ब्रह्मचर्य पूर्वक प्राचीन शिक्षण प्रणाली का तत्त्व समझाया थी ॥११॥

मौलिकेषु विषयेषु तु तेषां भेदभावनजुषां बुधवर्णाम् ।
ऐक्यसूत्रमतिमौक्तिकहारः संभवार्हपदतां न बभार ॥१२॥

उन विद्वान् सुधारकों का मौलिक विषयों में ही भेद भाव था; अतः ऐक्य मतिरूपी मोतियों की माला गूथना महर्षि के लिये असंभव हो गया ॥१२॥

भूदिवो नृपमणी रणवीरो मन्त्रिभिर्यमिनमार्थयतोत्कः ।
द्रष्टुमत्र परमस्य नयज्ञै र्वारितो यतिमहीपतिसंगात् ॥१३॥

भूलोक में स्वर्ग तुल्य काश्मीर नगरी के महाराजा रणवीर सिंह ने मन्त्रियों द्वारा स्वामीजी से मिलने की उत्सुकता प्रकट की थी किन्तु प. गणेशशास्त्री जज और मन्त्री नीलाम्बर बाबू आदि नीति विशारदों ने महाराजा को यतिराज से मिलने का निषेध कर दिया ॥१३॥

देहलीपरिषदागमनं तन् निष्फलं समजनि व्रतिभानोः ।
पाञ्चनीरजनिविक्रमसिंहप्रार्थितोऽस्यविषयाय स मेने ॥१४॥

व्रतिसूर्य का देहली दरबार में आना निष्फल हुआ; अतः पञ्जाब के सरदार विक्रमसिंह की प्रार्थना से महाराज ने पञ्जाब जाना स्वीकार कर लिया ॥१४॥

भीमसेनसहितस्त्र हितार्थी मेरठं तत इयाय महर्षिः ।
वाद एतमभिमत्तबुधं स पर्यभूत् स्मितमयैरनुयोगैः ॥१५॥

ता. १६-१-१८७७ को महर्षि पं. भीमसेन के साथ दिल्ली से मेरठ गये । जन हितार्थी ने वहां वाद के लिये आए हुए 'निद्धी' नामक अभिमानी पण्डित को स्मित पूर्वक केवल आगमन प्रयोजन प्रश्न द्वारा ही त्रस्त बना दिया । उस पण्डित की घिग्घी बँध गई ॥१५॥

प्राप्य तानथ सहारनपौरान् पण्डितान् परिषदि प्रतिवादे ।
तर्कमन्त्रबलतः परिभूय व्याख्यदार्य इह वैदिकतत्त्वम् ॥१६॥

आर्य क्षेत्र मेरठ से सहारनपुर गए । वहां शास्त्रार्थ में प. बलदेव व्यास और साधु दीवानदास को तर्क और प्रमाण से महाराज ने परास्त किया । वहां इनका वैदिक तत्त्वों पर व्याख्यान हुआ ॥१६॥

चित्रगुप्तनिलये यमिराजो भाषणानि रुचिराणि बभूवुः ।
चित्रचित्रितजना इव तत्र नीरवत्वमदधु र्मधुमुग्धाः ॥१७॥

संयमीश्वर के सहारनपुर में चित्र गुप्त के मन्दिर में "आर्य कौन है और कहां है?" 'सत्य' तथा 'सृष्ट्युत्पत्ति' इन तीन विषयों पर रुचिकर व्याख्यान हुए । उनके कथन में इतना प्रभाव था कि लोग चित्रित चित्र के तुल्य नीरवता को धारण कर मुग्ध हो जाते ॥१७॥

धन्यवाद उदगात् प्रतिवक्त्राद् वाग्मितामतिसुविस्मितचित्तात् ।
मन्दिरार्चकमनो विकलं तन् मन्दिरायहननात् प्रतिघस्रम् ॥१८॥

महर्षि की वाक्चातुरी एवं बुद्धि से श्रोतागण विस्मित हो जाते और उनके मुख से आप ही आप धन्य २ शब्द निकलने लगते थे; किन्तु मन्दिर के पूजारियों के मन प्रतिदिन मन्दिरों की आय के नाश से व्याकुल हो रहे थे ॥१८॥

ब्रह्मवादमहमेलनमासीच् चन्द्रपुर्यमितलोक इहागात् ।
सत्कबीरमतवादिमनुष्यै र्योजितं प्रवरधर्मपरीक्षम् ॥१९॥

ता. १८-२० मार्च १८७७ को चान्दापुर में 'ब्रह्ममेला' होनेवाला था । कबीरपंथी मनुष्यों ने श्रेष्ठ धर्म की परीक्षा करने के लिये इसका आयोजन किया था । असंख्य लोग यहां आए थे ॥१९॥

सोदरौ सुधनिनौ वरधर्मप्रेक्षणाय मतवादिबुधानाम् ।
मेलनं शशिपुरेऽकुरुतां तावाह्वतां यतिपतिं श्रुतकीर्त्तिम् ॥२०॥

मुं. प्यारेलाल और मुक्ताप्रसाद कायस्थ ये दोनों सहोदर थे । दोनों धनाढ्य थे और कबीरपंथी थे; उन्होंने संसार में सब से श्रेष्ठ धर्म की समीक्षा के लिए मतमतान्तरों के विद्वानों को चान्दापुर में एकत्रित किया था । उन्हीं महोदयोंने विख्यात कीर्ति यतीश्वर को आमन्त्रण दिया ॥२०॥

ईशवीययवनार्यबुधेन्द्रा धार्मिका नरवरा अपि तत्र ।
उत्सवे समुपगम्य विरेजु र्नैजरम्यपटगेहनिविष्टाः ॥२१॥

ईसाई, मुसलमान, और आर्यमत के धार्मिक धुरन्धर विद्वान् पुरुष उस उत्सव मे आकर अपने २ सुन्दर तंबुओं में विराजे । महर्षि दयानन्द भी वहां पहुँचे ॥२१॥

इन्द्रमण्यनुगतो यतिदेवो मण्डपे परिपदो नियसाद ।
वेत्रपीठ इतरेऽपि निजार्हे विस्तयावनबुधाश्च निषेदुः ॥२२॥

नियत समय पर यतिदेव श्री मुन्शी इन्द्रमणि के साथ उनके परिछन्नमण्डप में वेत्रासन पर आ विराजे और पादरी मौलवी एवं कबीर पंथी आदि उपदेशक महोदय अपने अपने योग्य आसन पर बैठ गए ॥२२॥

प्रेक्षकैरगणितैः समपूरि प्राज्यमण्डपवरोऽपि तदानीम् ।
स्वीयधर्मविजयेच्छुकचित्तै र्धर्मनिर्णयकृते तु विहस्तैः ॥२३॥

अगणित दर्शकों से उस समय अति विशाल मण्डप भी भर गया था । सब जन अपने अपने धर्म विजय के लिए उत्कंठित एवं व्याकुल होकर धर्म निर्णय के लिये राह देख रहे थे ॥२३॥

प्रश्नपञ्चकमथाञ्चितमुक्ताश्रीप्रसाद इति वर्णितमग्रे ।
संनिधाय निजधर्मगुरूणामुत्तरं समुचितं स ययाचे ॥२४॥

श्रीयुत मुक्ताप्रसादजी ने निम्न लिखित पांच प्रश्न सब धर्मोपदेशकों के आगे रख कर उनका उचित उत्तर मांगा ॥२४॥

(१) केन वस्तुनिवहेन कदायं निर्ममे जगदिदं जगदिन्द्रः ।
(२) किंप्रयोजनवती ननु सृष्टि र्व्यापकोऽस्ति परितोऽत्र न वेशः ॥२५॥
(३) न्यायकृत्प्रभुरयञ्च दयालुः कीदृशः श्रुतिर्किंगानकुरानम् ।
(४) (५) ईशवाक्यमिति केह नु युक्तिः ? का च मुक्तिरिति केन च लभ्या ॥२६॥

प्रश्न (१) परमेश्वर ने जगत् किस वस्तु से, किस समय और किस उद्देश्य से रचा ? (२) ईश्वर सर्व व्यापक है वा नहीं ? (३) ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है ? (४) वेद बायबल और कुरान के ईश्वरके वाक्य होने में क्या प्रमाण है ? (५) मुक्ति क्या पदार्थ है और वह किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ? ॥२५-२६॥

स्काट पञ्चमवदस्य तु पूर्वं प्रश्न आद्य इह यद्यपि मोघः ।
उत्तरं तदपि दीयत ईशो नास्तितो व्यरचयत्खलु सृष्टिम् ॥२७॥

सब मे पहले पादरी स्कॉट महोदय इस प्रकार बोले—"इन पांच प्रश्नो में यद्यपि पहला प्रश्न व्यर्थ है तो भी उसका उत्तर दिया जाता है । ईश्वर ने अभाव में से ही ससार को रचा है" ॥२७॥

वेद्मि विश्वरचनस्य न कालं लोकसौख्यफलदाऽखिलसृष्टिः ।
मौलवीबुध इहेत्थमवादीन् नैजरूपत इमामकृतेशः ॥२८॥

हम ठीक २ नहीं जानते कि ईश्वर ने यह सारी सृष्टि कब बनाई है । हाँ ! ! हम इतना कह सकते हैं कि लोगों के सुख के लिये यह रची गई है" । फिर पहले प्रश्न पर ही मौलवी महाशय ने कहा कि ईश्वर ने सृष्टि को अपने स्वरूप मे बनाया है" ॥२८॥

निर्मिता ननु कदेति निरर्थः प्रश्न एष मनुजैरशनीया ।
रोटिका तु न पुनः परिपक्वा सा कदेति रसिकैरनुयोज्यम् ॥२९॥

सर्ववस्तु रचितं मनुजार्थं स्वस्तवाय विभुना भुवि सृष्टाः ।
मानवा निखिलशक्तिमताऽमी स्तव्य एष सततं जनसंघैः ॥३०॥

"कब बनाया यह प्रश्न व्यर्थ है । मनुष्य को रोटी खाने मे प्रयोजन है । यह कब पकी थी ऐसा प्रश्न पूछने की जरूरत खाने वालों को नहीं होती । सारी वस्तुएं ईश्वर ने मनुष्य के लिये रची हैं । उसी सर्व शक्तिमान् ईश्वर ने ससार में सब मनुष्यों को अपनी स्तुति करने के लिये निर्माण किया है; अत. जन समुदाय को निरन्तर उसकी स्तुति करनी चाहिये" ॥२९-३०॥

ईशवीयसवनीयबुधास्ते नैजनैजकथने कटुवाक्यम् ।
ऊचिरे मिथइति व्रतिचन्द्रस्तानुवाच मधुरामृतवर्षी ॥३१॥

ईसाई और मुसलमान उपदेशक अपने २ कथन में एक दूसरे पर कटु वाक्य का प्रयोग करते थे; अतः ब्रह्मचारी चन्द्र ने मधुरामृत बरसाते हुए उनसे कहा कि— ॥३१॥

ब्रह्मणाशुभयेलनमेतद् योजितं सदसतोरुपलब्ध्यै ।
सत्यमेव जयतीति सुबोध्यं त्यज्यतामिह परस्परनिन्दा ॥३२॥

" यह ब्रह्मचर्चा का शुभ मेला सत्यासत्य के विवेक के लिये रखा गया है; यह आप सच जानिये कि सत्य की ही जय होती है, इस लिये इस चर्चा में परस्पर की निन्दा त्याग देनी चाहिये " ॥३२॥

वैरभावमपहाय बुधैस्तु निर्णयाय सदसत्सुकृतस्य ।
मण्डनं शुभकृतस्य विधेयं खण्डनं तदितरस्य च योग्यम् । ॥३३॥

" विद्वानों को उचित है कि वैरभाव छोड़कर सत्यधर्म के निर्णय के लिये शुभकारक सत्य का मण्डन करें और पापकारक असत्य का खण्डन करें " ॥३३॥

दातुमुत्तरमथारभतैवं मूलकारणजडप्रकृतेस्तु ।
व्यक्तरूपजगदेतदकारि ब्रह्मणाऽणुतमनित्यतमायाः ॥३४॥

पश्चात् इस प्रकार महाराज ने उत्तर देना प्रारम्भ किया कि—" परमेश्वर ब्रह्माने इस जगत् को परमाणुरूप, नित्य, अनादि अनन्त, अव्यक्तरूप मूल कारण जड प्रकृति से व्यक्तरूप में बनाया है " ॥३४॥

नोदियादसत एष हि भावः कारणानुगुणमेव तु कार्यम् ।
सत्तया विरहितं यदि मूलं मन्यतां तदिव कार्यमपीदम् ॥३५॥

"निश्चय !! अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि कारण गुण पूर्वक ही कार्य होता है । यदि कारण की सत्ता न मानेंगे तो उसकी तरह इस कार्य जगत् का अभाव मानना पड़ेगा " ॥३५॥

मृत्तिकारघटवज्जगदित्थं जाड्यरूपप्रकृतेरनुवादि ।
नैजरूपत इदं यदि शम्भो ब्रह्मरूपमखिलं तु तदा स्यात् ॥३६॥

" जैसे मिट्टी का विकार घट है; वैसे ही जड प्रकृति का यह कार्य जगत् विकार है; अतः जगत् जड है । यदि यह माना जाय कि ईश्वर ने सृष्टि को अपने स्वरूप से रचा है तो जगत् भी ईश्वररूप ही सिद्ध हो गया " ॥३६॥

विश्वविश्वसृजकैकसदृक्त्वात् चौरजारभषकादि भवेत्सः ।
भिन्नमस्ति न मृदो घटादि तिष्ठतान्न पृथगेतदरूपात् ॥३७॥

" जैसे घडा मिट्टी से पृथक् नहीं हो सकता; वैसे ही जगत् अरूप ईश्वर से भिन्न नहीं रहेगा । विश्व और विश्वकर्ता एक समान बन जाने से ईश्वर ही चोर, जार, कुत्ता एवं घट पटादि बन जायगा " ॥३७॥

सृष्टिमूलप्रकृतिं न परेशान् मन्वते पृथगमूं मनुजा ये ।
तन्मतं निगममानविहीनं युक्तिशून्यमपि मान्यमवश्यम् ॥३८॥

"जो मनुष्य सृष्टि के मूल कारण प्रकृति को परमेश्वर से पृथक् नहीं मानते उनका मत वेद-प्रमाण विहीन एवं युक्ति शून्य भी अवश्य माना जायगा" ॥३८॥

सर्गसर्गसमयोऽपि न चान्यैरीश्यते निगदितुं मतविज्ञैः ।
तन्मतेषु चलितेषु यदेषु ह्यायनानि दश चाष्टशतानि ॥३९॥

"बाईबिल और कुरान को मानने वाले पादरी तथा मौलवी सृष्टियुत्पत्ति का समय नहीं बतला सकते; क्योंकि उनके मतों को प्रचलित हुए १८०० एवं १३०० वर्ष ही हुए हैं" ॥३९॥

आर्यधर्मशरणागतधीरा दातुमुत्तरममुष्य हि वीराः ।
आदितस्सजगतो वरधर्मः संप्रवृत्त इह नः शुभशर्मा ॥४०॥

"इस का उत्तर सत्य सनातन वैदिक धर्म के शरण आए हुए धीर वीर जन ही दे सकते हैं; क्योंकि संसार में कल्याण कारी आर्य धर्म सृष्टि के आदि से ही प्रवृत्त हुआ है" ॥४०॥

पुण्यकर्मणि सदा द्विजवर्या आजगत्प्रभवमेष्टदिनान्तम् ।
वर्षमासदिनसंकलनांस्ते युञ्जते मखविधानजपादौ ॥४१॥

"ब्राह्मण पुंगव सदा यज्ञ कार्य, संस्कार एवं जप आदि पुण्य कार्य प्रारम्भ करते समय जगत्सृष्टि से लेकर इष्ट दिन तक वर्ष, मास तथा दिन की गणना कर संकल्प पढ़ते हैं" ॥४१॥

सर्गारम्भ — १९६०८५२९७६ —

अर्बुदद्वयमितस्समयोऽगादद्य सृष्टिरचनात्खलु वित्त ।
मूलकारणमनादि सजीवं धार्य्या जगदिदञ्च तथैव ॥४२॥

आज सृष्टि को बने हुए १९६०८५२९७६ वर्ष हुए । यह आप जानिये । जीव सहित मूल कारण प्रकृति अनादि है और यह जगत् प्रवाह रूप से उसी प्रकार अनादि है ॥४२॥

शिष्टकर्मफलभोगकृते तु प्राणिनां रचयतीश्वर एताम् ।
न्यायकृत्प्रलयतोऽथ स सृष्टिं सर्गशक्तिरमरस्यनिसर्गात् ॥४३॥

"प्राणियों के अवशिष्ट कर्म फलों के भोग के लिये न्यायकारी ईश्वर प्रलय के अनन्तर सृष्टि को रचता है; जगत् रचने की शक्ति अमर प्रभु में स्वाभाविक है" ॥४३॥

पूरुषो हि चतुरः स्वपुमर्थान् साध्नुयादिति सुखार्जनमंजून् ।
सृष्टिकृद् व्यतनुतात्मबलेन जीवमूलपरमाणुसुयोगाम् ॥४४॥

"चतुर पुरुष और स्त्री सुखसिद्धि से मनोहर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध कर सकें; इस लिये सृष्टिकर्त्ता ने आत्म शक्ति से अर्थात् सकल्प बल से प्रकृति तथा जीव के बुद्धिपूर्वक सम्मेलन द्वारा यह सृष्टि रची है" ॥४४॥

इत्युदीर्य विरतस्सुमतीन्द्रो भिन्न पक्षिविहितात्पकशंकाः ।
मोदकैस्सुवचनैस्समनिरस्य सभ्यवर्गमकरोच्चकितं तु ॥४५॥

इस प्रकार सुमतीन्द्र महर्षि कथन कर बैठ गए । भिन्न मत वादियों ने उस कथन पर जो २ शकाएँ की उस २ का मनोरञ्जक सुवचनों से समाधान करके महाराज ने सभ्य जनता को चकित कर दिया ॥४५॥

आर्यदर्शकमनांसि मुदब्धौ वेदधर्मविजयेन ममज्जुः ।
अन्यवादिहृदयानि तदानीं शोकसिन्धुसलिले च गभीरे ॥४६॥

आर्य दर्शकों के मन वेद धर्म के विजय से आनन्द सागर में उस समय मग्न हुए और इतर मत वादियों के हृदय गंभीर शोक समुद्र में डूब गए ॥४६॥

वादसंसदि तदाऽवसितायां भोजनार्थमगमन्निजगेहान् ।
दिव्यदेहवरदर्शनमुग्धा अस्य शीलगुणगानरतास्ते ॥४७॥

दो पहर को बाद सभा समाप्त होने पर सब लोग अपने २ तंबुओं में चले गये । स्वामीजी के दिव्य देह के दर्शन से प्रेक्षक गण मुग्ध हो गए; और इनके शील एवं गुणों की भूरि भूरि प्रशसा करने लगे ॥४७॥

सा सभाऽथ शुशुभेऽप्यपराह्णे स्तोक एव समयोऽस्त्यत एभिः ।
मुक्तिवादमवलम्ब्य विचारः सर्वसम्मतिवशान्निरचायि ॥४८॥

दो पहर के पश्चात् सभा फिर जुटी । पहले तो सब ने सर्व सम्मति से यह निश्चय किया कि समय थोडा है; अतः मुक्ति वाद का अवलम्बन कर के विचार होना चाहिए ॥४८॥

भाषणात्प्रथममात्मसुपक्षो निर्बलोऽजनि ततो भ्रमतोऽलम्
नोद्यतो विमतवाक्पटुविद्वानित्यर्थं यतिरुपास्थित वक्तुम् ॥४९॥

पादरियों और मौलवियों में से कोई भी वक्ता पहले बोलने को उद्यत न हुआ; उनको यह भ्रम हो गया था कि सबेरे हमारा पक्ष इसी लिये निर्बल सिद्ध हुआ कि हम पहले बोले थे। इस लिये यतीन्द्र बोलने को उठे ॥४९॥

जन्ममृत्युविपदांगुरुचक्राज्जीव एष परिमुच्य सुखाब्धौ ।
चिन्मये विभुवरं समवाप्य मज्जतीति गदिता ननु मुक्तिः ॥५०॥

स्वामीजी ने कहा—"यह जीवात्मा जन्म मरण की विपत्ति के महान् चक्र में से छूट कर प्रभुवर को प्राप्त करके आनन्द सागर, ज्ञान स्वरूप परमात्मा में जिससे लीन हो जाता है उसको ही निश्चय से मुक्ति कहते हैं ॥५०॥

अन्तरात्मविभुसाक्षिकमात्मसत्यवर्त्तनमिहाग्रिममस्याः ।
साधनं भयकुशंकनलज्जानाशकं प्रमददं शिवमुक्तेः ॥५१॥

"मुक्ति का पहला साधन सत्याचरण है। सर्वान्तर्यामी ईश्वर को साक्षी रख कर मुमुक्षु जन जिस कार्य में भय, शंका और लज्जा प्रतीत हो ऐसा कर्म न कर के आनन्द, उत्साह और निर्भयता को देने वाला, कल्याण कारी पुण्याचरण करें" ॥५१॥

वेदवेदनमृतावनदार्ढ्यं ज्ञानिसंगतिरसत्यपथात्स्वम् ।
संनिवार्य मनसेन्द्रियवारैः स्थापयेदतमये शुभयोगे ॥५२॥

"दूसरा साधन—वेद विद्या ठीक रीति से लाभ करना और सत्य का पालन करना है। तीसरा—सत्पुरुषों और ज्ञानी जनों का सत्संग करना। चौथा—योगाभ्यास द्वारा अपनी इन्द्रियों और आत्मा को असत्य मार्ग से रोक कर सत्य में स्थापन करना" ॥५२॥

ज्ञानदीपनमजेश्वरवार्त्ताकर्णनं स्तुतिरनन्तगुणानाम् ।
तत्कृपामयययशोगुणगानं प्रार्थना च जगदीशपितुर्यत् ॥५३॥

"पांचवां—ज्ञान को उद्दीपन करने वाली अजन्मा ईश्वर की कथा सुनना; उसके अनन्त गुणों का वर्णन करना और जगदीश्वर परम पिता की कृपापूर्ण कीर्ति का भजन करना। और छटा साधन प्रार्थना है" ॥५३॥

अज्ञतान्धतमसाद् गुरुभानो ! ज्ञानभासि नय मां भवचक्रात् ।
मोचय द्रुतमितोऽयि दयालो ! स्वाङ्कसौख्यमनुभावय शंभो ! ॥'५४॥

"प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिए—'हे दयालु ! आदित्य सम तेजस्वी गुरुदेव ! शान्ति स्वरूप भगवन ! मुझे अज्ञानान्धकार से पृथक् करके ज्ञान प्रकाश में ले जाइये, जन्म मरणरूप संसार चक्र से मुक्त कर शीघ्र अपनी परमानन्द दायिनी गोद में बिठाकर आनन्द प्रदान कीजिये" ॥'५४॥

साधनै र्निगदितै र्यदिभक्तः स्वार्पणै र्यजति तं यजनीयम् ।
मातृवत् प्रियशिशुं परमात्मा भक्तमुद्धरति संकटमग्नम् ॥'५५॥

'उपर्युक्त साधनों से यदि भक्त जन उस पूजनीय परमदेव की सर्वस्वार्पण द्वारा पूजा करता है तो वह परमात्मा संकटमग्न प्रिय बालक को माता जैसे उठा लेती है; ठीक उसी प्रकार वह संकट मग्न भक्त को अपने कृपा हस्त से उठा लेता है" ॥'५५॥

दिव्यशक्तिमयहस्तसहस्रैस्मन्ययोगिमनुजं मनुजेशः ।
स्वाङ्कमोदभुजमात्मदयार्द्रैः संविधृत्य कुरुते करुणाब्धिः ॥'५६॥

"करुणासागर परमेश्वर दिव्य शक्ति रूप सहस्र हाथों से सच्चे उपासक योगी जन को अपनी दृष्टि से स्वीकार करके अपने आनन्द स्वरूप का भोक्ता बना देता है" ॥'५६॥

एवमात्मरतिरात्मविदिन्दो युक्तियुक्तभवमुक्तिसुरूपम् ।
संनिरूप्य जनतां तु वितेने मोदसिन्धुनिरतांनिजरक्ताम ॥'५७॥

इस प्रकार आत्मज्ञानी दयानन्द देव ने युक्तियुक्त मुक्ति का स्वरूप निरूपण कर के सारी सभा को आनन्द सिन्धु में निरत कर अपनी अनुरागिणी बना लिया ॥'५७॥

खिस्तयावनमताद्यवलम्बी मुक्तिबिम्बमवलम्ब्य चुचुम्ब ।
यद्यपीह तु बुबुन्द न बिन्दुं बन्ध्यधीरपि कुतः खलु मन्दः ॥'५८॥

ईसाई और यवन मतावलम्बी वक्ताओं ने यद्यपि मुक्ति स्वरूप को लक्ष्य करके कुछ कहा किन्तु विद्वान् जनों ने उस पर जरा भी ध्यान न दिया तो फिर मूढ जन क्या सुनें ? ॥'५८॥

निन्दकं मतिविहीनममन्दं रोचतां कथमहो ! कटुवाक्यम् ।
षड्रसाञ्चितसदन्नसुतृप्तो नीरसं नु रसयेत्कटुभोज्यम् ॥'५९॥

अहो ! ! ! मतिविहीन, परस्पर अति निन्दा सूचक कटु वचन सज्जनों को कैसे रुचें इसी लिये किसी ने सुना नहीं । षड्रस सम्पन्न मिष्टान्न से तृप्त हुआ मनुष्य क्या भला नीरस और कडुवा भोजन चखने की इच्छा करेगा ? ॥५९॥

दीपदीप्तिरिव सूर्यपुरस्था वक्तृकान्तिरिह योगिवराग्रे ।
म्लानिमापनितरामिति सभ्या वाग्मिवर्यमतुलं प्रशशंसुः ॥६०॥

जैसे सूर्य के सामने दीपक की ज्योति मन्द पड जाती है, ठीक वैसे ही योगीश्वर के सम्मुख अन्य वक्ताओं की मुख कान्ति अतिम्लान हो गई; इस लिये सभ्यों ने वागीश्वर की अतिशय प्रशंसा की ॥६०॥

वादिनस्तु हरिणा इव भीता जोषमापुरखिला यति सिंहात् ।
वादकर्म परिहाय बिभाते विद्रुतास्समिनिकाननतस्ते ॥६१॥

मतवादी मनुजरूपी मृग यतिसिंह से डरकर चुप हो गये और प्रभात कालमें ही वे वाद-कर्म छोडकर सभारण्य से भाग गए ॥६१॥

ब्रह्मवादमहयोजकनेता प्रागबुद्ध परिषज्जितमेतम् ।
व्यश्वसीदथ यतीश्वरयोगात् पूर्णयोगिवर इत्ययमद्धा ॥६२॥

ब्रह्मचर्चा महोत्सव के आयोजक नेता श्रीयुत प्यारेलालजी यतीश्वर को प्रथम केवल सभाजित् पण्डित ही समझते थे; किन्तु महाराज की सगति से उन को यह सत्य विश्वास हो गया कि यह पूर्ण योगीश्वर भी हैं ॥६२॥

पञ्चनद्यमृतपावनदेशं वीरसन्ततिविभूषितभूमिम् ।
आर्यरत्नमुनिप्रत्ननिवासं प्रास्थितर्षिरुपदेष्टुमथार्यान् ॥६३॥

अनन्तर महर्षि वीरसन्तति से भूषित, आर्यरत्न ऋषिमुनियों के पुरातन निवास स्थान, पञ्चनदी सलिल-प्रक्षालित, पवित्र प्रान्त पञ्जाब में आर्यों को उपदेशामृत प्रदान करने के लिये चल पडे ॥६३॥

प्रापदेव नगरं लुधियाना नामकं मुनिनृपस्सह शिष्यैः ।
तत्र सप्त शुभभाषणदानैराचकर्ष जनतां विनतांगीम् ॥६४॥

मुनिसम्राट् पण्डितों के साथ लुधियाना नामक नगरमें पहुँचे; वहां सात शुभ व्याख्यान देकर परमहंस ने विनम्र जनता को वश कर लिया ॥६४॥

आंग्लभद्रपुरुषा अपि नम्रा दिव्यबोधमुपलभ्य मुनीन्द्रात् ।
प्राभृते धनमदु निजगेहे स्वागतादरपुरस्सरमस्मै ॥६५॥

मिस्टर कारस्टीफन जज एवं पादरी बेरी साहब आदि अंग्रेज भद्र पुरुष भी मुनीन्द्र का दिव्य बोधामृत पान कर भक्ति नम्र हो परमहंस को अपने बंगले पर ले गए और बड़े आदर से इनका स्वागत कर विदाई के समय इनको उन्होंने कुछ द्रव्य लिफाफे में बंद करके समर्पण किया ॥६५॥

धर्मबीजमधिवप्य पुरस्थ-प्राज्ञचित्तभुवि संयमिगोपः ।
प्रागमल्लवपुरं निजभाष्य-लेखकेन विबुधेन समं सः ॥६६॥

संयमी कृषीश्वर ने नगर निवासी प्राज्ञ जन की मनोभूमि में धर्म का बीज बोकर वेद भाष्य लेखक प. भीमसेनजी सहित लाहौर के लिए प्रस्थान किया ॥६६॥

स्वागताय रथदेशसमेतैः सत्कृतस्स मनफूलप्रधानैः ।
सज्जनै र्हयरथै स्समनायि रत्नचन्द्रविपिनालयमार्यः ॥६७॥

पं. मनफूलजी आदि भद्र जन स्टेशन पर स्वागत के लिये आए । उन्होंने अति सम्मान से शिष्यों एवं सेवक जन सहित महर्षि को अश्व रथों पर बिठा कर दीवान रतनचन्द्र दाढी-वाले के बाग में लेजाकर एक भवन में ठहराया ॥६७॥

ग्रन्थसंग्रह इयान् बहुलोऽभूद् वाहितो यतिन एकरथेन ।
यत्स्स वेदविवृतावुपयुक्तः संग्रहोऽपि यमिनो जनभूत्यै ॥६८॥

सन्यासी का ग्रन्थ संग्रह और सामान इतना अधिक था कि चौपहिया गाडी में लादकर लाया गया । सन्यासी का यह वेद भाष्य निमित्त उपयोगी ग्रन्थ संग्रह भी जन कल्याण के लिये ही था ॥६८॥

स्थापितो यतिपतिस्स निशान्ते मानसे विभुरिवामलभक्तैः ।
शङ्करोऽनुदिनमात्मविभूत्यै ज्ञानदोऽभवदनन्तगुणाढ्यः ॥६९॥

ज्ञानवर्षणमभूत्प्रतिघस्रं धर्ममेघमुनिदेवमुखाभ्रात् ।
स्वातिकालपतितं हृदि शुक्तौ मौक्तिकं तदजनि प्रवराणाम् ॥७०॥

जैसे पवित्र भक्त जन प्रभात में आत्मोन्नति के लिये अनन्त गुण शाली, ज्ञानदाता, शंकर प्रभु को हृदय में प्रतिदिन स्थापित करते हैं; वैसे ही ऋषि भक्तों ने इन समग्रगुण शाली, उपदेशदाता कल्याणकारी यतीश्वर को अपने पवित्र हृदय में प्रतिष्ठित किया । प्रतिदिन मुनिदेव रूपी धर्मवर्षी मेघ के मुखाकाश से ज्ञान वर्षा हुआ करती थी; वह ज्ञान जल सज्जनों के हृदय सीप में स्वाति नक्षत्र के समान योग्य समय में गिर कर मोती बन गया ॥६९-७०॥

पञ्चापवेशजनुषांहृदयेष्वमर्म्म
विद्युन्निभानि वचनानि मुनेः प्रचेरुः
अदृष्टपूर्वपुरुषोत्तमदर्शनेन्दुः
श्रद्धाम्बुधिं प्रमदपूरमयञ्च चक्रे ॥७१॥

पञ्जाबी पुरुषों के हृदयाकाश में मुनीन्द्र के बिजली समान वचन खूब चमकने लगे; प्रथम कभी न देखे हुए महापुरुष के दर्शनरूपी चन्द्रमा ने उनके श्रद्धा सागर को आनन्द के पूर से भर दिया ॥७१॥

पञ्चापशासकवरेण तदीयमन्त्रि-
शिक्षाविभागपतिभि श्च मिमेल योगी ।
सद्वेदभाष्यविषये च सहायतायै
प्रास्तौत्सुपाठविधिमुत्तमशिक्षणीयाम् ॥७२॥

पंजाब के लाट साहब एवं उनके मन्त्री तथा शिक्षाध्यक्ष से योगिराज मिले । अपने उत्तम भाष्य के लिए सरकारी सहायता लाभ का तथा सरकारी कालेजों में उत्तम पाठविधि बनाने का उनके सामने महर्षि ने प्रस्ताव रखा था; एवं पाठविधि बनाकर भी दी थी ॥७२॥

पाठ्यक्रमे निगमभाष्यनिवेशनार्थं
यत्नः कृतोऽपि यतिना फलवान्न जातः ।
स्वार्थप्रवृत्तिनिरतै प्रिंफिथादिविज्ञै-
रालोचकैरिदमनादृतमार्षभाष्यम् ॥७३॥

महाराज ने पाठ्य क्रम में वेद भाष्य रखने के लिये पुष्कल प्रयत्न किया किन्तु वह सफल न हुआ । मि० प्रिंफिथ [प्रिन्सिपल संस्कृत कालेज बनारस] आदि स्वार्थ परायण समालोचकों ने महर्षि के भाष्य का अनादर किया ॥७३॥

स्वार्थान्धकारहृतसत्यमतिप्रकाशाः
सत्यप्रकाशकमिदं यदि मे निनिन्दुः ।
नाश्चर्यमत्र तिमिरैः खलु संगतेभ्यः
किं रोचतां रविरुचिः खलकौशिकेभ्यः ॥७४॥

स्वार्थान्धकार से जिनका सत्यज्ञान प्रकाश अपहरण किया गया है, वे यदि सत्य प्रकाशक ऋषि की निन्दा करें तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं । तिमिर की संगति करने वाले दुर्जन-उल्लुओं को रविप्रभा क्यों रुचे ? ॥७४॥

विरोधिनो ब्राह्मसमाजचालकाः पुराणविज्ञा अपि योगनोऽभवन् ।
सहायताया व्यरमन्न तेऽस्य तं निस्सारयामास निकेतनादपि ॥७५॥

ब्राह्मण समाज के संचालक तथा पौराणिक पण्डित परमहंस के विरोधी बन गए; इस लिये उन्होंने इस सन्यासी को न केवल सहायता देना बंद किया अपितु इनको भवन से निकाल दिया ॥७५॥

उदारचेतास्स रहीमखाँभिधग् ददौ निवासाय निजालयं मुदा ।
तदा मुनीन्द्राय सुबन्धुतामतेः सदार्हतीहार्यनृणां महोदयः ॥७६॥

उदार हृदय डॉ० रहीमखां महोदयने आनन्द से अपना भवन मुनीन्द्र के निवासार्थ दे दिया; अतः ये सज्जन सदा आर्य जनों की स्तुति के पात्र हैं; कृतज्ञता के भाजन हैं ॥७६॥

मासद्वयं सदुपदेशसुधासुपानाद्
भक्ता बभूवुरिह भूरिजना मुने र्यत् ।
तेषां रुचिश्च निगमोदितधर्मवृद्धये
तैस्स्थापितो हितकरार्यसमाज आर्यैः ॥७७॥

लाहौर में दो मास तक सदुपदेश रूपी सुधा के पान से बहुत से सज्जन परमहंस के भक्त बन गए; और वेदोदित-धर्म प्रचार के लिए उन लोगों की श्रद्धा बढ़ी; अतः ज्येष्ठ शु० १३ सवत् १९३४ ता. २४ जून सन् १८७७ को उन सज्जनों ने संसार हितकारी आर्य-समाज की स्थापना की ॥७७॥

नियमिना नियमा दशनिर्मिता दशसु दिक्षु रुचं परिचिक्षिपुः ।
विमलमानससिन्धुविनिःसृताः सुजनकण्ठधृतामणयो यथा ॥७८॥

नियमवान् गुरुदेव ने आर्यसमाज के दस नियम रत्न बनाएँ, जिन्होंने दशों दिशाओं में अपनी प्रभा फैलाई; वे ऋषि के पवित्र हृदय-सागर में से निकले थे; अतः रत्नमालाकी तरह उनको सुजनों ने कण्ठ में धारण कर लिया ॥७८॥

आर्यसमाजसभाया अधिनायकतामलङ्करोतु भवान् ।
इत्यावेदित आर्यः सभ्यानेवं निरेषणोऽवादीत् ॥७९॥

"आप आर्यसमाज-सभा के अधिनायक पद को अलङ्कृत कीजिये" ऐसा जब आर्य देव को सभ्यों ने निवेदन किया; तब एषणारहित योगीश्वर ने कहा— ॥७९॥

गुरुत्वमूलोन्मूलनमार्यावर्त्ते विधातुमिच्छुरहम् ।
नाङ्गीकुर्यां पदवीं सभ्योऽहं केवलं भवेयमतः ॥८०॥

मैं आर्यावर्त्त में गुरुदंभ के मूल का उन्मूलन करना चाहता हूं; इस लिए इस पदवी को स्वीकार न करूंगा; केवल सभ्य बनूंगा ॥८०॥

उपासनायां निरते जने मुनिः समाययावार्यसमाजमन्दिरम् ।
समादरं दर्शयितुं गुरौ जने समुत्थिते तं समुवाच संयमी ॥८१॥

उपासनायास्समये समागतः कियान्महानेव जनो भवेदये ! ! ।
उपासकै र्नोभवितव्यमुत्थितैरहो न कोऽप्यत्र महान् महेश्वरात् ॥८२॥

एक समय आर्यसमाज मन्दिर में भक्त जन उपासना में मग्न थे; उस समय ऋषि वहां आए । तब गुरु के प्रति आदर दिखाने के लिए वे उठे । तब संयमीश्वर ने उनसे कहा कि—"हे भद्र पुरुषों ! उपासना के समय चाहे जितना बडा पुरुष आवें तो भी उपासकों को खडा न होना चाहिये । अहो ! ! ! इस संसार में परमेश्वर से कोई भी बडा नहीं है ॥८१-८२॥

गुरुवरवचनं तत्सादरं तत्र सभ्या-
विमलमनसिधृत्वाब्रह्मविद्यावबोधे ।
सुरगिरमवगम्यां सम्प्रधार्यार्यदेवा-
दधिजिगमिषवस्ते तत्पदाम्भोजमीयुः ॥८३॥

सभ्यों ने गुरुदेव के वचन को श्रद्धा पूर्वक पवित्र मन में धारण कर लिया; और वेदविद्या के अवबोधनार्थ देव-वाणी जाननी चाहिये ऐसा समझ कर वे भक्त सज्जन संस्कृत पढने की इच्छा से आर्यदेव के पदारविन्द के समीप जाया करते ॥८३॥

॥ इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सच्चिन्मदयानन्ददिग्विजये ब्रह्मार्ङ्के महाकाव्ये महर्षेर्मतिमहिम्ना पञ्चनदप्रान्तदिग्विजयपूर्वं लवपुरार्यसमाजस्थापनं नाम त्रयोविंशः सर्गः ।

॥ चतुर्विंशः सर्गः ॥

[उपजातिवृत्तम् ।]

पञ्चापदेशस्य निजोपदेशै र्मस्तिष्कतुल्यं लवपत्तनं सः ।
प्रभावितं वेदमहत्त्वमुग्धं स्निग्धं विधायात्मनि साधुहंसः ॥१॥

संस्थाप्य संस्थां श्रुतिधर्मवृद्ध्यै कल्याणसिद्ध्यै नरदेहभाजाम् ।
आर्यान् स्वकार्ये ह्यवतार्य तूर्णं ययौ सरः सामृतमात्मतुष्टः ॥२॥

साधुहंसने पंजाब प्रान्त के मस्तिष्क—लाहौर को अपने प्रभावशाली उपदेशों से प्रभावित कर लिया । वेदशास्त्र के महत्त्व पर उसे अपने प्रेम से स्निग्ध कर, नरदेह—धारी स्त्री पुरुषों के कल्याण सम्पादन एवं वेद धर्म के अभ्युदय के लिये वहां संस्था स्थापन कर, आर्यों को शीघ्र कार्य क्षेत्र में उतारा । पश्चात् सन्तुष्टात्मा होकर अमृतसर जा विराजे ॥१-२॥

दिव्यप्रभादीपितभव्यमूर्तेः केचित्कृतार्थं क्षणदर्शनेन ।
आत्मानमन्ये मधुरोक्तिपानैः संमेनिरे धन्यमृषे मनुष्याः ॥३॥

कोई जन दिव्य प्रभा से प्रकाशित, मनोहर मूर्तिधारी महर्षि के क्षणभर दर्शन से ही अपने को कृतार्थ मानते और कोई मनुष्य मधुर वचन सुधापान से अपने को धन्य धन्य समझते ॥ ३ ॥

भवार्णवोत्तारणपुण्यनौकां ज्ञानस्वरूपां प्रभुभक्तिनद्धाम् ।
आरोप्य नेतुं तनुधारितीर्थं लोके दयानन्दममंसतामी ॥४॥

ये भक्तगण संसार में दयानन्द को भवसागर से पार उतारने वाली, प्रभुभक्ति की काष्ठ-रचना से बनी हुई, ज्ञान वल्लियों वाली, धर्म नौका पर चढ़ाकर ले जाने के लिए · मूर्तिमन्त तीर्थावतार—घाट रूप मानते थे ॥४॥

सकृन्निशम्यर्षिवचो जनानां चिरन्तना मानवधर्मशंकाः ।
तूला इवाग्रे मरुतः क्षणेन केषामहो ! नोदडयन्त दूरे ॥५॥

एक बार महर्षि का वचन सुनकर मनुष्यों की पुरानी से पुरानी मानव धर्म विषयक शंकाएँ क्षण में ही अहा !!! ऐसी उड़ जाती थी, जैसे वायु के सामने तूल का टुकड़ा उड़ जाय ॥ ५ ॥

श्रीरामदत्तो विदितो बुधेन्द्रः पुराणविज्ञैः प्रतिबाधितोऽपि ।
मत्वा मुनिं वेदविदां वरेण्यं नायाद् विवादाय पलायतास्मात् ॥६॥

श्रीरामदत्तजी एक प्रसिद्ध विद्वान् अमृतसर में गिने जाते थे, उनको पौराणिक पण्डितों ने मुनीन्द्र के साथ शास्त्रार्थ के लिए अति बाधित किया; किन्तु वे महाराज को वेदशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् मान कर सभा में न आए; और अमृतसर से ही भाग गए ॥६॥

पाषाणपूजाप्रलयः प्रकामं पौराणिकान्तःकरणं चकर्त्त ।
आरेव येनामृतपत्त्वलस्था रुद्धा भुजङ्गा इव तापमापुः ॥७॥

पाषाण पूजा का अतिशय खण्डन, करवत के तुल्य पौराणिकों के हृदय को चीरता था; जिससे अमृतसर वासी जन पकड़े हुए भुजगों के समान सताप पाते थे ॥७॥

संस्थापितोऽत्रार्यसमाज आर्यैः-रुन्मीलितज्ञानविलोचनैर्द्राक् ।
परोपकारव्रतिनो विनिर्यै रेकेश्वरोपासनलीनचित्तैः ॥८॥

परोपकारी ब्रह्मचारी के एकेश्वरोपासना में लीन-मन वाले शिष्य-सज्जनों ने अपने ज्ञान नेत्र खुल जाने से शीघ्र अमृतसर में १२ अगस्त सन् १८७७ को आर्यसमाज स्थापित किया ॥ ८ ॥

भिषग्वरामन्त्रितमन्त्रनिष्णो मानेन नीतो गुरुदासवासम् ।
व्याख्यानवृन्दै र्जनतां विमोह्य न्यवेशयत्तत्र समाजमार्यम् ॥९॥

पश्चात् डॉ० विहारीलाल के आमत्रण से मन्त्रोपदेष्टा दयानन्द 'गुरुदासपुर' गए वहा उन्होंने इन ऋषिवर का सत्कार किया। स्वामीजी के व्याख्यानो से जनता मुग्ध हो गई। और वहा १८ अगस्त, श्रावण शु० ९ सवत् १९३४ को सज्जनों ने आर्यसमाज स्थापित किया ॥ ९ ॥

इभ्यद्वयाग्रभ्यतयाऽप्यखिन्नस्तत्प्रेरितं प्राज्ञयुगं स योगी ।
विजित्य वादे नगरे प्रभावं निवेशयामास पवित्रबुद्धेः ॥१०॥

मिया हरसिंह और खेरसिंह नगर के दो प्रतिष्ठित रईसो की असभ्यता से भी उद्विग्न न होकर परमहस ने उनके भेजे हुए लक्ष्मीधर और दौलतराम नामक दो पण्डितो को शिवलिङ्ग विषयक बाद में जीतकर जनता पर अपनी पवित्र बुद्धि का प्रभाव जमाया ॥१०॥

सिक्त्वामृतवासमुपेत्य भूयो वेदोक्तधर्मप्रथरेरतोऽयम् ।
उद्देश्यरत्नावलिमार्यजातेः प्राकाशयत्सज्जनकण्ठभूषाम् ॥११॥

पुनः वहां से अमृतसर आकर भगवान् वेद धर्म प्रचार में लग गए। उन्होंने आर्य जातीय जन की कंठभूषा सी 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' यहीं छपाकर प्रकाशित की ॥११॥

जालन्धरं वेदधुरन्धरोऽस्मात् प्रगम्य रम्यालयमध्यवात्सीत्।
सुचेतसिंहातिथिताप्रसन्नः सगोदयं व्याख्यदिहार्यनेता ॥१२॥

वहां से तेरह सितम्बर को वेद धुरंधर ऋषि जालधर नगर में पहुँचकर सरदार सुचेतसिंह की कोठी में ठहरे। उन्होंने इनका आतिथ्य सत्कार किया जिससे ये प्रसन्न हुए। सरदार के ही सुन्दर भवन में आर्य नेता का 'सृष्टियुत्पत्ति' पर व्याख्यान हुआ ॥१२॥

अधुष्य मासाधिकमत्र नित्यं ववर्ष देवो निगमामृतं सः।
विनोदकाख्यानरसेन पूर्णं तूर्णं विमुग्धा जनताऽभवद्यत् ॥१३॥

यहां एक मासमें भी अधिक रह कर देव नित्य मनोरंजक कथारस से पूर्ण वेदामृत बरसाया करते; जिससे जनता सत्वर मुग्ध हो गई ॥१३॥

अथैकदा विक्रमसिंह भूपो जगाद सन्तं भगवन्नवर्णि।
तद् ब्रह्मचर्यस्य महाबलं नु श्रीले न मे तत्प्रतिभाति तावत् ॥१४॥

एक दिन सरदार विक्रमसिंह ने सत में कहा कि 'भगवन्! शास्त्रोंने ब्रह्मचर्य के महाबल की बहुत प्रशंसा की है; किन्तु आपमें मुझको वह बल प्रतीत नहीं होता' ॥१४॥

तूष्णीं तदानीं समतिष्ठतार्यः परं यदाऽसौ हययुग्मयानम्।
आरूढवान् मौनतया तदार्यं जग्राह चक्रं रथपृष्ठयातः ॥१५॥

परमहंस उस समय चुप रहे किन्तु जब वह सरदार दो घोड़ों की गाड़ी पर सवार हुए तो महाराज ने चुपके से जाकर उनकी गाड़ी का पिछला पहिया पकड़ लिया ॥१५॥

कशाहतौ सारथिना तुरङ्गौ मनाङ् न शक्तौ चलितुं पदं तु।
यदा तदा पृष्ठत ईक्षितोऽयं ताभ्यां व्रतीन्द्रो धृतचक्रपाणिः ॥१६॥

कोचवान ने घोड़ों को बढ़ाना चाहा परन्तु वे न बढ़े। उसने फिर उनको चाबुक मारे। घोड़ों ने बहुतेरा बल लगाया परन्तु वे टस से मस न हो सके कोचवान और सरदार साहब ने पीछे मुड़ कर देखा तो महाराज को गाड़ी का पहिया पकड़े हुए पाया ॥१६॥

बलं बलीन्द्रस्य विलोकय त्रिभं स विस्मितो व्याहरतिस्म देवम् ।
ज्ञातं महत्त्वं गुरुदेव ! सत्यं तद्ब्रह्मचर्यस्य मयाऽद्य साक्षात् ॥१७॥

बलीन्द्र के अद्भुत बल को देख कर सरदार साहब विस्मित होकर व्रतीन्द्र से बोले कि—'गुरुदेव ! आज मैंने सचमुच !! प्रत्यक्ष उस ब्रह्मचर्य के महत्व को जान लिया ॥१७॥

लाहौरपौरार्यसमाजगोष्ठ्यां याति स्म सत्संगकृते स जातु ।
महोत्सवे ब्राह्मसमाजजुष्टे प्रायात्तदार्यस्त्रिशतार्य भक्तैः ॥१८॥

देव कभी कभी लाहौर आर्यसमाज की सभा में सत्संग के लिए जाया करते । एक समय २१ अक्टूबर सन् १८७१ को ब्राह्मसमाज का वार्षिक उत्सव था । महाराज उसमें ३००–४०० मनुष्यों के साथ पधारे ॥१८॥

औदार्यतो ब्राह्मसमाजसभ्याः प्रभावितास्तेऽस्य यतेर्जनाश्च ।
तदुत्सवक्षेत्रमृषीन्द्रसंगाल्लक्ष्मीं दधौ नैमिषपुण्यभूमेः ॥१९॥

सन्यासी की उदारता से ब्राह्मसमाज के सभ्य तथा अन्य भद्र पुरुष प्रभावित हो गए । इन के पधारने से उस उत्सव-क्षेत्रने आर्य ऋषियों के संग से शोभित धर्म-क्षेत्र नैमिषारण्य के समान शोभा धारण कर ली थी ॥१९॥

आन्दोलनं पञ्चनदप्रदेशे समन्ततो धर्मभवं बभूव ।
संस्कारकर्तुर्जनधर्मनीते स्ततोऽज्वला कीर्त्तिरिवो नितान्तम् ॥२०॥

पंजाब प्रान्त में लाहौर के आर्यसमाज की स्थापना से सर्वत्र धार्मिक आन्दोलन होने लगा। मनुष्य मात्र के धर्म और सुधार करने वाले महर्षि की कीर्त्ति अतिशय फैल रही थी ॥२०॥

पञ्चापगामातृक रुद्धकान्ते प्रान्ते प्रशान्तेन हितस्य तस्य ।
कार्येण काऽऽर्येण पुरी विसृष्टाऽऽकृष्टा न वा चागमतर्कवाचा ॥२१॥

पंचनदीमातृक, समृद्धि से मनोहर, पंजाब प्रान्त की कौनसी नगरी हितकारी ब्रह्मचारी के प्रशान्त धर्म कार्य से विमुक्त रही ? अथवा इनकी शास्त्र और तर्क पूर्ण वाणी ने किस नगरी को आकर्षित न किया ? अर्थात् सब नगरों में धर्म-क्रान्ति होने लगी और सभी नगर की जनता आकृष्ट हो गई ॥२१॥

फीरोजसेनाभयपत्तनस्थै र्निमन्त्रितस्तत्र सुधर्मतत्त्वम् ।
निबोध्य हिन्दूहृदयानि चक्रे श्रौतार्यधर्मे निरतानि वाग्मी ॥२२॥

ता. २६ अक्टबर १८७७ को फिरोजपुर छावनी एवं नगर के सज्जनों ने स्वामीजी को निमत्रण दिया । वहां वाग्मीश्वर ने जाकर ऐसी उत्तम रीति से धर्म तत्त्व समझाया कि हिन्दुओं के हृदय वैदिक आर्य धर्म के अनुरागी बन गए ॥२२॥

पिण्डीं प्रतस्थेऽथ तपोनिधिस्स निराशचन्द्रेण कृतप्रबन्धः ।
श्रीपारसीकालय आपगास्थे स्थितो निरस्यन्निह मूर्तिपूजाम् ॥२३॥

अनन्तर तपोनिधि ता. ७ नवम्बर को रावलपिण्डी पधारे । बाबू निराशचन्द्र बन्द्योपाध्याय, डेडक्लर्क, डिप्टी कमिश्नर, सदस्य—ब्राह्मसमाज ने पारसी सौदागर जामास्पजी के नदीतटवर्ती भवन में यतीन्द्र को ठहराया । यहां स्वामीजी मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते रहे ॥२३॥

खिस्तीश्वरग्रन्थकथां कुरानश्रीनिन्द्यवार्त्तांश्च तदीयभक्तान् ।
संश्राव्य धीरः कुपितानकार्षीत् पुराणविज्ञानपि दम्भलीलाम् ॥२४॥

धीर महर्षि ने बाईबिल की कथा, कुरान की निन्दनीय वार्ता और पुराण की पाखण्ड लीला उन २ मतवादियों को सुनाई : जिससे वे सब कुपित हो गए ॥२४॥

उत्तेजिता वादरणाय सर्वे विपश्चिद्वर्गा युगपत्समायन् ।
गोमायुकल्पान् मुनिपुण्डरीकः सत्योक्तिनादै निरसार्यत्तान् ॥२५॥

सारे प्रतिपक्षी लोग उत्तेजित हो कर एक साथ वाद-युद्ध के लिए सभामें आए । मुनिसिंहने शृगाल सम उन सबों को सत्योक्ति की गर्जना से भगा दिया ॥२५॥

काश्मीरजम्मूवसुधाधिपस्य निमन्त्रणं धैर्यनिधिर्न्यषेधीत् ।
जडार्चकस्य प्रतिमानिषेद्धु र्गतं न योग्यं भवितेति राज्ये ॥२६॥

काश्मीर और जम्मू के नरेन्द्र ने इनको निमन्त्रण दिया । धैर्य-सागर दयानन्द ने—"प्रतिमापूजक के राज्य में मूर्त्तिपूजा के खण्डन करने वाले का जाना योग्य न होगा" ऐसा समझ कर उनको निषेध कर दिया ॥२६॥

अथो वितस्तातटिनीतटस्थं मनोरमं झेलमपत्तनं सः ।
संप्राप्य सल्लक्ष्मण संप्रसादसाहाय्यमप्यत्र च संन्यवात्सात् ॥२७॥

पश्चात् देव ता. ३० दिसम्बर को वितस्ता (झेलम) नदी के किनारे सुशोभित नगर में जा सुशोभित हुए वहां मास्टर श्री लछमनप्रसाद की सहायता पाकर उन्होंने निवास किया ॥२७॥

त्रयो बुधाभाष्यसुलेखनार्थं माङ्गलज्ञ एको दललेखहेतोः ।
पञ्चान्यभृत्याश्च सतानियुक्ता आसन्सहैव व्रतिनाऽनिशं ते ॥२८॥

भाष्यलेखन के लिए तीन पण्डित, अंग्रेजी पत्र लिखने के लिए एक बाबू और पांच अन्य सेवक सन्तने नियुक्त किए थे; वे सदा महाराज के साथ ही रहते ॥२८॥

किरानविज्ञान् निगमज्ञयोगी वाचंयमाँस्तत्र विधाय खिन्नान् ।
समाजमस्थापयदार्यमार्यः कौशेयपीताम्बररम्यतेजाः ॥२९॥

वहां के ग० ह्रा० के हेडमास्टर मिस्टर शिवचरण घोष, जो ईसाई थे, वे कई पादरियों के साथ वादके लिये आए । उनको वेदज्ञ योगीश्वर ने चुप कर दिया । इससे वे खिन्न हो गए । आर्य देव ने वहां आर्यसमाज स्थापन किया । उस समय महाराज की मनहर कान्ति रेशमी पीताम्बर धारण करने से अधिक चमकती थी ॥२९॥

तरंगिणीतीरनिवासियोगी गिराऽमराणां स्थविरोऽत्रकोऽपि ।
संभाष्य विद्वान् विदुषाऽमुनाऽसौ प्रेम्णा निबद्धः सुचिरं प्रसन्नः ॥३०॥

झेलम नदीतटनिवासी एक वृद्ध योगी यहां देववाणी में स्वामीजी से चिरकाल तक बात-चित कर के अति प्रसन्न हुए और प्रेमबद्ध हो गए ॥३०॥

पुरंगतोऽस्माद् गुजरातनाम्ना ख्यातं तदा खिस्तमतज्ञ्रेणाम् ।
विख्यातकेन्द्रं यतिरार्यधर्मप्रभावमस्मिन् प्रथयाम्बभूव ॥३१॥

झेलम से यतीश्वर ता. १३ जनवरी सन् १८७८ को ईसाई लोगों के विख्यात केन्द्र 'गुजरात' शहर को गए । इस नगर में स्वामीजी ने आर्य धर्म का प्रभाव खूब फैलाया ॥३१॥

बुचाननं तत्र निरर्गलास्यं जम्मूबुधज्ञापि विजित्य वादे ।
छात्रान् समर्थांश्च विधाय तर्के श्रुतेर्महत्त्वं समबूबुधज्ञः ॥३२॥

वहां मिस्टर 'बुचानन' हेडमास्टर गर्ल्स ह्रा० जो बडी डींग मारता था, उसको तथा जम्मू के पण्डित को भी शास्त्रार्थ में वेदज्ञ योगी ने पराजित कर वहां के विद्यार्थियों को तर्क शास्त्र में निपुण बना कर उनको वेदका महत्त्व समझा दिया ॥३२॥

ततो वजीराख्यपुरे मुनीन्द्रो वादाहवे योद्धुमुपागतान् स्वैः ।
तेजोभिरातर्ज्य खलान् समाजे तदार्यसभ्यान् मुदितानतानीत् ॥३३॥

दयानन्ददिग्विजयम् – चित्र सं. ८-९:—

अमृतसरमें प्रस्तर-पुष्प वर्षा

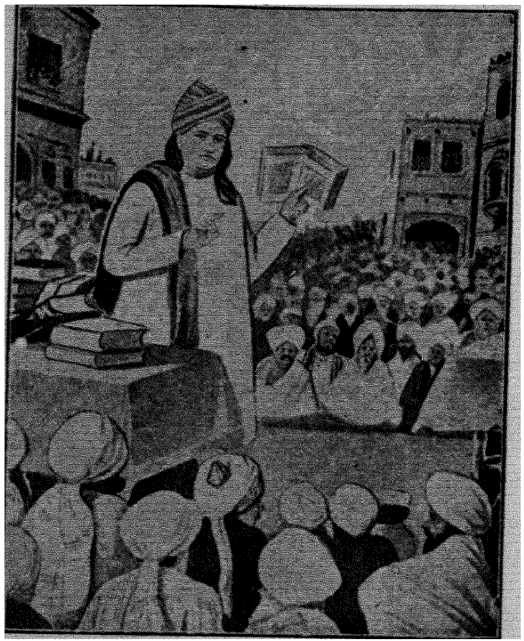

व्याख्यानवेलासु विलोक्य लोकाँस्तदिष्टका वर्षणमाख्यदार्यः।
प्रत्युत्तरे सन्ति विपक्षिपार्श्वे लोष्ठा इमे मे ननु पुष्पवर्षाः ॥२४-४४

— जंगी लाटके सामने महर्षि दयानन्दका ईसाई मत खण्डन —

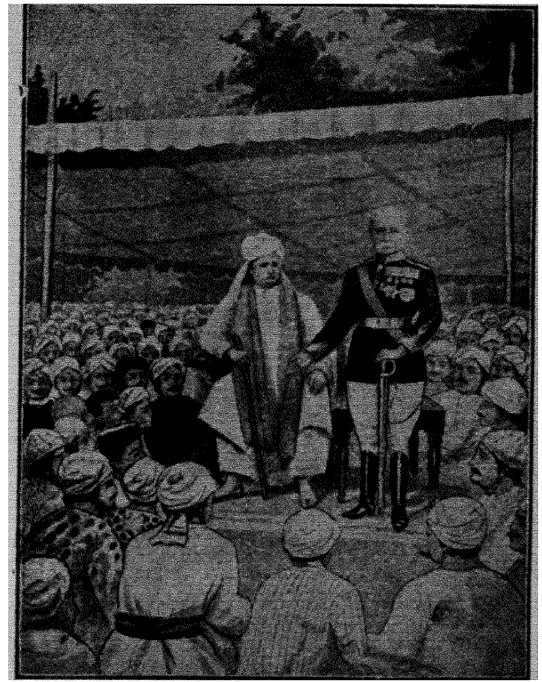

प्रभावमीशूमतजं मतज्ञो नवीन शिक्षाङ्कितमानसेभ्यः।
सर्वाङ्ग पूर्णं निजवेदधर्मं निष्कासयामास विचित्रवाग्मी ॥२४-३५॥

वहां से मुनीन्द्र ता. २ फर्वरी को 'वजीराबाद' पहुँचे। वहां वाद युद्ध में आए हुए शठ पण्डितों को अपने विद्याबल से धमका कर आर्यसमाज के सभासदों को आनन्दित कर दिया ॥ ३३ ॥

उपावसच्छ्रीगुजरानवाला-विशालशालां धृतमन्त्रमालः ।
उद्देश्यरत्नानि स आर्यकण्ठेष्वामञ्जयामास सदुक्तिभिश्च ॥३४॥

ता. ७ फर्वरी को मन्त्र माला को धारण करने वाले दयानन्द 'गुजरानवाला' नगर में जाकर विशाल भवन में रहे। वहा उन्होंने आर्यों के कण्ठ में सदुक्तियों से भूषित उद्देश्य-रत्नमाला पहना दी ॥३४॥

प्रभावमीशूमतजं मतज्ञो नवीनशिक्षाङ्कितमान्सेभ्यः ।
सर्वाङ्गपूर्णं निजवेदधर्मं निष्कासयामास विचित्रवाग्मी ॥३५॥

बाईबल का रहस्य जानने वाले अद्भुत वक्ताने अंग्रेजी शिक्षा से रंगे हुए हृदय वालों के हृदयों में से सवाग सुन्दर स्ववेदधर्म के व्याख्यानों से ईसाई मत का प्रभाव निकाल डाला ॥ ३५ ॥

निवेश्य चात्रार्यसमाजमर्हन् निपात्य नानामतवादिलोकान् ।
आतंकमुत्पाद्य विपक्षिचित्तेष्वायात्पुरं चार्यवरो लवाख्यम् ॥३६॥

पूज्यपाद स्वामीजी ने यहा ता. ४-३-१८७८ को आर्यसमाज-स्थापन किया, नाना मतवादी लोगों को हराया और विपक्षियों के चित्त में भय उपजाया। पश्चात् आर्य-देव लाहौर पधारे ॥ ३६ ॥

ओजस्विवाचास्य जनास्स्वमूर्त्तीं रावीनदीनीरशया विधाय ।
श्रेयस्करे वेदमतेऽनुरक्ता भक्ता विमुक्तेः सृतिमन्वयुस्ते ॥३७॥

इन की ओजस्विनी वाणी से प्रभावित भद्र पुरुषों ने अपनी देव-मूर्तियां रावी नदी के नीर में बहा दी और श्रेयस्कर वेदमत में अनुरक्त होकर उन लोगों ने मुक्ति का मार्ग ग्रहण किया ॥ ३७ ॥

निन्ये यतीन्द्रो मुलतानधाम प्रख्यातनामा गुणलुब्धलोकैः ।
चखण्ड गोस्वामिमतञ्च चण्डं गोपालदासो रुषितो महर्षौ ॥३८॥

प्रख्यात-कीर्त्ति यतीन्द्र के गुणानुरागी भक्त जन ता. १२ मार्च को 'मुलतान' नगर में ले गए। स्वामीजी ने वहां गोकुलिये गोसाइयों के मतका प्रचण्ड खण्डन किया; इससे गोपालदास गोसाई महर्षि पर क्रोधित हो गया ॥३८॥

उपद्रवं संसदि कर्त्तुकामः सशंखघण्टानिनदोऽभियातः ।
सयाष्टिकोऽमुं तुरगाधिरूढो मूढो निवृत्तश्च विलोक्य वीरान् ॥३९॥

सभा में उपद्रव करने की कामनासे लाठी और छुरी वाले सेवकों के साथ वह घोड़े पर सवार हो कर शंख घड़ियाल बजवाता हुआ सभास्थल में आया किन्तु वहां पुलिस को देख कर मूढ़ लौट गया ॥३९॥

सेनानिवासे जनतार्थितोऽयं यज्ञोपवीतार्यविवाह रीतिम् ।
व्याचष्ट योगी मुदितस्तदानीं सुपाहरद् वित्तमिरानवासी ॥४०॥

जनता की प्रार्थना से मुलतान छावनी में प्रसन्नमना योगी ने 'यज्ञोपवीत' तथा 'आर्य विवाह की रीति' पर व्याख्यान दिए; उसी समय व्याख्यान से प्रभावित पारसी सज्जनों ने इन्हें अच्छी भेंट दी ॥४०॥

द्राक्षासुपात्रं शतरूप्यकाणि श्रीपारसीकाग्रहतो गृहीत्वा ।
भाष्यप्रकाशार्थनिधौ धनं स श्रद्धार्पितं तन्निदधौ व्रतीन्द्रः ॥४१॥

व्रतीन्द्र ने पारसी सज्जनों के आग्रह से श्रद्धार्पित एक थाल किसमिसों का और १००) रुपये स्वीकार कर धन वेद भाष्यफंड में जमा कर दिया ॥४१॥

पञ्चाधिकत्रिंशदपूर्वभद्रव्याख्यानवारै मुलतानपौरान् ।
आवर्ज्य तत्रार्यसमाजसंस्थां संस्थापयामास स मस्करीन्द्रः ॥४२॥

सन्न्यासिसम्राट् ने ३५ अपूर्व, हितकारी व्याख्यानों से मुलतान के नगरवासियों को वेद धर्म की ओर झुका कर ता. ४ अप्रैल को वहां आर्यसमाज स्थापित करा दिया ॥४२॥

पुरं लवस्यार्ययतिस्स भूयः प्रयाय सभ्यानुपदिश्य भक्तान् ।
वियोगखिन्नांश्चिरसंगकामाञ् जगाम देवोऽमृतपल्वलं तत् ॥४३॥

आर्यसन्यासी पुनः लवपुर आकर वियोगखिन्न, चिरसत्संग चाहने वाले भक्त सभासदों को उपदेश देकर अमृतसर गए ॥४३॥

व्याख्यानवेलासु विलोक्य लोकाँस्तदिष्टकावर्षणमाख्यदार्यः ।
प्रत्युत्तरे सन्ति विपक्षिपार्श्वे लोष्टा इमे मे ननु पुष्पवर्षाः ॥४४॥

अमृतसर में व्याख्यान के समय अपने ऊपर ईंटों की वर्षा होती हुई देख कर मुनीन्द्रने जनता से कहा कि—'विपक्षियों के पास उत्तर में ये ढेले हैं किन्तु मेरे लिए तो यह पुष्प-वर्षा है' ॥४४॥

सार्द्धैक वर्षं वृषवारि वर्षन् देवोऽनिशं पञ्चनदप्रदेशे ।
दिव्यं प्रदायामलजीवनं स कृतार्थयामास जनान् नृहंसः ॥४५॥

परमहंस देव ने पंजाब प्रान्त में लगातार डेढ़ वर्ष तक दिव्य धर्मामृत बरसाया और जनों को पवित्र जीवन प्रदान कर कृतार्थ कर दिया ॥४५॥

भ्रमन्नथायं रुडकीपुरीं स समेत्य पौराम्बक पद्मसूर्यः ।
महेश्वरादेशरुचिं दिदेश नृणां प्रफुल्लानि हृदम्बुजानि ॥४६॥

नागरिक नेत्र कमल के सूर्य दयानन्दने विचरते हुए 'रुडकी' में आकर ईश्वरीय आदेश की कान्ति प्रदान की; जिससे पुरुषों के हृदयारविन्द खिल गए ॥४६॥

विकाससिद्धान्तमखण्डयत्तं विज्ञानतो युक्तिबलेन चार्यः ।
सन् संस्कृतग्रन्थन एव येन पाश्चर्यवान् नूतनविज्ञवर्गः ॥४७॥

विश्ववन्द्य मत ने संस्कृत ग्रन्थों के प्रमाण से तथा युक्तिबल से विज्ञान पूर्वक डारविन के मत "विकाससिद्धान्त" खण्डन किया; जिस से अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त विज्ञ-वर्ग को आश्चर्य हुआ ॥ ४७॥

कुरानविद्वन्मणिना मुनीन्द्रो वादं विधातुं सुतरां समुत्कः ।
आह्वास्त तं किन्तु मिषैर्न्यषेधीन् मोहम्मदेऽयं मुनिदाक्ष्यवेत्ता ॥४८॥

कुरआन के विद्वद्रत्न मौलवी 'मुहम्मद कासिम' देवबन्द वाले के साथ मुनीन्द्र शास्त्रार्थ करने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे; मुसलमानों ने उन्हें बुलाया किन्तु स्वामीजी की विद्वता को जानने वाले उस प्रसिद्ध मौलवी ने अनेक बहाने बनाकर मना कर दिया ॥४८॥

स्वसंस्कृतव्याकरणाभिमानी ग्रन्थं प्रणीतं यतये प्रदर्श्य ।
अपूर्णतां तस्य विधेरुमिच्छन् मुनेरभिप्रायमयाचतायम् ॥४९॥

संस्कृत-व्याकरण के अभिमानी एक पण्डित ने अपना बनाया हुआ व्याकरण का ग्रंथ यतीन्द्र को बतलाया; और उसकी अपूर्वता जानने की कामना से उसने मुनीन्द्र का अभिप्राय मांगा ॥ ४९ ॥

मन्त्रेषु कश्चिन्नियमो नियोज्यः श्लोकेषु वा मद्गहितेष्वमुष्य ।
पृष्टोऽमुनाऽयं प्रभुरेव नाभूद् यदा तदाऽधूत मुनिं प्रणम्रः ॥५०॥

मुनीन्द्र ने कहा कि—'मेरे पढ़े हुए इन १७-१८ वेदमन्त्रों पर आपके व्याकरण का नियम घटाईये; यदि आप इन पर न घटा सके तो इन लौकिक संस्कृत के ३२ श्लोकों पर आपका नियम घटाईये । उन पर भी पण्डितजी के व्याकरण का नियम न घट सका तब वह बोला कि— ॥५०॥

विद्यासमुद्रो भगवन् ! भवान् हि ग्रन्थो बुधैः श्लाघित एष काश्याः ।
परं मयाद्याक्षमताऽन्वभावि ध्रुवं भवाञ् शंकर एव साक्षात् ॥५१॥

'भगवन् ! आप तो विद्या के सागर हैं; काशी के पण्डितों ने इस ग्रंथ की प्रशंसा की थी; परन्तु आज मैंने अपनी अयोग्यता का अनुभव किया; सचमुच !! आप तो प्रत्यक्ष शंकर भगवान ही हैं ॥५१॥

श्रीपाणिनीयाष्टकसूत्रमेकं मन्त्रेषु पद्येषु च योजयित्वा ।
स्वामी बुधस्याशमयन्मदं यल्लब्ध्वाधिकां बुद्धिमयात्सविद्वान् ॥५२॥

ऋषि ने पाणिनीय सूत्र पढ़ कर उसको उन मन्त्रों और पद्यों में घटा दिया; पण्डितजी का गर्व चूर्ण हो गया तथा निष्प्रभ परन्तु अधिक बुद्धिमान हो कर विदा हो गया ॥५२॥

वेदान्तिनं ब्रह्म स मन्यमानं स्वं व्याहरद् ब्रह्म यदि त्वमस्याम् ।
प्रपूरयामून् मृतमक्षिकायां मूकोऽस्थितासौ चकितश्च मूढः ॥५३॥

भोट्टसिंह नामक एक वेदान्ती स्वामीजी के पास आया; वह अपने को ब्रह्म मानता था । ऋषिने उससे कहा कि 'तू यदि वास्तव में ब्रह्म है तो इस मरी हुई मक्खी में प्राण तो डाल दे ? तब तो भोट्टसिंह चकराया, बुद्धू बने हुए गए, मुह से एक शब्द भी न निकला ॥५३॥

धर्मोपदेशैर्विविधान् मतस्थान् सन्तोष्य तत्रार्यसमाजगोष्ठीम् ।
निर्माय भव्ये भवने महर्षिर्ययाविलोऽलीगढपत्तनं सः ॥५४॥

मटकी नगर में धर्मोपदेशों से विविध मतस्थ जनों को महर्षि ने संतुष्ट कर दिया और २० अगस्त १८७८ को विशाल भवन में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। अनन्तर वहां से मुनीन्द्र अलीगढ में जा विराजे ॥५४॥

मुकुन्दसिंहादिनिषेवितोऽयं मुम्बापुरीवासिजनान् समेतान् ।
संभाष्य वाग्भिर्यवनोत्तमस्य नाङ्गीचकाराशनमेभिरीड्यः ॥५५॥

वहां ठाकुर मुकुन्दसिंह आदि सज्जनों ने महाराज की खूब सेवा की। उस समय बम्बई से मूलसी ठाकुरसी, हरिचन्द्र चिन्तामणि और श्यामजी कृष्ण वर्मा भगवान् से मिलने के लिये आये। स्वामीजी ने उनका वाणी से आदर सत्कार किया। २३ अगस्त को सर सय्यद अहमदखां ने महाराज तथा बम्बई के सज्जनों को भोजनार्थ निमंत्रित किया। किन्तु महाराज ने वहां भोजन करना स्वीकार न किया ॥५५॥

शंकासमाधानमयीं मनोज्ञां श्रुत्वास्य भव्यां गिरमत्रसाधोः ।
अश्लाघतामुं यवनोऽपि भद्रः कस्मै न रोचेत शुभा हि वाणी ! ॥५६॥

संतरत्न की अलीगढ में मनोहर, उदार, हितकर शंकासमाधान से भरी हुई वक्तृता सुन कर मुसलमान सबजज मौलाना फरीदुद्दीन ने ऋषि की अत्यन्त प्रशंसा की। भला ! मंगलकारिणी वाणी किसे न अच्छी लगे ? ॥५६॥

उपस्थितोऽयं मयराष्ट्रपुर्यां पौरान् समाहूय निजोपदेशैः ।
समाजमस्थापयदार्यमार्यः सभ्यान् सहेभ्यान् विबुधांश्च कृत्वा ॥५७॥

आर्यदेव पश्चात् मेरठ पधारे। उन्होंने वहां अपने उपदेशों से जनता को अपनी ओर झुकाकर अनेक धनाढ्य एवं शिक्षित पुरुषों को सभ्य बना कर २९ सितम्बर को आर्यसमाज स्थापन किया ॥५७॥

आरोप्य जैत्रध्वजमत्र जिष्णु विष्णुप्रसक्तो निगमाद्र्यभक्तः ।
दिल्लीं प्रगम्यामृतकल्पवल्लीं गिरं किरन्नास्त चिरं कृपालुः ॥५८॥

विष्णुभक्त, वेदानुरागी, विजयशील दयालुदेव ने यहां विजय-पताका फहराकर ता. ९ अक्टूबर को दिल्ली के लिये प्रस्थान किया; चिरकाल तक अमृतकल्पलता सी वाणी को वे बरसाते रहे ॥५८॥

निरन्तरं सूक्तिसुधाप्लुतायां सद्बीजमुप्तं श्रमनीरसायाम् ।
शुभाङ्कुरत्वं प्रगतं समीक्ष्य प्रसन्नकीर्तेः सुमनः प्रसन्नम् ॥५९॥

सतत सुभाषितामृत से सींची हुई विद्वन्मनो भूमि में सहाराज ने धर्म बीज बोया। उसमें शुभाङ्कुर निकलते हुए देख कर विमल कीर्त्ति वाले मुनीन्द्र का हृदय प्रसन्न हो गया ॥५९॥

मनोऽभिरामार्यसमाजवृक्षं स्वपक्षपक्षिप्रवरैराश्रितं तम् ।
आलोक्य लोकोदयसत्फलाढ्यं महोदयेन्द्रो मुमुदेऽत्र मुक्तः ॥६०॥

दिल्लीराजधानी में नवम्बर के प्रथम सप्ताह में मनोरम आर्य-समाज का वृक्ष ऋषि ने लगाया; उस पर वेद-मताभिमानी सज्जनरूपी पक्षियों ने आश्रयस्थान बनाया, उसमें लोकाभ्युदय-कारी मोक्षफल लगे हुए देख कर जीवनमुक्त ऋषि महोदय आनन्दमग्न हो गए ॥६०॥

आमन्त्रितो यज्ञकृते जयाख्ये पुरे यतीन्द्रः श्रुतराजमृत्युः ।
श्रीरूपरामादजमेरमेत्य प्रायात्ततः पुष्करतीर्थमारात् ॥६१॥

अचरौल राज्य-जयपुर के ठा० रणजितसिंह जागीरदार ने यतीन्द्र को जयपुर में यज्ञ करने के लिये आमन्त्रत दिया था; अतः महाराज ७ नवम्बर को जयपुर स्टेशन पर पहुँचे। वहां जोशी रूपराम से ठाकुरसाहब का देहान्त सुनकर वैसे ही अजमेर गए। वहां से पुष्कर तीर्थ चले गए ॥६१॥

समर्थदानो गुरुदेवमेवं न्यवेदयन् मन्त्रबलेन वामाः ।
हन्तुं समर्था स्वरिपून् प्रकामं ते साधवो यद् भवता परीक्ष्याः ॥६२॥

मुन्शी समर्थदान चारण ने गुरुदेव से निवेदन किया कि—"पुष्कर के वाममार्गी साधु मन्त्रबल से अपने शत्रुओं का प्राणहरण कर सकते हैं; अतः आप उनकी परीक्षा लीजिए ॥६२॥

ओमुद्यतोऽहं मयि दर्शयन्तु स्वमन्त्रशक्तिं ननु वामिनोऽमी ।
सरन्ध्रकाच्चावृतमक्षिकां वा निघ्नन्तु पूर्वं निगदैवमेनान् ॥६३॥

स्वा०—"हां मैं तैयार हूं। वे वाममार्गी मुझ पर अपना मन्त्रबल दिखावें; अथवा छिद्र नाल में मक्खी को बन्द करके रखते हैं; उसे प्रथम मारो—ऐसा उनसे कहो" ॥६३॥

आसाद्य साधून् स जगाद धूर्तान् स्वामी दयानन्द इहागतोऽस्ति ।
मन्त्रप्रभावं खलु दर्शयन्तु श्रीमन्त आगम्य तदन्तिकन्तु ॥६४॥

वह चारण उन धूर्त साधुओं के पास आकर बोला कि—"यहां स्वामी दयानन्द सरस्वती जी आए हैं; आप लोग उनके पास जाकर अपना मन्त्रप्रभाव दिखलाइये" ॥६४॥

ऊचुर्निशम्येदमर्मीति रुष्टा दृश्यन्त एवं किममी नु मन्त्राः ।
हिता इहैते क्व नु याहि याहि प्रोवाच वृत्तं यतिमेत्य यन्त्रः ॥६५॥

यह वचन सुन कर वे रुष्ट हो कर बोले कि—'मन्त्र क्या ऐसे दिखाए जाते हैं ? जाओ, जाओ यहां मन्त्र कहां रक्खे हैं ?" यह बात आकर चारणने महाराज से कही ॥६५॥

मुग्धाज्ञनान् वञ्चयितुं नु जालं तन्वन्ति धूर्त्ता इति वित्त यूयम् ।
इत्थं निबोध्यात्मविदार्यसभ्यानपावृणोदस्य रहस्यमत्र ॥६६॥

आत्मज्ञानी ऋषि ने उन आर्य सभ्यों को इस का रहस्य समझा कर उनकी पोल खोली और कहा कि धूर्त लोग भोले भाले मनुष्यों को ठगने के लिए ऐसी जाल फैलाते हैं; यह आप जानिए ॥६६॥

पौराणिकान् राजबुधान् विवादे निर्जित्य वाग्मी प्रतिमार्चनादेः ।
विज्ञानगंगाम्बुनि तीर्थरूपः संस्नाप्य लोकान् विमलांश्च चक्रे ॥६७॥

तीर्थ स्वरूप वाग्मी ने प्रतिमापूजा आदि के विवाद में पौराणिक राज पण्डितों को जीत कर पुष्कर की जनता को विज्ञान गंगा जल में स्नान करा करा कर निर्मल बना दिया ॥६७॥

अथाजमेरं समुपेत्य योगी वेदामृतं पायितवान् निकामम् ।
इञ्जीलमालोच्यदुल्वणञ्च कुरानसिद्धान्तमपीह धीरः ॥६८॥

पश्चात् योगी १४ नवम्बर १८७८ को अजमेर आए और उन्होने लोगों को वेदामृत पिलाया। यहां धीर पुरुष ने इञ्जील तथा कुरआन के सिद्धान्तों की अति तीव्र समालोचना की ॥६८॥

इञ्जीलविद्भ्यां श्रुतिवित् सुचर्चां प्रवृत्तवाञ्श्वारु विधातुमत्र ।
परं श्रुतिज्ञः क्व च तार्किकेन्द्रः ? क्वेञ्जीलविज्ञौ च कुतर्कशीलौ ? ॥६९॥

यहां पादरी ग्रे, डॉ० पादरी हजबेन्ड इन दोनों के साथ वेदज्ञ महर्षि ने सुन्दर चर्चा करना आरम्भ किया; परन्तु कहां तार्किक सम्राट् वेदज्ञ महर्षि और कहा 'कुतर्कवादी वे दोनों बाइबल के विद्वान् ! ॥६९॥

सिद्धान्तसिन्धुः क्षुभितोऽस्यवादै र्मन्थानरूपैः पुरुषोत्तमस्य ।
सुरासुरान् ज्ञानमणिप्रदानैः सविग्रहान् विग्रहतो न्यरुन्द्ध ॥७०॥

पुरुषोत्तम के शास्त्रार्थ रूप मंथनदंड से सिद्धान्त-सागर क्षुब्ध हो गया। मूर्त्तिमन्त सुरों और असुरों को ज्ञानरत्न देकर युद्ध से ऋषि ने रोक लिया ॥७०॥

ततो मसूदाधिपतेः पुरं स प्रगम्य रम्यं वचनामृतैस्तम् ।
तृप्तञ्च रक्तञ्च विधाय भक्तं स्वं स्वीचकारोपहृतञ्च तेन ॥७१॥

अनन्तर परमहंस ता. २ दिसम्बर को मसूदाधीश के मसूदा नगर में पधारे; उनको इन्होंने भाषणामृतों से तृप्त एवं अनुरागी भक्त बनाया। मसूदानरेश ने दी हुई भेंट २००) रुपये इन्हों ने स्वीकार किए ॥७१॥

जयपुरे जयमंगलदुन्दुभि—स्वनवशम्वदवादिनि वाग्मिनः ।
प्रणवकेतुधरस्य समागमः प्रणतलोकशुभङ्कर आबभौ ॥७२॥

पश्चात् ओ३म् ध्वजा को धारण करने वाले वाग्मीश्वर का जयपुर में पधारना भक्त जनों के लिए मंगलकारी हुआ; वहां भगवान ने जयमंगल कि दुन्दुभि के नाद से वादी पण्डितों को वशं-बद बना लिया ॥७२॥

अथ युधिष्ठिरसिंहमहीभुजः प्रणयतः प्रगतोऽस्य पुरं व्रती ।
उपदिदेश वरं श्रुतिसम्मतं निगमधर्मरतञ्च चकार तम् ॥७३॥

अनन्तर रा० युधिष्ठिरसिंह की राजधानी रिवाडी में व्रतीन्द्र ने पदार्पण किया। स्वामीजी ने उनको वेद धर्म का उपदेश दिया और वेदभक्त बना लिया ॥७३॥

हरिप्रस्थं गन्त्वा निगमगिरमुक्त्वा यतिपति-
हरिद्वारं कुम्भोत्सवगतनृवारं सपदि यन् ।
प्रचारार्थं मार्गागतपुरवरस्थान् सह नय-
न्नयं विज्ञान् विज्ञापनदलयुतान् प्राप सुमनाः ॥७४॥

पश्चात् यति सम्राट् दिल्ली गए। वहां वेदोपदेश देकर हरिद्वार में होने वाले कुम्भ के मेले पर जनता में प्रचार करने के लिए ऋषिने कई सहस्र विज्ञापन छपवा लिए। महात्मा दिल्ली से प्रस्थान कर मार्ग में आए हुए नगर के निवासी पण्डितों को अपने साथ लेकर ता. २० फर्वरी सन् १८७९ को उवालापुर पहुंचे ॥७४॥

जनाश्रये पर्णकुटीरमण्डलं सदंशुकागारमुदारमानसः ।
समुन्निनीषु र्विनयन्नयमानधाम् जगद्गुरुः शिष्यवरैरिहावसत् ॥७५॥

उदार मन वाले जगद्गुरु ने वहां अनेक पर्णकुटियां तथा एक विशाल पटमण्डप बनवा कर मानवों को उन्नतिपथ पर ले जाने की कामना से अपने शिष्य सज्जनों के साथ निवास किया ॥ ७५ ॥

भुवनसरसि विद्वद्वेदभाष्यार्ककान्ति-
व्यतनुत विकचानि प्राक्षहृत्पंकजानि ।
अवुधमधुपवृन्दं पातुकामं मरन्दं
यदुपरि परिसर्पन्मञ्जुलं संजुगुञ्ज ॥७६॥

संसार रूपी सरोवर में महाविद्वान् दयानन्द के वेदभाष्य रूपी सूर्य के तेज ने ज्ञानी जनों के हृदयरूपी कमलों को विकसित कर दिया; उन के रस को पीने की कामना से अज्ञानी जन रूपी भ्रमर-मण्डल उन पर मधुर गुञ्जन करने लगे ॥ ७६॥

सुरसरिदुपकण्ठे ज्ञानगंगां स्वशीर्षां—
उजनिमृतिभयहन्त्रीं यात्रिणां हृन्निकुञ्जे ।
सकलमनुजमुक्त्यै शङ्करो वाहयित्वा
व्यलसदिह यथार्थस्तीर्थरूपो महर्षिः ॥७७॥

गंगा के किनारे तीर्थस्वरूप साक्षात् शंकर समान् महर्षि, सफल मानवगण कि मुक्ति के लिए पुण्य लोक में यात्रा करने वाले भक्तों के जन्म मरणरूप संकट को नष्ट करने वाली ज्ञान-गंगा अपने मस्तिष्क से प्रवाहित करते हुए हरिद्वार में विराजे ॥ ७७॥

आनन्दादिवनान्तनामकयतिं शिष्याञ्चितं सादरं
द्वैताद्वैतविवादनिर्णयकृते कृत्वाऽऽसनस्थं चिरम् ।
अद्वैतान्धकृतिं निरस्य निगमैर्भानुप्रभैस्तर्कणै—
रस्यामुं शिवजीवभेदनिपुणं चक्रे च भक्तं यतिः ॥७८॥

एक दिन 'आनन्द वन' नामक परमहंस दंड शिष्यों के साथ यतीन्द्र के आसन पर पधारे । उनको आदर पूर्वक आसन पर बिठा कर स्वामीजी द्वैताद्वैत पर शास्त्रार्थ करने लगे । चिरकाल तक यतीन्द्रने सूर्यसम वेदमन्त्रों एवं तर्कों से उनके अद्वैतान्धकार को दूर किया और उन परमहंस को शिव और जीव के विवेक में निपुण, अपना भक्त बना दिया ॥७८॥

कुम्भोत्सवे सकलसाधुमठस्थितीशान्
राज्याधिकारिमनुजान् यवनादिसभ्यान् ।

आर्याश्च वेदिकमतद्रुमसंश्रितान्स
कृत्वाऽभ्रमत्पुरवरेषु वरेण्यशीलः ॥७९॥

सदाचारिसम्राट् ने कुम्भ के मेले पर आए हुए पुष्कल साधुओं को, महन्तों को, राज्याधिकारी पुरुषों को एवं सभ्य मुसलमानों को वैदिकधर्म रूपी कल्पवृक्ष के आश्रय में लेकर उनको आर्य बनाया। पश्चात् बड़े २ नगरों में धर्मप्रचार करते हुए विचरते रहे ॥७९॥

ब्रह्मार्हर्पतिदीपितद्विजविधो विज्ञानचन्द्रप्रभा
पृथ्वीस्थाखिलविज्ञहृज्जलनिधिं प्रोल्लासयन्ती भृशम् ।
दिव्यानन्दसुधां न्यपिञ्चदमलाप्रेक्षावतां मानसे
सेयं यस्य कलानिधेर्विजयतां नामौ कथं पुण्यधीः ॥८०॥

वेदसूर्य से प्रकाशित जिन ब्राह्मण चन्द्रमा की विज्ञान-चन्द्रप्रभा ने पृथ्वीतलवासी सफल-ज्ञानी जनों के हृदयमहासागर को अतिशय आनन्द से प्रफुल्ल कर दिया और बुद्धिमानों के मानस सरोवर में दिव्यानन्द का विमल अमृत बरसाया; वे कलानिधि पवित्र मतिशाली दयानन्द क्यों न सर्वोपरि विराजमान हों ? ॥८०॥

॥ इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ
सचित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्मार्हे महाकाव्ये देवर्षे दिव्यवाङ्महिम्नोत्तरभारते
सर्वदिग्विजयपूर्वक सर्वत्राऽऽर्यसमाजस्थापन नाम चतुर्विंशः सर्गः ।

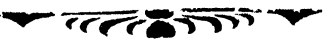

॥ पञ्चविंशः सर्गः ॥

[उपजातिवृत्तम् ।]

श्रीराजपुत्रप्रथितप्रदेशे प्रभो निदेशे प्रविराजमानः ।
स राजमानोन्नतमानसेच्छो व्यस्तारयद् वेदमतं नृपेषु ॥१॥

ईश्वरकी आज्ञा में विराजमान, मनमें जनकल्याण की उत्तम भावना रखने वाले महर्षि दयानन्द ने राजपूतों के विख्यात प्रदेश, राजपूताना में महाराजाओं के अन्दर वेदमत का विस्तार किया ॥१॥

आसीद् बनेडाधिपतिः सुविद्वान् गोविन्दसिंहो निगमान्तदक्षः ।
यदात्मजौ सस्वरवेदपाठे गाने च साम्नां मधुरे प्रवीणौ ॥२॥

बनेडा के राजा गोविन्दसिंह सुविद्वान् थे, वेदान्त में अधिक चतुर थे; इन के दोनों राजकुमार, स्वर सहित वेदपाठ करने में एवं सामवेद के मधुर गायन में परम प्रवीण थे ॥२॥

स्वभागिनेयाद् विदितार्षिकीर्त्तिं निमन्त्रयामास स मन्त्रनिष्णम् ।
प्रत्युद्ययौ योगिनमात्मभृत्यै र्न्यवेशयच्चांशुकमन्दिरे च ॥३॥

इन राजा ने अपने भानजे मसूदा नरेश से महर्षि की कीर्त्ति सुनी थी कि—'स्वामी दयानन्द वेदों के अद्वितीय पण्डित हैं।' अतः अपने यहां योगिराज को पधारने के लिए उन्हों ने मन्त्रण भेजा। और महाराज जब पधारे तब राजा अपने मन्त्रियों के साथ उनको लेने के लिए सामने गए। स्वागत पूर्वक अपने राज्य में लाकर उनको तंबू में ठहराया ॥३॥

सत्संगकामो गुरुणा समं स नित्यं ययौ विश्वगुरोरुपान्ते ।
दिव्याञ्च भव्यां तनुमस्य दृष्ट्वा श्रुत्वा च वाचं प्रससाद मुग्धः ॥४॥

वह राजा राजगुरु के साथ सत्संग की कामना से नित्य जगद्गुरु की सेवा में जाते; वे इनकी दिव्य और भव्य मूर्त्ति देख कर तथा वाणी को सुन कर अति प्रसन्नता से मुग्ध हो जाते ॥ ४ ॥

जीवेशयोरैक्यमतेऽनुयुक्तो योगी नृपेणैवमबोधयत्तम् ।
नभो यथा मन्दिरतो न भिन्नं नाप्येकमेवं शिवजीवभेदः ॥५॥

एक दिन राजाने परमहंस से जीव और ईश्वर के अभेद के विषय में प्रश्न किया। भगवान ने उत्तर दिया कि—"जैसे आकाश सर्वव्यापक होने से घर से पृथग् नहीं है और न आकाश और एक वस्तु है; उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापक होने से जीव से पृथग नहीं और व्याप्य व्यापक सम्बन्ध से वे दोनों एक भी नही अतः अद्वैत मत मिथ्या है" ॥५॥

चतुःश्रुतीनां शुभ दर्शनं तं तदिच्छयाऽकारयदार्यवन्द्यः ।
अथर्ववेदे स्वरमस्य राज्य—ग्रन्थालयादङ्कितमप्यकार्षीत् ॥६॥

आर्य—वन्द्य महर्षि ने राजा की इच्छा से उनको चारों वेदों के शुभ दर्शन कराए और उनके राजपुस्तकालय के अथर्व—वेद के पुस्तक पर से अपने अथर्ववेद पर स्वर लगाए ॥६॥

श्रीयाज्ञवल्क्योक्तयजुः सुशिक्षा-लेखं विलेख्यात्मकृते निघण्टोः ।
संशोधयाठं समरक्षदेष प्रसन्नचेताः प्रशशंस भूपम् ॥७॥

स्वामीजी ने यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य शिक्षा की प्रतिलिपि कराई तथा उनके निघण्टु मे अपने निघण्टु का पाठ संशोधित कर रखा। इस संग्रह के लिए प्रसन्नात्मा ऋषि ने राजा की प्रशंसा की ॥७॥

तद्राजपुत्रस्वरमंजुमंत्रान् संश्रुत्यगानञ्च तदा स साम्नाम् ।
नाधत्यनन्दन्नितरां मुनीन्द्र स्ताभ्यां ददौ वेणसमर्वणशिक्षाम् ॥८॥

मुनीन्द्र ने उनके दोनों राजकुमारों के मुख से सामवेद के सस्वर, मंजुल मन्त्रों का गायन सुन कर उनको सम्यक् अभिनन्दन दिया और उनको 'वर्णोच्चारणशिक्षा' नामक ग्रंथ पारितोषिकरूप में दिया ॥८॥

प्रसंगतस्तद्गुरुणा प्रचर्चा महीधरव्याकृतवेदभाष्ये ।
जज्ञेऽस्य तद्भाष्यविशेषदोषांस्तस्मै प्रदर्श्याकृत विस्मितं तम् ॥९॥

उनके राजगुरु के साथ प्रसगानुसार महीधरकृत वेदभाष्य पर ऋषि की चर्चा हुई; महाराज ने उस भाष्य के विशेष दोष दिखला कर उनको विस्मित कर दिया ॥९॥

गजेन्द्रमारोप्य गुरूत्तमं स प्रादर्शयद् राजमणिस्स्वदुर्गम् ।
विज्ञानतेजः परिगृह्य तस्मान्चित्तोडदुर्गं यतिमापयच्च ॥१०॥

नरहंस गोविंदसिंह ने गुरुदेव को गजेन्द्र पर सवार करा कर अपना किला दिखलाया और इन से विज्ञानतेज ग्रहण कर इन्हें चित्तौड दुर्ग के समीप पहुँचा दिया ॥१०॥

मेवाडराज्येशनिदेशतोऽयं गंभीरनद्यन्तिकनिर्मितायाम् ।
सयामिकायामुपकारिकायां सर्वप्रबन्धै विनिवेशितोऽभूत् ॥११॥

मेवाडाधिपति महाराणा सज्जनसिंह की आज्ञा से गंभीरी नदी के तट पर बनाए हुए तंबु में महर्षि को ठहराया गया; और सब प्रबन्ध करा के भील कम्पनी के एक गार्ड का पहरा लगवा दिया ॥११॥

उपाधिदानोत्सवसुप्रसङ्गे श्रीभारतेशो रिपनाख्य आयात् ।
चित्रोरुदुर्गे तदधीश्वरस्य सामन्तवीरै रसममागतस्य ॥१२॥

महाराणा को जी० सी० एस० आई० की उपाधिदान के महोत्सव का प्रसंग था। गवर्नर जनरल लॉर्ड रिपन वहां आए। श्रीयुत महाराणा सज्जनसिंहजी अपने सामन्त वीर और कर्मचारी सहित चित्तौडगढ में सुशोभित थे ॥१२॥

स्वाम्युक्तिपीयूषमपि प्रसङ्गात् पपु र्नरेन्द्राः श्रवणाञ्जुपाभ्यैः ।
निपीय यच्छाहपुरेश्वरस्तु प्रकामभक्तोऽजनि योगिराजः ॥१३॥

इस शुभ प्रसंग पर नरेन्द्र मण्डल कभी कभी परमहस की वाणीसुधा का भी कर्णपात्रों से पान करते; किन्तु उनमें शाहपुरा-नरेश राजाधिराज सर नाहरसिंहजी योगिराज का वचनामृत पान करके इन के परम भक्त बन गए ॥१३॥

प्रच्छन्नवेषोदयपुर्महेन्द्रो मुनीन्द्रवाणीं नृपधर्मलक्ष्याम् ।
श्रुत्वा सुकल्याणकरीञ्च दृष्ट्वा दिव्याकृतिं तस्य बभूव वश्यः ॥१४॥

महाराणा 'सज्जनसिंह' उदयपुराधीश गुप्त वेश से कल्याणकारिणी, राज धर्म सम्बन्धी मुनीन्द्र की वाणी सुन कर और इनकी दिव्याकृति देख कर इनके वशवद बन गए ॥१४॥

पीतो यथा शुक्लपटे सुलग्नः कुम्भे नवाम्भः कणिकानिमग्नाः ।
लोहं विकृष्टं सुमणे र्यथा स्यात् तथाऽस्य संगान्नृपहृन्मुमोह ॥१५॥

जैसे श्वेत वस्त्र पर पीला रंग अच्छा चढता है, जैसे नए घडे में नए जलकण पच जाते हैं और जैसे लोहचुम्बक से लोहा खींचा जाता है; ठीक उसी प्रकार ऋषि के संग से महाराणा का हृदय मुग्ध हो गया ॥१५॥

मेवाडभूस्वर्गपुरन्दरेण दुर्गे तदा दर्शितमादरेण ।
सतां वराद्यात्मरथेऽधिरोप्य प्रासादमालारुचिरं तमर्च्यम् ॥१६॥

मेवाड भूस्वर्ग के इन्द्र ने संतशिरोमणि को सम्मान सहित अपने रथ पर सवार करा कर राजमहलों से मनोहर सारा चित्तौडगढ दिखलाया ॥१६॥

समीक्ष्य पावित्र्यमसुष्य योगी गुरोः कुलं क्षत्रियबालकार्थम् ।
व्यचिन्तयच्चेतसि कर्तुमस्मिन् वेदोक्तशिक्षाव्रतसंग्रहाय ॥१७॥

इस किले की पवित्रता को देख कर योगी ने मन में विचार किया कि—"यहां क्षत्रिय पुत्रों के लिए वेदोक्त शिक्षा एवं व्रत के ग्रहणार्थ गुरुकुल बन जाय तो उत्तम हो" ॥१७॥

चित्तोद्दुर्गं चकितारिवर्गं निसर्गशोभायुतसौधसर्गम् ।
हिरण्यरेतोऽर्पितजीवनाभिः ख्यातञ्च पूतञ्च यदङ्गनाभिः ॥१८॥

इस दुर्ग ने शत्रुवर्ग को भयचकित कर दिया है, यहां के राजमहलों का निर्माण निसर्ग शोभायुक्त है, इस दुर्ग को वीरांगनाओं ने अग्निमें अपना जीवन अर्पण कर पवित्र एवं जगत्प्रसिद्ध बना दिया है ॥१८॥

क्षत्रावतंसै रविवंशहंसै र्महाप्रतापै रिपुदस्तापैः ।
या भूषिताऽभून्नृपभूः सुभूपैस्तद्रक्षिरूपं शुशुभे तदीड्यम् ॥१९॥

महाप्रतापी, शत्रुओं को तपानेवाले, सूर्य वंश के सूर्य क्षत्रियावतंस महाराणाओं ने जिस मेवाड भूमि को भूषित किया है: उस भूमि का यह प्रशंसनीय दुर्ग महान् रक्षक-रूप से शोभता था ॥१९॥

युग्मम् —

उद्यानकासारविराजितान्ता शैलालिकान्तालयहर्म्यरम्या ।
प्रासादचारूदयपूर्विशाला हस्त्यश्वमालाश्चितमंजुशाला ॥२०॥

मेवाड प्रान्त में शैल माला से सुन्दर, महालय और हवेलियों से मंडित, उद्यान, सरोवर और झरणों से सुशोभित, गजों और अश्वों की हारों मनोहर शालाओं से सम्पन्न प्रासाद आदि से मन हरनेवाली, विशाल उदयपुर राजधानी सुहाती थी ॥२०॥

पण्यैरगण्यै रुचिरापणाढ्या शालानिबद्धै र्गजवाजिरत्नैः ।
वीराग्रगण्यै श्च रथै श्च युक्ता योषेव सर्वाङ्गविभूषणाऽभात् ॥२१॥

असंख्य विक्रय पदार्थों से विभूषित बाजारों से सम्पन्न, अपनी अपनी शालाओं में बंधे हुए गजराजों और अश्वरत्नों से अलंकृत, विविध रथों युक्त और वीरश्रेष्ठों से मण्डित यह राजधानी अलंकारों से चमकते हुए सब अंगों वाली सुन्दर स्त्री की तरह शोभा देती थी ॥२१॥

क्रमेलकालि मरुभूमिनौका यस्यां वनौका विचचार चारम् ।
दुर्गाद्रिमार्गक्रमणाय मार्गे मार्गे विरेजे शिबिका नृवाह्या ॥२२॥

इस नगरी में मरुभूमि की नौका की तरह वन्य ऊँटों की माला तथा दुर्गम पहाड़ी मार्गों को लांघने के लिए मनुष्य वाह्य पालकियां प्रत्येक मार्ग पर विराजती थीं ॥२२॥

आनीयतास्यां शिबिकागजाद्यै र्वाहै र्यतीन्द्रः सहशिष्यभृत्यैः ।
निवासितस्सज्जनभव्यवासे नव्योत्तमारामतडागरम्ये ॥२३॥

ब्रह्मचारी रामानन्द, स्वामी आत्मानन्द, पं. भीमसेन तथा दो सेवकों सहित यतीन्द्र को पालकी एवं हाथी आदि वाहन द्वारा इस राजधानी में लाया गया । ११ अगस्त १८८२ को इन्हें नौलखा बागमें उत्तम वृक्ष और सरोवरों से शोभित 'सज्जन-निवास' नामक राजमहल में उतारा गया ॥२३॥

पुरातनार्येन्द्रनिभो नरेन्द्रः प्रष्ठश्चलन् सज्जनसिंह ईड्यः ।
पुरोहितैर्मन्त्रिगणैः प्रजाभिः समंसमायान्मुनिदर्शनेच्छुः ॥२४॥

प्राचीन आर्यसम्राट् के तुल्य प्रशसनीय महाराणा सज्जनसिंह जी पुरोहितों, मंत्रियों और प्रजाजनों के साथ सब से आगे चलते हुए मुनीन्द्र के दर्शन की कामना से वहां आए ॥२४॥

यतेरुपान्तं समुपेत्य भक्त्या तदंघ्रिनम्रः कुशलानुयोगैः ।
मेवाडसम्राडुपविश्य पीठे संभाष्य किञ्चिन् न्यवृतत्सताऽयम् ॥२५॥

मुनीन्द्र के समीप आकर भक्ति से मेवाडसम्राट् ने इन के चरणों में प्रणाम किया और आसन पर बैठ कर कुशल समाचार पूछा । वे कुछ समय तक परमहम से सभाषण कर लौट गए ॥ २५ ॥

प्रगेऽनिशं सज्जनसिंहभूपः प्रागाद् दयानन्दयतेः पदान्ते ।
वेदोक्तविद्यामृतपानकांक्षी गुरोर्वसिष्ठस्य यथा स रामः ॥२६॥

महाराणा सज्जनसिंह प्रतिदिन प्रातःकाल स्वामी दयानन्द सरस्वती के चरणों में जाया करते और इन से वेदोक्त ज्ञानमृत ग्रहण करते जैसे रामचन्द्र गुरुदेव वसिष्ठ से ॥२६॥

सुराजनीतीः शुभधर्मरीतीः श्रेष्ठान्महाभारतकाव्यभागात् ।
मनुस्मृतेश्चापि यथाप्रसंगं तं बोधयामासनृपं मुनीन्द्रः ॥२७॥

मेवाड भूस्वर्ग के इन्द्र ने संतशिरोमणि को सम्मान सहित अपने रथ पर सवार करा कर राजमहलों से मनोहर सारा चित्तौडगढ दिखलाया ॥१६॥

समीक्ष्य पावित्र्यमसुष्य योगी गुरोः कुलं क्षत्रियबालकार्थम् ।
व्यचिन्तयच्चेतसि कर्तुमस्मिन् वेदोक्तशिक्षाव्रतसंग्रहाय ॥१७॥

इस किले की पवित्रता को देख कर योगी ने मन में विचार किया कि—"यहां क्षत्रिय पुत्रों के लिए वेदोक्त शिक्षा एवं व्रत के ग्रहणार्थ गुरुकुल बन जाय तो उत्तम हो" ॥१७॥

चित्तोडदुर्गं चकितारिवर्गं निसर्गशोभायुतसौधसर्गम् ।
हिरण्यरेतोऽर्पितजीवनाभिः ख्यातञ्च पूतञ्च यदङ्गनाभिः ॥१८॥

इस दुर्ग ने शत्रुवर्ग को भयचकित कर दिया है, यहां के राजमहलों का निर्माण निसर्ग शोभायुक्त है, इस दुर्ग को वीरांगनाओं ने अग्निमें अपना जीवन अर्पण कर पवित्र एवं जगप्रसिद्ध बना दिया है ॥१८॥

क्षत्रावतंसै रविवंशहंसै र्महाप्रतापै रिपुदत्तापैः ।
या भूषिताऽभून्नृपभूः सुभूपैस्तद्रक्षिरूपं शुशुभे तदीड्यम् ॥१९॥

महाप्रतापी, शत्रुओं को तपानेवाले, सूर्य वंश के सूर्य क्षत्रियावतंस महाराणाओं ने जिस मेवाड भूमि को भूषित किया है; उस भूमि का यह प्रशंसनीय दुर्ग महान् रक्षक-रूप से शोभता था ॥१९॥

युग्मम् —

उद्यानकासारविराजितान्ता शैलालिकान्तालयहर्म्यरम्या ।
प्रासादचारूदयपूर्विशाला हस्त्यश्वमालाश्रितमंजुशाला ॥२०॥

मेवाड प्रान्त में शैल माला से सुन्दर, महालय और हवेलियों से मंडित, उद्यान, सरोवर और झरणों से सुशोभित, गजों और अश्वों की हारों मनोहर शालाओं से सम्पन्न प्रासाद आदि से मन हरनेवाली, विशाल उदयपुर राजधानी सुहाती थी ॥२०॥

पण्यैरगण्यै रुचिरापणाढ्या शालानिबद्धै र्गजवाजिरत्नैः ।
वीराग्रगण्यै श्च रथै श्च युक्ता योषेव सर्वाङ्गविभूषणाऽभात् ॥२१॥

असंख्य विक्रय पदार्थों से विभूषित बाज़ारों से सम्पन्न, अपनी अपनी शालाओं में बंधे हुए गजराजों और अश्वरत्नों से अलंकृत, विविध रथों युक्त और वीरश्रेष्ठों से मण्डित यह राजधानी अलंकारों से चमकते हुए सब अंगों वाली सुन्दर स्त्री की तरह शोभा देती थी ॥२१॥

क्रमेलकालि मरुभूमिनौका यस्यां वनौका विचचार चारम् ।
दुर्गाद्रिमार्गक्रमणाय मार्गे मार्गे विरेजे शिबिका नृवाह्या ॥२२॥

इस नगरी में मरुभूमि की नौका की तरह वन्य ऊँटों की माला तथा दुर्गम पहाड़ी मार्गों को लांघने के लिए मनुष्य वाह्य पालकियां प्रत्येक मार्ग पर विराजती थी ॥२२॥

आनीयतास्यां शिबिकागजाद्यै र्वाहै र्यतीन्द्रः सहशिष्यभृत्यैः ।
निवासितस्सज्जनभव्यवासे नव्योत्तमारामतडागरम्ये ॥२३॥

ब्रह्मचारी रामानन्द, स्वामी आत्मानन्द, प. भीमसेन तथा दो सेवकों सहित यतीन्द्र को पालकी एवं हाथी आदि वाहन द्वारा इस राजधानी में लाया गया । ११ अगस्त १८८२ को इन्हें नौलखा बागमें उत्तम वृक्ष और सरोवरों से शोभित 'सज्जन-निवास' नामक राजमहल में उतारा गया ॥२३॥

पुरातनार्येन्द्रनिभो नरेन्द्रः प्रष्ठश्चलन् सज्जनसिंह ईड्यः ।
पुरोहितैर्मन्त्रिगणैः प्रजाभिः समंसमायान्मुनिदर्शनेच्छुः ॥२४॥

प्राचीन आर्यसम्राट् के तुल्य प्रशसनीय महाराणा सज्जनसिंह जी पुरोहितों, मंत्रियों और प्रजाजनों के साथ सब से आगे चलते हुए मुनीन्द्र के दर्शन की कामना से वहां आए ॥२४॥

यतेरुपान्तं समुपेत्य भक्त्या तदंघ्रिनम्रः कुशलानुयोगैः ।
मेवाडसम्राडुपविश्य पीठे संभाष्य किञ्चिन् न्यवृतत्सताऽयम् ॥२५॥

मुनीन्द्र के समीप आकर भक्ति से मेवाडसम्राट् ने इन के चरणों में प्रणाम किया और आसन पर बैठ कर कुशल समाचार पूछा । वे कुछ समय तक परमहस से सभाषण कर लौट गए ॥ २५ ॥

प्रगेऽनिशं सज्जनसिंहभूपः प्रागाद् दयानन्दयतेः पदान्ते ।
वेदोक्तविद्यामृतपानकांक्षी गुरोर्वसिष्ठस्य यथा स रामः ॥२६॥

महाराणा सज्जनसिंह प्रतिदिन प्रातःकाल स्वामी दयानन्द सरस्वती के चरणों में जाया करते और इन से वेदोक्त ज्ञानमृत ग्रहण करते जैसे रामचन्द्र गुरुदेव वसिष्ठ से ॥२६॥

सुराजनीतीः शुभधर्मरीतीः श्रेष्ठान्महाभारतकाव्यभागात् ।
मनुस्मृतेश्चापि यथाप्रसंगं तं बोधयामासनृपं मुनीन्द्रः ॥२७॥

मुनीन्द्र महाराणा को प्रसंगानुसार मनुस्मृति में से तथा श्रेष्ठ महाभारत महाकाव्य में से उत्तम राजनीति एवं शुभ धर्मरीतियां समझाया करते थे ॥२७॥

उपासनारीतिमजस्य विष्णोः सप्राणरोधं प्रणवस्य चिन्ताम् ।
प्राज्ञाप्य यज्ञं तमयं प्रचक्रे पूर्णार्यशीलं खलु लोकपालम् ॥२८॥

महर्षि ने उस लोकपाल को सर्व व्यापक, अजन्मा, विष्णु परमात्मा की उपासना की रीति, प्राणायाम पूर्वक ओंकार का ध्यान तथा अग्निहोत्रा दि यज्ञ-प्रणाली सिखला कर सचमुच पूर्ण आर्य शीलसम्पन्न बना दिया ॥२८॥

कार्यक्रमं कालविभागकार्यं ध्रुवं नियम्यायमृषिप्रभावात् ।
यन्तेन्द्रियाणामिव स प्रजानामादर्शरूपोऽजनि चारुभूपः ॥२९॥

यह महाराणा अपनी दिनचर्या का कार्यक्रम नियत करके महर्षि के सत्संगप्रभाव से इन्द्रियों के नियन्ता के तुल्य प्रजाओं का नियामक बन कर आदर्श भूपालक बन गया ॥२९॥

य एकलिंगेश्वरपूजकोऽपि बभावलिंगेश्वरचिन्तकोऽलम् ।
मनुस्मृति दर्शनशास्त्रयोगं प्राध्यैत योगेश्वरतो विनीतः ॥३०॥

यह महाराणा एक लिंगेश्वर का पूजक हो कर भी निराकर ईश्वर का उपासक बन गया और विनीत हो कर योगीश्वर से मनुस्मृति तथा योगदर्शन पढता रहा ॥३०॥

प्रजासु राजानुगुणा प्रवृत्तिः पुण्येान्मुखी संघवृते क्रमेण ।
राजा यथा स्यात्प्रकृतिस्तथेतियद्राज्यआसीच्छुभशंसि वृत्तम् ॥३१॥

प्रजाओं में क्रमशः राजानुकूल पुण्येान्मुखी प्रवृत्ति प्रारंभ हुई; "यथा राजा तथा प्रजा" यह कल्याण सूचक वृत्त इसके राज्य में था ॥३१॥

मेवाडराज्यावनिपालसूर्यः सूर्यान्वयः सज्जनसिंहधर्मा ।
महर्षिशिक्षाहतवेदधर्मः स्वराष्ट्रकर्मावनलब्धधर्मा ॥३२॥

मन्त्रीश्वरैश्चारु स मन्त्रयित्वा प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा ।
अरण्यानया स्वानि च यन्त्रीयित्वा चक्रे फलाढ्यं निजगाम राजा ॥३३॥

मेवाड राज्य के भूमिपालों में सूर्य समान, सूर्य वंशी सज्जनसिंह वर्मा ने महर्षि की शिक्षा से वेदधर्म का आदर किया और स्वराष्ट्र-पालन से सुख प्राप्त किया। इस राजा ने मंत्रीश्वरों के साथ सम्यक् मंत्रणा करके स्वपुत्र तुल्य प्रजा का शासन किया तथा महर्षि की आज्ञा से इन्द्रियों को संयम में रख कर अपना नाम सफल किया ॥३२-३३॥

ऐश्वर्ययोगादभवत्प्रमादी पुरर्षिसंगात्तु जितेन्द्रियस्सन् ।
आध्यात्मिकैश्वर्यमवाप्य भूपः श्रीकृष्णवद् राष्ट्रमयं शशास ॥३४॥

प्रथम यह राणा ऐश्वर्य के कारण प्रमादी था परन्तु अब ऋषि के संग से जितेन्द्रिय होकर इसने आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्राप्त किया और श्रीकृष्णचन्द्र तुल्य राष्ट्र पर शासन किया ॥३४॥

गोवर्द्धनाद्रिं भ्रमणाय योगी ययौ सरस्तीरपथेन नित्यम् ।
निवृत्य पद्माकरवारि पद्मा—समस्थसन्ध्यां विदधौ स जातु ॥३५॥

योगीश्वर सदा भ्रमण के लिए 'गोवर्धन विलास' पर्वत पर सरोवर के किनारे किनारे जाया करते और लौट कर वे कभी २ सरोवर के जल पर पद्मासनस्थ हो संध्या करते ॥३५॥

कदाचिदाक्रीडसुवेदिकायां समाधिलीनोऽमृतपानपीनः ।
आदित्यतेजोजिदतिग्मतेजा रराज राजा यमिनां मनोज्ञः ॥३६॥

और कभी आदित्य ब्रह्मचर्य के तेज से सूर्य को जीतने वाले मनोहर संयमी सम्राट् 'नौलखा' बाग के चबूतरे पर समाधिमग्न हो कर आनन्दामृतपान से तृप्त हुए विराजते थे ॥३६॥

अत्रान्तरेऽत्रागमदेकभिक्षु र्निक्षिप्य चक्षुर्वदने मुमुक्षोः ।
बालार्ककान्ते द्विजराजशान्ते साधोरुपान्तेऽ स्थित चित्रमूर्त्तिः ॥३७॥

एक दिन इस समाधि के समय एक भिक्षु आया और वह इन मुमुक्षु के बालारुण प्रभामय, चन्द्रमा सम शान्त मुखमण्डल पर चक्षु फेंक कर इन सन्त के उपान्त में चित्रमूर्ति सा खडा रहा ॥३७॥

सर्वाङ्गसौन्दर्यसुवर्णमूर्त्तेः प्रकाशपुञ्जप्रथिताङ्गकीर्त्तेः ।
सौन्दर्यमाधुर्यसुधां यतेस्समातृप्तनेत्रैरपिबन् नितान्तम् ॥३८॥

सर्वांग सौन्दर्य सम्पन्न सुवर्ण सी मूर्त्ति वाले, प्रकाश पुञ्ज से दीप्त अंगों की ख्याति वाले यतीन्द्र की सौन्दर्य और माधुर्य सुधा को अतृप्त नेत्रों से उस साधु ने अतिशय पान किया॥ ३८॥

समाधिभूमेरवतार्य वृत्तिं मुहूर्त्ततो ब्रह्मरतिर्महात्मा ।
मञ्जुस्वरेण प्रणवं जपन्त्सन् नेत्राम्बुजे संविदधे प्रफुल्ले ॥३९॥

ब्रह्मरति महात्माने एक मुहूर्त के अनन्तर समाधि-भूमिका से वृत्ति को उतार कर मधुर स्वर से प्रणव-जप करते हुए प्रफुल्ल नेत्रकमल खोले ॥३९॥

अवन्दताऽऽगन्तुक एष वन्द्यं विप्रो विहारी यतिवेषधारी ।
अबुद्ध देवालपनैरथासौ सोऽयं दयानन्दसरस्वतीति ॥४०॥

यति-वेश धारी, विहारी इस आगन्तुक ब्राह्मण ने विश्व वन्द्य का वन्दन किया और देव के साथ संभाषण से उसने जान लिया कि 'यही दयानन्द सरस्वती जी हैं' ॥४०॥

जगाद चैनं भगवन् द्विजोऽहं विहारदेशोद्भव आप्तविद्यः ।
वेदान्तशास्त्रे विहितश्रमोऽलं विहाय गेहं विचराम्यरक्तः ॥४१॥

और इनसे कहा कि भगवन् ! मैं विहार देशवासी ब्राह्मण हूं, मैंने विद्या पढी है; वेदान्त शास्त्र में मेरा अधिक परिश्रम है; मैं घर त्याग कर विरक्त सा भ्रमण करता हूं ॥४१॥

आनन्दशेर्मं सहजादिनाम सन्यासिवेषश्च भजन्त्सुदूरात् ।
श्रीमत्समज्ञां विमलां निशम्य श्रीलाङ्घ्रिकञ्जे भ्रमरायतेऽलम् ॥४२॥

मेरा नाम सहजानन्द है, मैंने सन्यासी वेश धारण किया है; मैं सुदूर देश से भगवान की विमल कीर्ति सुन कर आया हूं; आपके चरण कमल का मैं भ्रमर हूं ॥४२॥

देवाऽनुकम्प्यो भवताऽयमस्मै सन्यासदीक्षां विधिवत् प्रदाय ।
शिष्योऽयमेनं च विधाय शिष्यं शरण्यराजन्नुच्छरणं प्रपन्नम् ॥४३॥

हे देव ! मुझे विधिवत् सन्यास-दीक्षा देकर अनुगृहीत कीजिए; और हे शरण्य राजन् ! शरण आए हुए इसे शिष्य बना कर आप उपदेश दीजिए ॥४३॥

वाञ्छा यदीदृग् वस वत्स ! पार्श्वे दातास्मि दीक्षां तव भिक्षुरक्ष्याम् ।
प्राप्ते तु काले शुचिभव्यभाले द्योतिष्यते ते यतिधर्मतेजः ॥४४॥

स्वा०—"हे वत्स ! यदि तेरी ऐसी इच्छा है तो मेरे पास रह । मैं तुझे सन्यासी की दीक्षा दूंगा; समय आने पर तेरे पवित्र भव्य भाल में यति धर्म का तेज चमकेगा ॥४४॥

इत्युक्तिमाकर्ण्य स वर्णिराजः प्राज्यप्रमोदोऽवसदन्तिकेऽस्य ।
परीक्षितोऽसौ यतितां यतीन्द्रात् कालेन लेभे जनमंगलार्हाम् ॥४५॥

ब्रह्मचारी सम्राट् की इस वाणी को सुन कर अति प्रसन्न होकर वह इन के पास रहा। इस की परीक्षा लेने पर यतीन्द्र ने कुछ काल के अनन्तर जन-मंगल-कारिणी संन्यास-दीक्षा इसे दी ॥ ४५ ॥

नक्तंदिनं सद्गुरुसंगतेऽयं भासं गतो ब्रह्मगशीललभ्याम् ।
आदर्शयोगीश्वरयोगभूतिं मुहुर्मुहुर्वीक्ष्य विशोधितात्मा ॥४६॥

रात दिन सद्गुरु की संगति से इसने ब्रह्मज्ञानी के शील की कान्ति प्राप्त की; बारंबार आदर्श योगीश्वर की योग विभूति देख कर इसने अपने आत्मा को विशुद्ध बना लिया ॥४६॥

सुदीर्घकालं स्वसमाधिमिच्छन् द्वारं पिधायात्मगृहस्य योगी ।
तस्थौ परब्रह्मणि लीनचेता जातु प्रचेता इव लोकनेता ॥४७॥

कभी प्रचेता वरुण के समान लोक नेता योगीश्वर दीर्घ काल तक समाधि की इच्छा से अपने घर का द्वार बन्द कर के परब्रह्म में लीन होकर बैठ जाते ॥४७॥

गुरोर्निदेशे स्थित एष दृष्ट्वा गवाक्षतो योगदशामपूर्वाम् ।
कान्तिं लसन्तीं च मुखेऽस्य दिव्यां श्रद्धां ह्यनन्तां सहजोऽत्रबध्ने ॥४८॥

गुरु की आज्ञा में यह शिष्य 'सहजानन्द' झरोखे से इन की अपूर्व समाधि का दर्शन कर एवं उस समय की मुखमण्डल पर चमकती दिव्य कान्ति का पान कर गुरुदेव में अनन्त श्रद्धा धारण करता ॥४८॥

स्वान्तं महर्षेः स्फटिकाभमासीदस्मिन्मनुष्यान्तरभावबिम्बम् ।
संक्रान्तमाभादिति युक्तचेताः परोक्षवृत्तं समवैदशङ्कम् ॥४९॥

महर्षि का हृदय स्फटिक मणि तुल्य था, इस में मनुष्यों के आंतरिक भावों का प्रतिबिम्ब पडता था अतः समाधि से ये निःशंक परोक्ष वृत्तान्त जान लेते ॥४९॥

सत्संगगोष्ट्यां नृपमाद्यदायों राजन् बुधः सुन्दरलाल येता ।
श्व एष गोयुक्करथेन यस्मिन्नेकोऽरुणाङ्को ह्यपरश्च शुक्लः ॥५०॥

एक दिन सत्संग-सभा में परमहंस ने महाराणा से कहा कि 'राजन् ! कल ही पं. सुन्दरलालजी दो बैल की गाडी से आवेंगे; उस गाडी में एक बैल लाल भब्बे वाला और दूसरा श्वेत वर्ण का है ॥५०॥

राजोत्तरेद्युः शकटे नियुक्तौ यथोक्तवर्णौ वृषभौ विलोक्य ।
सविस्मयो योगविभूतिभाजि स्वामीश्वरे भक्तिभरं बभार ॥५१॥

दूसरे दिन महाराणा ने योगीश्वर के कथनानुसार गाडी में जोडे हुए दो बैलों को देख कर आश्चर्य के साथ योगविभूति को धारण करने वाले परमहंस में अतिशय भक्ति धारण की ॥ ५१ ॥

श्रीविष्णुजो मोहनलालशर्मा नक्तंसदाऽध्येष्ट महामुनेस्तत् ।
वैशेषिकाद्यं सहितस्त्वमित्रैः सुदर्शनं तत्त्वनिदर्शनं सः ॥५२॥

श्री मोहनलाल विष्णु पण्डया, जगन्नाथ भारखण्डी आदि सज्जन मित्रों के साथ रात्रि को महामुनि के पास सदा तत्त्व दर्शक वैशेषिक आदि दर्शन ग्रथ पढा करते थे ॥५२॥

सद्धर्मभाषाशुभलक्ष्यसाम्यं काम्यं स्वदेशोन्नतिकांक्षिलोकैः ।
नरेन्द्रवर्गो निजराज्य ऐक्यं सृजेदवश्यं त्रिषु भूतिकामः ॥५३॥

एक दिन पंडया ने महाराज से प्रश्न किया कि भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति कब होगी ? महर्षि ने उत्तर दिया—"स्वदेश की उन्नति चाहने वाले सज्जनों को एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाना चाहिए; इसलिए भारत के नृप गण अपने २ राज्य में अभ्युदय की कामना से धर्म, भाषा और भाव में एकता उत्पन्न करें ॥५३॥

वेदोदिताचारविचारहीना दीनार्यजाति र्दुरिताब्धिमीना ।
नेतुः प्रमादादिति खण्डनास्त्रै रोगापहारो भिषजैव कार्यः ॥५४॥

वेदोदित आचार विचार से हीन आर्य जाति नेता के प्रमाद के कारण दीन बन कर पापसागर की मीन (मछली) बन गई है; इस लिए चिकित्सक बन कर मेरे जैसे सन्यासी को खण्डनरूपी शस्त्रक्रिया (औपरेशन) द्वारा जातीय शरीर के रोग को बाहर निकाल कर उसे स्वस्थ बनाना चाहिए ॥५४॥

गालीष्टकाग्रावविषादिकष्टं सोढं यदर्थं मयकार्यदक्षम् ।
मनुष्यजातेरुदयाय धीमन् ! न स्वार्थसिद्ध्यै खलु मे प्रवृत्तिः ॥५५॥

जिस के लिए मैंने हिन्दु लोगों की गालियां, ईंट, पत्थर और विष आदि का कष्ट तक सहन किया। पण्डयाजी यह मेरी प्रवृत्ति जाति और धर्म के उदय के लिये ही है; इस में मेरा कोई स्वार्थ नहीं है ॥५५॥

इत्थं ददौ मोहनलालपृष्ट—प्रश्नोत्तरं भारतभूनृहंसः ।
स उक्तवान् यद् यदि देशिकास्स्युर्द्वित्रास्त्वदाभा उदयोऽस्य नूनम् ॥५६॥

इस प्रकार भारत माता के सुपुत्र-सूर्य ने पंडयाजी के प्रश्नों का उत्तर दे दिया। पण्डयाजी बोले—"सचमुच ! ! ! यदि आप जैसे दो तीन धर्माचार्य हों तो इस भारत का निश्चित अभ्युदय हो जाय" ॥५६॥

अथैकदा सज्जनसिंहभूपो मिथोऽवदद् योगिवरं विनम्रः ।
नरेन्द्रनीत्याः प्रतिकूलमेतन् निषेधनीयं प्रतिमार्चनं नो ॥५७॥

एक दिन महाराणा सज्जनसिंह ने एकान्त में नम्रता पूर्वक योगिराज से कहा कि—"भगवन् ! राजनीति के सिद्धान्त के अनुसार आप को मूर्तिपूजा का खण्डन न करना चाहिए" ॥५७॥

अंगीकृता मे गुरुणाऽर्थना स्याच्चेदेकलिंगेश्वर मन्दिरस्य ।
महाधिपत्यं भवते समर्प्य राज्यं स्वराज्यं पदयोर्निदध्याम् ॥५८॥

"यदि गुरुदेव मेरी प्रार्थना को स्वीकार करें तो एक लिंगेश्वर मंदिर के महन्त का अधिकार मैं आप को सौंप दूं और यह विशाल राज्य भी मैं आपके चरणों में धर दूं" ॥५८॥

मन्येत राज्यस्य गुरुर्भवान् हि प्राप्येत सम्पद् विपुला सपूजम् ।
सेवार्थमेते वयमुद्यताः स्मः प्रकामभक्तिप्रवणास्त्वदंघ्रौ ॥५९॥

"आप राज्य के गुरु माने जावेंगे और पूजा सहित सारी सम्पत्ति आप की हो जावेगी; और हम सब अतिशय भक्ति पूर्वक आपके चरणों की सेवा में तत्पर रहेंगे" ॥५९॥

शान्तः प्रकृत्यापि तपोनिधिस्स प्रवृद्धमन्युः शतमन्युमान्यः ।
प्रोवाच मेघध्वनिधीरवाचा वाचां पतिस्तं नृपतिं तदैवम् ॥६०॥

प्रकृति से शान्त होते हुए भी नरेन्द्र वन्दनीय, तपोनिधि सरस्वतीश्वर दयानन्द क्रोधित होकर मेघनाद तुल्य गंभीर वाणी से महाराणा को इस प्रकार कहने लगे ॥६१॥

प्रलोभनं तुच्छमिदं प्रदर्श्य प्रभोर्महेशाद् विमुखं नु कर्तुम् ।
मां वांछति ब्रह्मपितुः शुभाज्ञा—भंगं भवान् कारयितुञ्च मत्तः ॥६१॥

"हे महाराणा ! आप मुझे यह तुच्छ प्रलोभन दिखाकर महेश्वर प्रभु से विमुख करने के लिए परब्रह्म पिता की शुभ आज्ञा का मुझ से भंग कराना चाहते हैं ?" ॥६१॥

तवाल्पराज्या न्नृप ! मन्दिरान्ताद् रथेन धावन् बहिरद्य यायाम् ।
परं परेशस्य विशालराज्यादनन्तवर्षैरपि नैतुमीशः ॥६२॥

"आपके मन्दिर सहित अल्प राज्य से यदि मैं वेग की दौड लगाऊं तो आज ही बाहर हो सकता हूं किन्तु परमेश्वर के विशाल राज्य में से अनन्त वर्षों तक भी दौड कर मैं बाहर नहीं जा सकता" ॥६२॥

समग्रमैश्वर्यमपि त्रिलोक्यास्त्रिलोकनाथाद् विमुखं विधातुम् ।
ईष्टे न कष्टं लघुजीवनान्तं स्वान्तञ्च तन्मे किमु तेऽल्पराज्यम् ॥६३॥

"त्रिलोकी का सम्पूर्ण ऐश्वर्य भी मुझे त्रिलोकनाथ से पराङ्मुख नहीं कर सकता एक प्रिय प्राणान्त कष्ट भी मेरे मन को नहीं डिगा सकता तो आपके इस तुच्छ राज्य की क्या गणना ! !" ॥६३॥

न साहसं जातु नरेन्द्र वक्तुं भूयस्त्वमीदृग् वचनं तु कुर्याः ।
धर्मध्रुवां मे धियमीशभक्तां न वस्त्वलं ध्वंसयितुं स्वभूजम् ॥६४॥

"राजेन्द्र ! फिर कभी आप ऐसा वचन कहने का साहस न करें, आप सच जानिए कि मेरी धर्म में ध्रुव, ईश-भक्ति में बंधि हुई बुद्धि को आकाश और भूमि की कोई भी वस्तु मार्ग भ्रष्ट नहीं कर सकती" ॥६४॥

'सत्यांशुदीप्तं यतिवक्त्रभानुं निभाल्य भूपश्चकितस्तमूचे ।
क्षम्यं ममेदं भगवन् सुधाष्टर्यं द्रष्टुं मया दार्ढ्यमकारि बुद्धेः ॥६५॥

सत्य-प्रकाश देदीप्यमान यतीन्द्र के मुखमार्तण्ड को निहार कर महाराणा भयभीत होकर बोले कि—'भगवन! मेरी इस धृष्टता के लिए मुझे क्षमा कीजिए: मैंने आप की बुद्धि की दृढता की परीक्षा की है' ॥६५॥

अद्याजनि प्रत्यय एष पूर्णः संसारजः कोऽपि हि नो पदार्थः ।
श्रीमन्ममोनिश्चयशैलराजं विचालयेद् वज्रगुरो ममैवम् ॥६६॥

हे वन्दनीय गुरुदेव! आज मुझे यह पूर्ण विश्वास हो गया कि संसार का कोई भी पदार्थ निश्चित् ही आपके मनोनिश्चय-पर्वतराज को विचलित न कर सकेगा ॥६६॥

अथोदयाधीश उपांशु देवं जगाद संदर्शयितुं विभूतिम् ।
तत्सत्यतायां बहु संदिहानः कदाचिदेकामपि योगलभ्याम् ॥६७॥

अनन्तर उदयपुराधीश्वर ने एक दिन एकान्त में भगवान से कहा कि—योगविभूति की सत्यता में मुझे बहुत सन्देह है; अतः आप कोई एक यौगिक सिद्धि दिखाइए ॥६७॥

उद्यानपाला नरपालहंसः प्रासादसद्यानभुवोऽपसार्य ।
आदेशतोऽस्याम्बरयानसिद्धिं दिदृक्षुरस्थाद् यमिनः पुरस्तात् ॥६८॥

संयमीश्वर ने राजमहल के उद्यान-प्रदेश में से मालियों को हटा देने के लिए महाराणा से कहा; इन के आदेश से नरपाल-हंस ने मालियों को हटा दिया और आकाश-गमनकी सिद्धि को देखने की आतुरता से परमहंस के सामने खड़े रहे ॥६८॥

कायाभ्रयोः संयमनालघुत्वं तूलेन तुल्यं सम्वाप्य योगी ।
वेद्या उदञ्चन्नृपमन्दिराग्रं प्रगम्य विष्वक्क्रममशोऽभ्रमत्सः ॥६९॥

योगीश्वर शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम कर और हलके रुई के फोये में संयम द्वारा होकर राज-मंदिर के चबूतरे से धीरे २ उपर उठते हुए महल के शिखर पर गए और उस के चारों ओर उन्होंने एक परिक्रमा की ॥६९॥

आगम्य तस्यां पुनरेव वेद्यां संकल्पगामी कमलासनस्थः ।
रेजेऽपनीय भ्रममस्य राज्ञो विभूतियाथार्थ्यनिरीक्षकस्य ॥७०॥

पद्मासनस्थ, संकल्पगामी स्वामीजी फिर उसी चबूतरे पर उतर कर सुशोभित हुए और विभूति की सत्यता के निरीक्षक मेवाड सम्राट् का भ्रम इन्हों ने दूर किया ॥७०॥

योगेश्वरस्याद्भुतयोगसिद्धिं वेदार्थबुद्धिं वपुषः समृद्धिम् ।
विनिस्पृहत्वञ्च विलोक्य राजा सर्वात्मनाऽस्निग्धतविस्मितोऽस्मिन् ॥७१॥

अति विस्मित महाराणा योगेश्वर की अद्भुत योगसिद्धि, वेदार्थ-बुद्धि देह की समृद्धि और निःस्पृहता देख कर अति भक्ति से इन पर स्नेह करने लगे ॥७१॥

निन्ये यतीन्द्रो विजयादशम्यां राज्ञोत्सवे मानपुरस्सरं सः ।
तुलायवस्तप्रलयं निशम्य न्यायं ययाचे नमयं पशूनाम् ॥७२॥

दशहरे के दिन चित्तौड़नरेश यतीन्द्र को सम्मान सहित विजयोत्सव में ले गए; उस दिन भैसों और बकरों का वध सुनकर महर्षि ने महाराणा के पास पशुओं के न्याय की याचना की ॥ ७२ ॥

अमंस्त हिंसामघमेष राजा मन्दं निरोद्धुं नयतश्च मन्दम् ।
तमभ्यनन्दन्मुनिरप्यमन्दं नयज्ञचन्द्रं विनयाम्बुराशिम् ॥७३॥

महाराणा हिंसा को पाप मानते थे; अतः धीरे २ नीति से हिंसा बन्द करने का उन्होंने स्वीकार किया; अतः विनय के सागर नयज्ञचन्द्र महाराणा को मुनीन्द्र ने अत्यन्त अभिनन्दन दिया ॥७३॥

नवं नवं वस्त्रमणिप्रधार्य दिनेदिने राजसभां नरेन्द्रः ।
जयोत्सवार्थं प्रययौ निवृत्य स्वामीन्द्रसंगं प्रणतश्च चक्रे ॥७४॥

प्रतिदिन नरेन्द्र नये २ उत्तम वस्त्र और अलंकार धारण कर के विजयोत्सव मनाने के लिए राज सभामें जाते और लौट कर स्वामीन्द्र को वन्दन करके इनका सत्संग करते ॥ ७४ ॥

बृहन्मखं कारयितुं तदैषीदपि नृपेणेति समग्रहव्यैः ।
विप्रैश्च विज्ञैः प्रबबन्ध भूपः पूर्णाहुतिं यस्य चकार हस्तैः ॥७५॥

महर्षि महाराजा द्वारा बृहत्यज्ञ करवाना चाहते थे; अतः राणा ने विप्रों एवं विद्वानों द्वारा समग्र हवन सामग्री का प्रबन्ध किया तथा यज्ञ आरम्भ कर दिया उसकी पूर्णाहुति राणाने अपने हाथों से की ॥७५॥

राज्येऽस्य राजन्यकुमारशिक्षा-शालां विधातुं मुनिरादिदेश ।
शस्त्रस्य शास्त्रस्य च शिक्षणार्थं प्राचीनशिक्षाक्रमतो महीशम् ॥७६॥

महामुनि ने इन के राज्य में प्राचीन शिक्षाक्रमानुसार शास्त्रों और शस्त्रों के शिक्षणार्थ राजकुमार विद्यालय निर्माण करने के लिए महाराणा को आदेश किया ॥७६॥

भक्त्या बभारात्मविदां वरस्य मालामिवाज्ञां शिरसा प्रजेशः ।
विद्यालयालेख्यमपि व्यलेखीत् परं गदाक्रान्ततयाऽस्य शान्तम् ॥७७॥

प्रजेश्वर ने आत्मज्ञानीश्वर की आज्ञा को पुष्पमाला की तरह भक्ति पूर्वक मस्तक पर धारण किया; और विद्यालय का मानचित्र भी उन्हों ने तैयार करवाया; परन्तु बाद में उनके रोगाक्रान्त हो जाने से विद्यालय का निर्माण बन्द रहा ॥७७॥

दयानन्ददिग्विजयम् - चित्र सं. १०.

— ऋषि दयानन्द मृत्यु शय्यापर —

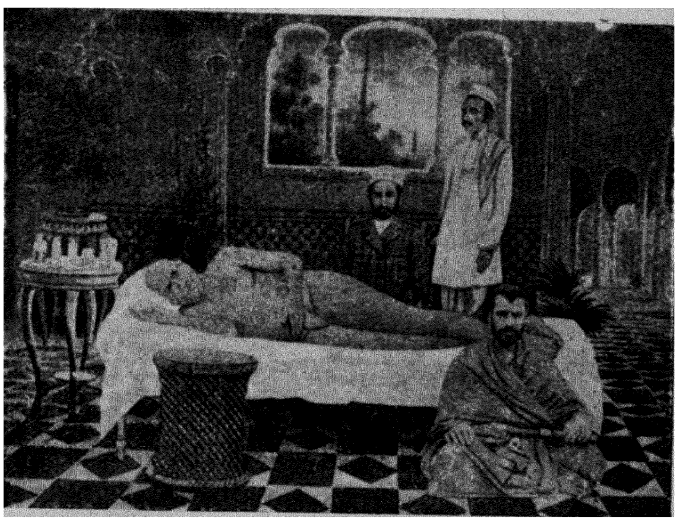

भगवंस्तव हास्तिनी तनू र्गदसिंहेन निहिंसिता भृशम् ।
घनलेाहमयी व्रणाङ्किता श्रयतीयं खलु चालनी श्रियम् ॥२७-७२, ७३॥

महामुनिश्चारणपाठशाला— विद्यार्थिविद्यां प्रमुदा परीक्ष्य ।
प्रदाय मोदानिव मोदकान् स तेभ्यो ददौ मुक्तिसुधां सुभद्राम् ॥७८॥

महामुनि ने चारण पाठशाला के विद्यार्थियों की एक दिन परीक्षा ली और उनको प्रमोद की तरह मोदक (लड्डू) खिलाए और उपदेश दिया कि वेद वेदाग की मगल कारक विद्या तुम्हें पढनी चाहिए ॥७८॥

स्वविस्तवस्त्रपुस्तकप्रकाशयन्त्रमन्दिर—
प्रबन्धकारिणीं सभां तदा परोपकारिणीम् ।
विधाय तत्प्रधानतां निधाय सत्वरेश्वरे
सुराजशासनाङ्कितं ददौ स्वसम्मते दलम् ॥७९॥

सतरत्न ने फाल्गुन कृ० ५ सवत १९३९ ता. २७-२-१८८३ को "स्वीकार-पत्र" लिख कर राज्य-नियम के अनुसार उसे रजिस्ट्री कर दिया और अपने वस्त्र, पुस्तक, धन और यत्रालय आदि के प्रबन्ध करने के लिए उसी समय 'परोपकारिणी सभा बनाई: उसके प्रधान श्रीमन् महाराजाधिराज महीमहेन्द्र यावदार्य-कुल-दिवाकर महाराणा जी श्री १०८ सज्जनसिंह जी वर्मा जी० सी० एस० आई० उदयपुराधीश, (राज्य मेवाड) बनाए गए ॥७९॥

प्रतिनिधिपरिषत्सा योगिसंकल्पवृक्षं
तदनुगुणपुमर्थैरम्बुरूपै र्निषिच्य ।
श्रुतिमतकुसुमश्रीब्रह्मसन्ध्याफलाढ्यं
जगदुपकृतिदक्षं संततानार्यलोके ॥८०॥

उस प्रतिनिधि परिषत् ने योगिराज के सकल्प वृक्ष को तदनुकूल पुरुषार्थ जल से सींचा; उसमें वेदमत रूपी पुष्प खिले और ब्रह्मध्यान रूपी फलो से वह सुशोभित हुआ; जिससे आर्य संसार का अतिशय उपकार हुआ ॥८०॥

॥ इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सचित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षे र्ज्ञानयोगविभूत्या मेवाडमहेन्द्रहृदया-वर्जनपूर्वं परोपकारिणीसभा संस्थापनो नाम पञ्चविंशः सर्गः ।

॥ षड्विंशः सर्गः ॥

[उपजातिवृत्तम् ।]

१
यस्यास्त्रयोविंशतिसभ्यसज्जनाः श्रीसज्जनेशः परिषत्पतिर्वृतः ।
२ ३
श्रीमूलराजो यदुप्रधानतां सुमन्त्रितां श्रीकविराडमण्डयत् ॥१॥

इस 'परोपकारिणी' सभा के तेईस सज्जन सभ्य थे । (१) महाराणा सज्जनसिंहजी प्रधान चुने गए । (२) लाला मूलराज एम० ए० एकस्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर प्रधान आर्यसमाज लाहौर, उपप्रधान । (३) श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी (राज्य मेवाड़)ने मंत्री पद अलङ्कृत किया ॥१॥

४ ५
श्रीरामदासोऽपरमन्त्रिताश्च श्रीमोहनोऽसावुपमंत्रिसत्पदम् ।
यस्या अलञ्चक्रतुरार्यसम्मतं लोकोपकारप्रवणा कथं न सा ॥२॥

(४) लाला रामशरणदास रईस व उपप्रधान आर्य-समाज मेरठ ने द्वितीय मंत्रीपद को ग्रहण किया (५) पण्डया मोहनलाल विष्णुलाल शर्मा उदयपुर, (जन्मस्थान मथुरा), उपमन्त्री बने । जिस सभा के आर्यमान्य मन्त्री-उपमन्त्री के पद को उक्त सज्जनों ने सुशोभित किया वह सभा लोकोपकार में प्रवृत्त क्यों न हो ? (६) श्रीमन् महाराजाधिराज श्री नाहरसिंह जी वर्मा शाहपुरा धीश सभासद् । (७) श्री राव तख्तसिंह जी बेदले, राज्य मेवाड । (८) श्रीमन्त राजराणा श्री फतहसिंह जी वर्मा, भीलवाडा । (९) श्रीमान् रावत श्री अर्जुनसिंह जी वर्मा, आसीन्द । (१०) श्रीमन् महाराज श्री राजसिंह जी वर्मा, उदयपुर । (११) श्रीमान् रावत बहादुरसिंह जी वर्मा, मसुदा जि० अजमेर । (१२) राव बहादुर पं. सुन्दरलाल सुप्रिन्टेन्डेन्ट वर्क शाप अलीगढ आग्रा । (१३) राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० डिप्टी कलक्टर बिजनौर, मुरादाबाद । (१४) साहू दुर्गाप्रसाद, कोषाध्यक्ष आर्यसमाज फर्रुखाबाद । (१५) साहू जगन्नाथप्रसाद फर्रुखाबाद । (१६) सेठ निर्भयराम, प्रधान आर्यसमाज फर्रुखाबाद, ब्यावर राजपुताना । (१७) लाला कालीचरण रामचरण मन्त्री आर्यसमाज फर्रुखाबाद । (१८) बाबू छेदीलाल गुमाश्ते कमसरियट छावनी मुरार ग्वालियर । (१९) ला० साईंदास मन्त्री आर्यसमाज लाहौर । (२०) बाबू माधवदास मन्त्री आर्यसमाज दीनापुर । (२१) राव बहादुर रा० रा० पं. गोपालराव हरि देशमुख, मेम्बर-कौन्सिल-गवर्नर बम्बई व प्रधान आर्यसमाज बम्बई, पूना । (२२) रावबहादुर महादेव गोविंद रानडे जज-पूना । (२३) पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा प्रोफेसर-सस्कृत, युनिवरसिटि आक्सफोर्ड, लण्डन, बम्बई ॥२॥

सभासदोऽष्टादश राजपुंगवाः श्रीराजमान्या महनीयकीर्त्तयः ।
द्विजावतंसाः श्रुतिनीतिमूर्त्तयो विरेजिरे विज्ञवरा इहादृताः ॥३॥

इस सभा में महा कीर्ति वाले महाराजा, राजमान्य, ब्राह्मणकुल भूषण, वेद और न्याय के मूर्तिरूप श्रेष्ठ माननीय विद्वान् १८ सभासद् विराजते थे ॥३॥

श्रीवेदवेदाङ्गमुखागमप्रथा—कथानदध्यापनमुद्रणादिके ।
धर्मोपदेशाय समस्तभूतले नियोजितानां विदुषाञ्चधर्मणि ॥४॥

अनाथदीनार्त्तशिशुव्रजावन प्राध्यापनादौ मम सर्वसद्धनम् ।
सभोत्तमेयं विनियोजयेत्सदा मयि स्थिते मत्सदृशी च संस्थिते ॥५॥

" स्वीकार-पत्र " के नियम—उक्त सभा जैसे कि मेरी जीवितावस्था में मेरे सकल पदार्थों की रक्षा करके निम्न लिखित परोपकार के कामों में उनको लगाने का अधिकार रखती है वैसे ही मेरे मरने पश्चात् भी लगाया करे:—(१) वेद और वेदांगादि शास्त्रों के प्रचार, उनकी व्याख्या कराने, पढने पढाने सुनने सुनाने, छापने छपवाने आदि में । (२) वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशक-मण्डली नियत करके देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में भेज कर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग आदि में । (३) आर्यावर्त के दीन और अनाथ जनों की शिक्षा और पालन में व्यय करे और करावे ॥४-५॥

योगीत्युदीर्यात्ममृतिं विलोकयन् स्वस्थोऽपि काले निकटे सुचक्षुषा ।
स्वसन्ततौ संसदि वा समर्प्य तत् प्रशान्तचित्तोऽजनियोग्यसन्मतौ ॥६॥

इस प्रकार योगीश्वर सभा को अपना उद्देश्य कह कर निकट काल में दिव्य चक्षु से स्वमरण देखते हुए भी शान्ति से स्व सन्तति तुल्य, सुपात्र, सुमतिमान् सज्जनों की सभा को अपना सर्वस्व सौंप कर निश्चिन्त हो गये ॥६॥

प्रस्थातुकामाय नृपोमहात्मने मुद्राः सहस्रद्वयमादराद् ददौ ।
समानपत्रं परमात्मविन्मुनि र्नाङ्गीचकारेति सभानिधौ न्यधात् ॥७॥

महाराणा ने उदयपुर से चलते समय महात्माजी को मानपत्रप्रदान पूर्वक २०००) रु. उन की भेंट किए; परन्तु परमात्मज्ञानी महामुनि ने यह भेंट स्वीकार न की; अतः परोपकारिणी सभा के कोष में यह रुपया जमा किया गया ॥७॥

विसर्जितोऽयं बहुमान पूर्वकं राज्ञाधियोगव्यथितेन धीरधीः ।
चित्तोद्भवुर्गे समुपेत्य कानिचिद् दिनानि तत्रोषितवान् महामनाः ॥८॥

ता. १ मार्च १८८३ को वियोग-व्याकुल महाराणा ने धीर योगी को आदर पूर्वक विदा किया। उदपुर से महामना चलकर कुछ दिन तक चितौड में रहे ॥८॥

राजाधिराट् शाहपुरेशनाहर—सिंहः स्वविश्वस्तनरै र्मुनीश्वरम् ।
आनाय्य राज्योपवनं तमादरान् न्यवासयत् सुन्दरचैलमन्दिरे ॥९॥

राजाधिराज शाहपुराधीश श्री नाहरसिंह जी ने अपने विश्वस्त कर्मचारियों को मुनीश्वर को लेने के लिए वहां भेजा; उन्हों ने सम्मान पूर्वक इन को लाकर सुन्दर राजकीय बाग के पटभवन में ठहराया ॥९॥

राजाधिराजः परिषज्जनैस्समं समाययौ सायमयं स्वयं मुदा ।
पदान्तिके श्रीलगुरोः कृताञ्जलि श्चिरं तदाभाषत भक्तिमञ्जुलम् ॥१०॥

सायंकाल को स्वय राजाधिराज राजसभ्यों के साथ श्री गुरुदेव की सेवा में भक्ति पूर्वक उपस्थित हुए और आनन्द से चरणों में प्रणाम करके उन्होने चिरकाल तक गुरुदेव के साथ मधुर प्रेमालाप किया ॥१०॥

दिनानि पञ्चैवमसौ सनाऽऽलपद् विनिश्चितं चाध्ययनाय सद्गुरोः ।
होरात्रयं प्रत्यहमागमस्य यत् तेनोपगम्यं नियतं दिनक्षये ॥११॥

पांच दिन तक इसी प्रकार राजाधिराज ने परमहस के साथ वार्तालाप किया; फिर निश्चय हुआ कि रोज साय-काल राजाधिराज गुरुदेव की सेवा में ३ घण्टे तक उपस्थित रहा करें, जिसमें वे शास्त्राध्ययन किया करे ॥११॥

श्लोकान् प्रहेयान् परिहाय योगिराड् अध्यापयन्मंजु मनुस्मृतिं ततः ।
वैशेषिकांशं नृपति पतञ्जलेः कृतिञ्च योगं विधिवत् समाहितम् ॥१२॥

योगिराज प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड कर मनुस्मृति, पातञ्जल योगशास्त्र, तथा वैशेषिक दर्शन का कुछ भाग दत्तचित्त महाराजा को विधिपूर्वक अच्छे ढंग से पढाया करते ॥१२॥

प्रातः स जातु भ्रमणाय योगिना समं ययौ नाहरसिंहराजराट् ।
प्राणक्रियारोधममुं रहस्यसावशिक्षयच् छिष्यमणिंगुरूत्तमः ॥१३॥

प्रातः काल कभी २ महाराजा नाहरसिंह जी योगीश्वर के साथ भ्रमणार्थ जाया करते थे; उस समय गुरुदेव एकान्त में शिष्यरत्न को प्राणायाम विधि सिखाया करते थे ॥१३॥

भव्यं युवानं द्विजवंशभूषणं विभाव्य विज्ञं यतिधर्मदीक्षितम् ।
तमीश्वरानन्दपदाभिधं व्यधाददाच्च शिक्षाधनमस्य संयमी ॥१४॥

संयमीश्वर ने एक होनहार, ब्राह्मणकुलभूषण, सुज्ञ युवक को योग्य समझ कर सन्यास की दीक्षा दी और उस का नाम 'ईश्वरानन्द' रक्खा तथा विद्योपार्जन के लिए उसे धन दिया ॥ १४ ॥

निद्रा यते द्राग् वशवर्त्तिनी सदा शय्याश्रितं तं क्षणतोऽन्ववर्त्तत ।
ज्ञानेन्द्रियं सूक्ष्मनिरीक्षकञ्च तत् तत्त्वावबोधे क्षममस्य दिव्यजे ॥१५॥

यतिराज की निद्रा इतनी वशवर्तिनी थी कि लेटने के कुछ क्षण पश्चात् ही वे गाढ निद्राधीन हो जाते; और उनके ज्ञानेन्द्रिय इतने सूक्ष्मदर्शी थे कि वे योगदर्शन—कथित दिव्य तत्त्वज्ञान को सुगमता से ग्रहण कर लेते थे ॥१५॥

भाष्यं श्रुतेस्तन्वपि वेदवित्तमे प्रलम्बितोशीरपटे गृहे स्थिते ।
दुर्गन्ध आयान्नलदच्छदे मुने र्जलाभिषिक्ते सुरभिग्रहेन्द्रिये ॥१६॥

एक दिन वेदवित्तम महर्षि वेदभाष्य कर रहे थे । निवास स्थान पर खस की टट्टियां लगा दी गईं थीं; उन पर जल सींच दिया जाता था; उस में से उनको सूक्ष्म दुर्गन्धि आई ॥ १६ ॥

विज्ञाय तत्त्वं व्यरमत्स्वकर्मणः सेव्यच्छदां स्तानपसार्य सेवकैः ।
प्रक्षाल्य कुण्डं पुनरम्बु निर्मलं प्रपूर्य तस्मिन् समसेचयद् यतिः ॥१७॥

दुर्गन्ध जान कर वे स्व—कार्य से रुक गए; जन्होंने सेवकों से खस का पर्दा निकलवा दिया । कुण्ड को धुलवाकर फिर उस में स्वच्छ जल डलवाया; फिर वह जल पर्दे पर सींचा गया ॥ १७ ॥

अत्यल्पजीर्णाम्बुविमिश्रणादपि प्रभूतनीरेऽजनिगन्ध आविलः ।
गन्धेन्द्रियं संयमिनोऽग्रहीद्यतं सविस्मया इत्यभवन्नु किंकराः ॥१८॥

पुष्कल जल में अति स्वल्प वासी जल के रह जाने से ही दुर्गन्ध रह गई थी; उसे संयमी की नासिका ने सुगमता से जान लिया; अतः सेवक अत्यन्त विस्मित हुए ॥१८॥

विनोदवार्त्तां वितता न हास्यवान् नैयायिकेनेह समं प्रियम्वदः ।
गिरिं निखायाखुरलम्भि यत्त्वयेत्यवोचदेनं कृतवाग्विडम्बरम् ॥१९॥

विनोदप्रिय, मधुर भाषी महाराज ने एक दिन एक नैयायिक के साथ विनोद किया कि—'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इस का नव्य न्याय की रीति से अर्थ कीजिए। उसने अवच्छेदकावच्छिन्न की झड़ी लगा दी और व्यर्थ आधा घण्टा उस में नष्ट किया। बाद महाराज ने कहा कि भाई आपने इस वाक्य को इतना जटिल बना दिया कि कोई कुछ भी न समझे; यह तो ऐसा हुआ कि 'खोदा पहाड़ और निकला चूहा'॥१९॥

बिहारिविद्यार्थिनमात्मवित्तमोऽवस्तुते विष्णुतनो र्यथार्थताम्।
निबोध्य तद्व्यापकताञ्च तन्मन स्तन्मूर्त्तिपूजाविमुखं व्यधत्त सः ॥२०॥

आत्मवित्तम ऋषि ने 'बिहारीलाल' नामक विद्यार्थी को पत्थर की स्तुति एवं विष्णु, शिव की मूर्त्ति का यथार्थ स्वरूप और ईश्वर की सर्वव्यापकता अच्छी तरह से समझा कर उस के मन को पाषाणमूर्त्तिपूजा से विमुख कर दिया ॥२०॥

शिष्योत्तमं नाहरसिंहभूपतिं मासद्वयं सार्द्धमृतं मतं श्रुतेः।
संबोध्य तत्पौरजनञ्च पुण्यधी र्गन्तुं मनो योधपुराय संदधे ॥२१॥

पुण्यमति यतिसम्राट् शिष्यवर्य राजाधिराज को ढाई मास तक सत्य वेदमत का बोध करा कर तथा उन की प्रजा को वैदिक धर्मानुरागिणी बना कर जोधपुर जाने के लिए उत्सुक हुए ॥ २१ ॥

तमुद्यतं वीक्ष्य यतिं महीपतिः प्रेमाकुलः सन् समकेतयन्मुने !।
भवन्ति भोगे रसिका रसेश्वरा वारांगनासंगमलालसा हि ते ॥२२॥

उन्हें उद्यत देख कर प्रेम-व्याकुल होते हुए राजाधिराज ने परमहंस को संकेत किया कि—"भगवन् ! महाराज। लोग विषय-विलासी होते हैं; अतः वे वाराङ्गनाओं की संगति के लोलुप रहते हैं" ॥२२॥

न खण्डनीया यतिमण्डनेन ताः श्रीयोधपुर्यां गणिका विशेषतः।
श्रीमद्वपुः कोटिजनोपकारि यद् विपत्तिभाङ् न क्रियतां दुरात्मभिः ॥२३॥

"आप खास कर के जोधपुर में वेश्याओं का खण्डन न कीजिएगा। आप सन्यासियों के अलङ्कार हैं; इस लिए आप का शरीर कोटी २ जनों का कल्याण-कर्ता है; कहीं दुष्ट जन इसे विपत्ति में न डाल दें"॥२३॥

परश्वधच्छेद्यसुकण्टकिद्रुमाञ् छिन्द्यां न शस्त्र्या नखकर्त्तनार्हया।
पाषाद्रिसंभेदकबोधवज्रभृत् प्रत्यब्रवीत्तं यतिगोत्रभिन्नृपम् ॥२४॥

यतीन्द्र ने राजाधिराज को प्रत्युत्तर दिया कि—"मैं कुहाड़े से काटने योग्य बड़े बड़े कंटीले वृक्षों को नख काटने नहुरने से नहीं काटा करता। मैं तो पापपर्वत को विदारण करने वाला खण्डन का वज्र धारण करता हूं" ॥२४॥

अथातिभक्त्या समितौ महीभुजा सम्मानपत्रेण स सम्पदार्चितः।
वेदोक्तवक्ता प्रभुभक्तसत्तमो व्यसर्जि संप्रार्थितशीघ्रदर्शनः ॥२५॥

राजाधिराज ने प्रभुभक्त संतरत्न को अति भक्ति पूर्वक एक राजसभा में मानपत्र देकर वेदधर्मप्रचारार्थ एक उपदेशक को ३०) मासिक पर रखने का वचन दिया और २५०) रुपये वेदभाष्य की सहायतार्थ दिए और पुनः शीघ्र दर्शन देने की प्रार्थना कर के वेद वक्ता को विदा किया ॥२५॥

प्रोच्याजमेरार्यवरैः ऋषीश्वरो न्यवारि यातुं मरुभूमिमित्ययम्।
मूलासुरस्येयमभूद् विहारभूः क्रूराः प्रकृत्या ह्यपिसंप्रति प्रजाः ॥२६॥

वहां से ऋषीश्वर अजमेर गए। अजमेर के आर्य महोदयों ने इनको मारवाड़ जाने के लिए मना किया और कहा कि भगवन्! वह मूल-राक्षस का देश है; वहां की प्रजा स्वभाव से कठोर है; अतः वहां न जाइए ॥२६॥

ममाङ्गुलीश्चेद् विरचय्य वर्त्तिकाः कामं दहेयु र्मनुजास्तथापि नो।
सत्योपदेशाद् विरमेयमित्यहो!! प्रत्यूचिवानार्यजनाग्रणीः ॥२७॥

आर्य नेता ने आर्य जनों को उत्तर दिया कि "यदि लोग हमारी अंगुलियों को बत्तियां बना कर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं तो सत्योपदेश से कभी निवृत्त नहीं हूंगा" ॥ २७ ॥

श्रीयोधधामाधिपते र्निदेशतो यशस्विसिंहस्य तदा समीरिताः।
भृत्या गजस्यन्दनसुप्तिवाहनक्रमेलकाश्चैर्यतिपादमासदन् ॥२८॥

जोधपुर के महाराजा यशस्विसिंह की आज्ञा से प्रेषित सेवक चारण 'नवलदान' आदि सज्जन एक हाथी, तीन रथ, एक सेजगाडी, चार अश्वारोही तथा तीन ऊँट लेकर यतीन्द्र की सेवामें आ गए ॥२८॥

पालीस्थलात्ते मुनिवर्यमानता योग्येषु यानेष्वधिरोप्य सानुगम्।
सलक्ष्मणं निन्युरिभादिषु क्रमाद् विश्राम्य झंझानिलसंकटाध्वनि ॥२९॥

वे प्रणाम करके मुनीन्द्र को लक्ष्मणरावजी असिस्टेन्ट कलेक्टर—खानदेश, आदि साथियों सहित हाथी आदि यथायोग्य वाहनों में सवार करा कर पाली से चल कर मार्ग में झञ्झावात एवं वर्षा के सङ्कट में विश्राम लेते हुए ३१ मई १८८३ को जोधपुर के समीप में आ पहुँचे ॥ २९ ॥

श्रीमारवाधीशसहोदरादिभिः प्रतापसिंहप्रमुखैः पुरस्कृतः ।
उद्यानगेहे विनिवेशितो यतिः सुखप्रबन्धे सममार्यबन्धुभिः ॥३०॥

मारवाड़ के महाराजा अपने सहोदर सर कर्नल श्री प्रतापसिंह जी तथा राव राजा श्री तेजसिंह जी आदि महोदयों के साथ परमहंस के दर्शनों को आए । यतीन्द्र को आर्य सज्जनों के साथ नजरबाग के सामने भैया फैजुल्लाखां की कोठी में ठहराया गया । उनकी सेवा के लिए ६ सिपाही एक हवलदार और चार सेवक नियत कर दिए तथा दुग्धवती गौ आदि का सुप्रबन्ध कर दिया गया ॥३०॥

बालार्कभाभासितरत्नसन्निभं विशालभालं शरदिन्दुसुन्दरम् ।
निभाल्य मुग्धं मुखमण्डलं मुने र्ननन्द मन्दस्मितमार्यमण्डली ॥३१॥

मुनीन्द्र का बाल सूर्यप्रभा से चमकते हुए रत्न की भांति विशाल ललाट और शरदिन्दु-सुन्दर, मन्दस्मित, मोहक मुखमण्डल निहार कर आर्य मण्डली आनन्दित हुई ॥३१॥

अर्द्धस्फुटद्दाडिमबीजपंक्तिजित्सुदन्तमुक्तावलिदीपिताननम् ।
मंजिन्द्रनीलोज्ज्वलतारलोचनं कृताखिलाम्नायसुमन्त्रलोचनम् ॥३२॥

प्रतप्तजाम्बूनदकायकान्तिभिर्लसन्तमाजानुविलम्बिदोर्युगम् ।
तेजोनिधानं यमिचक्रवर्त्तिनं निध्याय भक्त्या प्रणतं क्षितीश्वरैः ॥३३॥

अधफटे अनार के दानों की हार को जीतने वाले उत्तम दांतों की पांतरूपी मोतियों से देदीप्यमान मुखवाले, सुन्दर इन्द्रनील मणि समान उज्वल पुतलियों से शोभित नेत्रों वाले, सकल वेदमन्त्रों का आलोचन करने वाले, घुटनों तक विशाल बाहुयुगल वाले, तप्त सुवर्णसम देह कान्ति से शोभमान, तेज के भण्डार सन्यासी—सम्राट् को अवलोकन कर महाराजा एवं अन्य राजाओं ने भक्ति पूर्वक इन के चरणों में प्रणाम किया ॥३२-३३॥

प्रतापतेजोहृदयस्थले मुनेरालोकनेनैव सुभक्तिगंगया ।
भवार्त्तिनाशोत्सुकयोदितं तया यया शुभोदर्कलता जनिंगता ॥३४॥

मुनीन्द्र के दर्शन मात्र से ही राजा प्रतापसिंह तथा राव तेजसिंह के हृदय स्थल में संसारताप हारिणी सुभक्तिगंगा प्रकट हुई; जिससे उनके चित्तकानन में शुभ भाग्यलता अंकुरित हो कर फैल गई ॥३४॥

आदेशनं योधपुरक्षितिक्षितः शुश्रूषणावेक्षणहेतवे यतेः ।
स्वभाग्यसूर्योदयमेव मेनिरे ते रावराजप्रमुखाः प्रसादजम् ॥३५॥

यतीन्द्र की शुश्रूषा तथा देखभाल करने के लिए जोधपुरनरेश ने इन दोनों राव राजाओं को आदेश दिया था; जिस को वे उनके प्रसाद से प्राप्त स्वभाग्य का सूर्योदय ही जानने लगे ॥ ३५ ॥

श्रीयोधधामागमवासरात्ततो ववर्ष देवो निगमामृतं शुभम् ।
मनोलताः संसृतितापतापिताः प्रफुल्लतां श्रोतृनृणामवापिताः ॥३६॥

जिस दिन से भगवान् जोधपुर में पधारे उसी दिन से वे शुभ वेदामृत बरसाने लगे उस से श्रोता जनों की संसार ताप से मुरझाई हुई मनोलताएँ हरी भरी हो गईं ॥३६॥

राठौरवंश्यां क्रमशः सुशिष्यतां जगद्गुरो र्जग्मुरिलाभुजोऽखिलाः ।
प्रतापसिंहस्य मनस्स्थलाम्बुजं सुगन्धितं भक्तिसुगन्धिभिर्बभौ ॥३७॥

राठौर वंश के सारे महीपालक क्रमशः जगद्गुरु के शिष्य बन गए; राजा प्रतापसिंह का मनरूपी गुलाब भक्तिसुगन्ध से सुगन्धित हो गया ॥३७॥

अथाययौ सप्तदशे दिने मुनेरालोकपीयूषरसोत्सुकोऽन्तिकम् ।
महाममारोहयुतः स्वमन्त्रिभि र्यशस्विसिंहो मरुभूमिवासवः ॥३८॥

अनन्तर सत्रहवें दिन मरु भूमि के इन्द्र श्री यशवंतसिंहजी बड़े समारोह से मंत्रिमण्डल-सहित मुनीन्द्र के दर्शनामृतपान के लिए उत्कण्ठित हो कर श्री चरणों में आए ॥३८॥

प्रणामपूर्वं शतरूप्यकाञ्चिताः स पञ्च मुद्रा विततार काञ्चनीः ।
मुनीश्वरायोपविवेश चास्तरे निम्नस्थ एवानतमौलिरीश्वरः ॥३९॥

और आते ही नम्र नमस्कार पूर्वक १००) रुपये और पांच मोहर उन्होंने मुनिचरणों में भेंट की; और नम्रता पूर्वक वे फर्श पर ही बैठ गए ॥३९॥

योगीन्द्र उर्वीन्द्रमिति ब्रुवन् क्षिते रुत्थाप्य वेत्रासन आसयत्स्वयम् ।
नार्हन्ति नीचैरुपवेष्टुमासने भवादृशाः संसदि संसदीश्वराः ॥४०॥

योगीन्द्र ने राजेन्द्र को फर्श पर से उठाकर यह कहते हुए कुर्सी पर बिठाया कि 'आप जैसे सभेश्वर सभा में निम्न आसन पर बैठने के योग्य नहीं हैं' ॥४०॥

जगद्गुरोः श्रीपदपंकजाग्रतो ममासनं निम्नभुवीह शोभनम् ।
एवं ब्रुवन्तं नृपमादरान्मुनि र्निषादयामास समासने बलात् ॥४१॥

जगद्गुरु के चरणकमलों के सामने मेरा आसन यहां नीचे ही योग्य है; ऐसा कहने वाले जोधपुर नरेश को मुनीन्द्र ने आदर पूर्व बलात्कार से समान कुर्सी पर बिठाया ॥४१॥

संन्यासिशिष्टाचरणं प्रजापतौ संवीक्ष्यसभ्याः सुतरां प्रसद्य ते ।
गुरुत्वगर्वं वहतो न लेशतः स्वमानसे गौरवमादधु र्गुरोः ॥४२॥

प्रजेश्वर के साथ परमहंस का शिष्टाचरण देख कर राज-पुरुष अति प्रसन्न हुए; और वे गुरुत्व के गर्व को लेशमात्र भी धारण न करने वाले गुरुदेव के विषय में स्वहृदय में श्रद्धा धारण करने लगे ॥४२॥

क्षेमानुयोगादनु योगिनां वरोऽपृच्छन्नु केच्छेति तमच्छहृन्नृपम् ।
प्रत्यब्रवीच्छ्रीचरणं श्रितोह्यं शुभोपदेशग्रहणाभिवाञ्छया ॥४३॥

योगीश्वर के कुशलप्रश्न पूछने के अनन्तर विमल-हृदय महाराजा को आपकी क्या इच्छा है? ऐसा प्रश्न किया: महाराजा ने उत्तर दिया कि "मैं शुभ उपदेश ग्रहण करने की इच्छा से श्री चरणों में आया हूं ॥४३॥

अपावृणोद् बोधसुरत्नमन्दिरं मुदेन्दिरेशस्य पुरो महामनाः ।
मणीननर्घान्नृपनीतिधर्ममभृत्सत्कर्मरूपानददान्नताय च ॥४४॥

उदाराशय महर्षि ने प्रसन्नता से पृथ्वीश्वर के सामने उपदेशरत्नमंदिर का दरवाजा खोल दिया और विनम्र महाराजा को राजनीति, सद्धर्म तथा सत्कर्म-रूपी अमूल्य हीरे, मोती और रत्न प्रदान किए ॥४४॥

होरात्रयं वागमृतं श्रवः पुटै र्निपीय सारं रुचिरं महात्मनः ।
अपूर्वमानन्दहृदाविदां वरं मुनीन्द्रमित्थं नृपति र्न्यवीविदत् ॥४५॥

तीन घण्टे तक आनन्दित हृदय से जोधपुर-महेन्द्र ने कर्णपुटों से महात्माजी का अपूर्व, सारगर्भित, रुचिकर उपदेशामृत पीकर इस प्रकार मुनीन्द्र से निवेदन किया कि— ॥४५॥

धृतव्रतानां परदुःखभञ्जने महात्मनामागमनंभवादृशाम् ।
सौभाग्यसूर्योदयकालसूचकं सुदुर्लभं नोऽत्रपुरेऽनिशं गुरो ॥४६॥

" हे गुरुदेव ! परदुःख-भञ्जनार्थ व्रत धारण करने वाले आप जैसे महात्माओं का इस राजधानी में सदा आगमन दुर्लभ ही होता है; इस लिए यह आपका समागम मेरे सौभाग्य-सूर्योदय का सूचक है ॥ " ॥४६॥

यदेव देवेन तु देवदुर्लभं दयालुना दत्तमिदं सुदर्शनम् ।
अगण्यपुण्योदयदर्शकं हि नः कृताधिताःस्तेनवयं हतांहसा ॥४७॥

" दयालु देवने यह जो देवदुर्लभ दर्शन हमें दिया है; वह निश्चय से हमारे असंख्य पुण्यों के उदय का निदर्शक है; इस दर्शन से हमारे पाप नष्ट हुए और जीवन सफल हुआ " ॥४७॥

तदत्रयावद्भगवन्नवस्थितिः श्रीपूज्यपादस्य परोपकारिणः ।
धर्मोपदेशै र्जनता कृतार्थतां सतां सदा तावदिनेन शान्दिः ॥४८॥

" तो हे भगवन् ! आप परोपकारी पूज्यपाद की जब तक यहां स्थिति है तब निरन्तर शान्तिदायक धर्मोपदेशों से हमारी प्रजा को अनुगृहीत कीजिएगा ॥४७॥

मर्मस्पृगीदृङ् न मयेह जन्मनि श्रेयस्करं सारमयं सुभाषणम् ।
अश्रावि योगीश्वर ! नीतिसुन्दरं विमुक्तभीते र्यतिनो मुखादहो ! ! ॥४९॥

" हे योगीश्वर ! मैंने अपने जीवन में ऐसा हृदयस्पर्शी, श्रेयस्कर, तत्त्वपूर्ण, उत्तम, नीतिरुचिर व्याख्यान नहीं सुना; जैसा निर्भय स्वरूप आप सन्यासीजी के मुख से आज सुना है " ॥ ४९ ॥

आनन्दसान्द्रान्तरमित्थमीश्वरे प्रकाश्य भावं विरते मदुक्षितेः ।
यथाह भूपाल विधास्यते तथा कथा स्वधर्मस्य मयेत्युवाच सन् ॥५०॥

इस प्रकार मरुभूमि के इन्द्र आनन्दपूर्ण अन्तःकरण से अपना भाव प्रकट कर मौन हो गए । परमहंस जी ने कहा—' हे राजेन्द्र ! आप की इच्छानुसार हम वैदिक धर्म का उपदेश करते रहेंगे ' ॥५०॥

अथ द्वितीयाद् दिवसान्निरन्तरं विशालशालांगनभूतलेऽभवत् ।
व्याख्यानमाला विमलार्थमानवस्मृतेः श्रुतेः सारमयी च वाग्मिनः ॥५१॥

अनन्तर दूसरे दिन से ही नित्य विशाल भवन के विस्तृत आंगण में वाग्मीश्वर की पवित्र, श्रेष्ठ, मनुस्मृति एवं श्रुति की शिक्षा से पूर्ण व्याख्यानमालाएँ होती रहीं ॥५१॥

सुवक्तृतासंश्रवणाय मानवा विभिन्नधर्माश्रयिणोऽपि संघशः ।
आलम्ब्य नानाविषयान् मनीषिणः समाययुः संसदि भाषितुः सदा ॥५२॥

उत्तम वक्तृता सुनने के लिए भिन्न २ मतों के अनुयायी सज्जन मण्डलियां बना बना कर आने लगे । मनीषी व्याख्याता के भिन्न २ विषयों पर सदा व्याख्यान होते थे ॥५२॥

प्रयोजनं मानवजन्मनः शुभं ज्ञानं स्वधर्मस्य जनाभ्रमं ततम् ।
वेदोक्तवर्णाश्रमकर्म वर्णितं सुवर्णिनाऽऽकर्ण्य जगुर्गुरो र्गुणान् ॥५३॥

मानवजन्म का प्रयोजन, स्वधर्म का शुभ ज्ञान, धर्म विषयक फैले हुए भ्रम, वेदोक्त वर्णाश्रम की व्यवस्था तथा उन के कर्तव्य का निरूपण आदित्य ब्रह्मचारी जगद्गुरु के मुख से सुन कर जनता उन के गुणगान करने लगी ॥५३॥

ब्रह्मात्मतत्त्वप्रकृतिस्वरूपजं निरूप्य भेदं क्रमशो गुणात्मकम् ।
कर्मस्वभावोत्थमदः सुवेदतो युक्त्यापि योगी जनतामवेदयत् ॥५४॥

योगीश्वर ने ब्रह्म परमात्मा, जीवात्मा एवं प्रकृति के स्वरूप का गुण, कर्म और स्वभाव क्रमशः वर्णन कर उन में वेद-प्रमाण से तथा तर्क से भी भेद जनता को समझाया ॥५४॥

उन्मीलितं ज्ञानमयं सुलोचनं नृणां ध्रुवं क्लेशहरं भवार्णवे ।
कामादिषड्ग्राहभयङ्करे तदामोक्षाध्वसंदर्शकमात्मविद्गिरा ॥५५॥

आत्मवेत्ता की वाणी से सचमुच !! मनुष्यों का ज्ञाननेत्र खुल गया; और काम, क्रोध आदि छः मगर मच्छों से भयंकर संसारसागर से तर जाने का क्लेश-हर मोक्ष मार्ग उन को दिखाई देने लगा ॥५५॥

नवं नवं नित्यमिहात्ममोजनं जनाः समास्वाद्य रुचिप्रदं सुखम् ।
आनन्दगंगाम्बुनिमग्नमानसा जनुर्निजं सार्थकमेव मेनिरे ॥५६॥

प्रजागण नित्य नये २ रुचिकर, हितकारक, आत्मिक भोजन का स्वाद ले कर आनन्द-गंगा में हृदय को स्नान करा कर अपना जन्म सफल मानने लगे ॥'५६॥

चरित्रसंशोधनधेनुरक्षणे श्रीक्षत्रियाणां प्रसभं स्वभाषणे ।
उपादिशद्देशिकराज इत्ययं श्रीरावराजोऽगददेनमाकुलः ॥'५७॥

आचार्य-सम्राट् ने अपने एक भाषण में राजा महाराजाओं के चरित्र-संशोधन एवं गोरक्षणरूप कर्तव्य पर अधिक भार दिया था । यह सुन कर रावराजा श्री तेजसिंह ने भयभीत हो कर इन से कहा कि— ॥'५७॥

श्रीमन्महाराजचरित्रलक्षकं मनाङ् न वाच्यं वचनं महात्मना ।
हतं मनोऽनेन मुनेरिति क्रुधा तमभ्यधाद् वाक्यमसौ नदन्नदः ॥'५८॥

' हे भगवन् ! आप जोधपुर-नरेश के चरित्र को लक्ष्य कर के कुछ भी वचन न कहिएगा । ' इस बात से महामुनि का मन कुपित हुआ और वे गरजते हुए रावराजा से इस प्रकार कहने लगे— ॥'५८॥

उशन्यतथ्यं किम हो ! महोदया भवादृशा भाषयितुं तु मां भृशम् ।
सत्यं वदिष्यामि वदेयमत्र यन् नासभ्यतासूचकमित्यवेत तत् ॥'५९॥

' क्या आप जैसे महोदय मुझ से असत्य बुलवाना चाहते हैं ? आप यह निश्चय से जानिए कि इस विषय में मैं जो कुछ कहूंगा; वह सत्य कहूंगा किन्तु उस में असभ्यतासूचक कुछ भी न कहूंगा ' ॥'५९॥

न नामनिर्देशपुरस्सरं पुन र्व्यक्तेः कदाचिन्न कटूक्तिपूर्वकम् ।
इत्युक्तिमापीय सदुक्तिशालिनो विनम्रमौलिः स्थित एष साञ्जलिः ॥६०॥

" किसी व्यक्ति के नाम निर्देश पूर्वक मैं कभी कटु वचन नहीं कहता हूं ।" । सदुक्ति-शाली गुरुदेव की इस वाणी को पीकर वह रावराजा हाथ जोड कर मस्तक नमा कर खडा रहा ॥ ६० ॥

समग्रराज्योच्चपदाधिकारिभिः सुक्षत्रियैः श्रेष्ठिजनैः समाकुले ।
सभाङ्गने विप्रकुलैश्च विप्रराड् व्याचष्ट राष्ट्रेश्वरचेष्टितं यथा ॥६१॥

सारे राज्य के उच्च पदाधिकारी कर्मचारी, महाराजा के सिवा सब राजे, सेठ साहूकार ब्राह्मण व पण्डित-गण सभांगण में उपस्थित हुए थे, उस समय विप्रसम्राट् ने राजाओं के कर्तव्य पर इस प्रकार व्याख्यान दिया कि— ॥६१॥

राजा प्रजानां शुभशासकः पिता विद्यासदाचारगुणाभिपोषकः ।
संतोषको मंगलकर्मणाऽऽत्मनो बभौ पुरा रामसमः प्रजाप्रियः ॥६२॥

" प्रजाओं का धर्म से शासन करने वाला राजा पिता कहलाता है । उस को उचित है कि विद्या, सदाचार एवं सद्गुणों की प्रजा में वृद्धि कराया करें । अपने पुण्याचारणों से प्रजा का प्रिय बन कर उन को संतोष दें । प्राचीन काल में राम जैसे एक पत्नीव्रतधारी प्रजाप्रिय राजा लोग विराजते थे " ॥६२॥

परं नृपास्सम्प्रति तां प्रतिव्रतां विहाय राज्ञीं निजसिंहनाञ्च हा ! ! ।
वेश्यां शुनीं यन्ति समागमेच्छया श्वतां श्रिता भोगरता हताः श्रिया ॥६३॥

" परन्तु इस समय महाराजा लोग पतिव्रता महारानी को त्याग कर एवं अपनी सिंहता को छोड कर समागम की लालसा से कुत्ती समान वेश्याओं के पास जाते हैं; तेज और कान्ति से हीन होकर भोगस्त राजे कुत्तों की सी लीला करते है " ॥६३॥

विनाशमाप्स्यन् दुरितै र्महीभुजां राज्यानि नूनं कियतोऽप्यनेहसः ।
प्रागेव तेषां सुचरित्रयोषितां नावर्ण्यदुत्कृष्टसतीत्वमत्र चेत् ॥६४॥

" सचमुच ! ! कितनेक काल पूर्व ही ये राज्य महीपालों के पापों के कारण विनाश के गर्त में गिर जाते; यदि उन की पतिव्रता रानियों का उत्तम सतीत्व प्रकाशमान न रहता " ॥६४॥

दुष्कर्मजम्बालनिमग्नभूभुजां प्रजा भवेयुः किमिवोत्तमव्रताः ।
राजा यथा तस्य तथा ध्रुवं प्रजा भाव्यं नृपैस्सच्चरितैरतोऽमलैः ॥६५॥

" दुष्कर्मरूपी कीचड में डूबे हुए महीवल्लभों की प्रजा सच्चरित्र-शालिनी किस प्रकार बन सके ? ' यथा राजा तथा प्रजा ' । यह कहावत प्रसिद्ध है; इस लिए राजाओं को चाहिए कि वे पवित्रतात्मा सच्चरित्र बनें " ॥६५॥

श्रेयस्करी सत्यमयी मनीषिणो मनस्विनां निर्मलमानसे सताम् ।
दुरात्मनां चात्मनि मोहपङ्किले विषायिता वागमृतायिता च सा ॥६६॥

परमहंस की सत्य और कल्याण-कारिणी वाणी मनस्वी सज्जनों के निर्मल अन्तःकरण में अमृतरूप बनी और वही दुरात्माओं के मोहमलिन मन में विष तुल्य हुई ॥६६॥

हितैषिणा येाधपुराधिपोऽप्ययं प्रतापसिंहाननतः प्रबोधितः ।
पुण्यात्मशीलै निंजराज्यमंगलं समेधनीयं भवतेति रामवत् ॥६७॥

हितैषी महर्षि ने सर प्रतापसिंहजी द्वारा जोधपुराधीश्वर को चरित्र संशोधन के विषय में सचेत किया कि—" आप जैसे महाराजा को मर्यादापालक रामचन्द्रजी की तरह पुण्य-चरित्र बन कर आपने राज्य का कल्याण एवं अभ्युदय करना चाहिए " ॥६७॥

वाराङ्गना यावनवंशसंभवा यस्यां रतिं योधपुरेशितुः परा ।
जह्यान्नु मां जातु नृपो मुनेर्गिरा भियेत्यवैरायत सा यतीश्वरे ॥६८॥

इस व्याख्यानके कारण 'नन्हीजान' नामक मुसल्मान वंश में उत्पन्न हुई वेश्या, जिस पर जोधपुर-नरेश का अत्यन्त अनुराग था; वह मुनीन्द्र की वाणी से महाराजा कदाचित् मुझे त्याग दें, इस डर से यतीश्वर से वैर करने लगी ॥६८॥

अन्योऽप्यभूद् यावनमन्त्रिपूरुषो रुषान्वितो नैजमतप्रदूषणात् ।
ऋषौभृशं द्वेषपरो निबर्हणं व्यचिन्तयत्तस्य समं सम वेश्यया ॥६९॥

दूसरा मुसल्मान मन्त्री भैया फैजुल्लाखां मुसाहिबाला भी अपने मत्त की निन्दा करने के कारण क्रोधित हुआ था; अतः ऋषि पर अत्यन्त द्वेष रख कर वेश्या के साथ इन का वध करने की युक्ति सोच रहा था ॥६९॥

चक्राङ्कितासत्यमतानिनिन्दनान् मिथ्याश्मपूजाप्रतिषेधनाज्जनाः ।
अमित्रतां प्राप्य मुने र्निहिंसने संभूय चक्रुश्छलयोजनां परैः ॥७०॥

चक्राङ्कितों के असत्य मत का एवं मिथ्या पाषाणपूजा का अतिशय खण्डन करने के कारण वे मतवादी जन अमित्र बनकर एक दूसरों के साथ मिलकर मुनीन्द्र को मारने का षड्यंत्र रच रहे थे ॥७०॥

राजन्यकं संसदि राजदुर्गुणप्रवर्णके वर्णिवरे च कोपभृत् ।
तत्रत्यवातावरणं तपोनिधेरतो विरुद्धं समपद्यताखिलम् ॥७१॥

क्षत्रियसमुदाय भी सभा में राजाओं के दुर्गुणों का वर्णन करने वाले वर्णीश्वर दयानन्द के प्रति अप्रसन्न था; अतः वहां का सारा वातावरण तपोनिधि के विरुद्ध बन गया था ॥७१॥

त्रिरासने स्वामिन आययौ नृप श्चतुर्षुमासेषु हितोक्तिपानतः ।
त्रिरात्मगेहे द्रुमराजिमंजुले निमन्त्रितो मन्त्रविदांवरोऽमुना ॥७२॥

चार मास में तीन वार जोधपुर-नरेश हितोक्तिसुधापान के लिए महर्षि के आसन पर आए थे; और उन्हों ने तीन वार उद्यान से मनोहर अपने राज-मन्दिर में मंत्र वेत्ता गुरुदेव को आमन्त्रित किया था ॥७२॥

स्वमन्दिरे येाधपुरेन्दिरेश्वरः प्रेम्णा समानर्च मुनीश्वरं वरम् ।
आचार्यचन्द्रो नृपमानसाम्बरं चकार वाक्चन्द्रिकया मनोहरम् ॥७३॥

जोधपुर-राज्यलक्ष्मी के स्वामी ने स्वमन्दिर में मुनीश्वर की भक्ति से उत्तम सम्भावना की थी। आचार्य चन्द्र ने भी वाक् चन्द्रिका से राजा के हृदयाकाश को मनोरम बना दिया था ॥७३॥

निनाय मासाँश्चतुरः सुखं यमी समीहितार्थं प्रतिपादनोद्यतः ।
प्रतापतेजः शिवमन्त्रिमानसं श्रद्धायुतं वेदमते व्यधादलम् ॥७४॥

यतीश्वर ने उद्दिष्ट प्रयोजन—सत्य धर्म की प्रसिद्धि के लिए सुख पूर्वक चार मास वहां बिता दिये। इस बीच में इन्हों ने महाराजा सर प्रतापसिंह, राजराजा तेजसिंह तथा प० शिव नारायण जी राजमन्त्री के मन को वेदमत का अत्यन्त अनुरागी बना दिया था ॥७४॥

नृपोऽरिभिः सप्तशतानिरूप्यकानाहृत्य भृत्योऽपसृतोऽनिलायनात् ।
विश्रम्भपात्रं यमिनोऽतिसेवया ध्रुवं प्रयोगो द्विषतां फलोन्मुखः ॥७५॥

शत्रुओं से प्रेरित, स्वामी जी का विश्वासपात्र सेवक कहारकल्लू ७००) (सात सौ) रुपये चुरा कर खिड़की से भाग गया। निश्चित! शत्रुओं का कपट प्रयोग फलोन्मुख होने लगा ॥ ७५ ॥

हलाहलामिश्रपयोऽपाययत् स धोंडमिश्रोऽधमपाचको मुनिम् ।
संप्रेरितो भूरिधनप्रलोभनै द्विषज्जनैः संयमिमारणैषणैः ॥७६॥

सन् १८८३ सितम्बर ता. २९ एवं संवत् १९४० आश्विन कृ० १४ की रात को धोंड मिश्र नामक अधम रसोइये ने स्वामी जी को विषमिश्रित दूध पिला दिया। द्वेषी जनों ने पुष्कल धन का प्रलोभन देकर इस पाचक को संयमीश्वर पर विष-प्रयोग करने के लिए तैयार किया था ॥ ७६ ॥

न भिद्यते यावदयं जनो निजो न तावदीशो रिपुरात्मनाशने ।
पदे पदे द्रोहिजनस्य दर्शनं न लभ्यते वंशविदूषकस्य किम् ? ॥७७॥

जब तक अपना सेवक नहीं फूट जाता; तब तक शत्रु हमारा नाश नहीं कर सकता। क्या भारतवर्ष में वंशविदूषक द्रोही जन का स्थान २ पर दर्शन नहीं होता? ऐसे जन सर्वत्र होते हैं ॥७७॥

उपकृतिपरे प्राणित्रातप्रकामदयामये
विमलहृदये पुण्यश्लोके विशुद्धमतौ यतौ ।
दुरितचरितं विश्वस्ते यस्तनोति जनंगमो—
वहसि वसुधे ! ब्रह्मघ्नन्तं कथं नु तवोदरे ? ॥७८॥

जो चाण्डाल परम उपकारी प्राणीमात्र पर अत्यन्त दयालु दृष्टिवाले, पवित्र हृदय, शुद्ध मति, पुण्य-कीर्ति, विश्वस्त यतीश्वर के प्रति पापाचरण करता है; उस ब्रह्महत्यारे नराधम को—हे वसुन्धरा माता ! तू क्यों अपने उदर में धारण करती है ? ॥७८॥

॥ इति षड्विंशः सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सचित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षे र्मरुभूमिराजेन्द्रहितोपदेशपूर्वं धर्मप्रचारविरामो नाम षड्विंशः सर्गः ।

॥ सप्तविंशः सर्गः ॥

[वैतालीयमेदः । वियोगिनीछन्दः ।]

द्विजदत्तपयो दयामयो निशि शिष्ये स निपीय संयमी ।
कियतः समयादथोदरो—त्थितशूलं तमपीडयत्परम् ॥१॥

दयामय, सयमी दयानन्द रात में पाचक का दिया हुवा दूध पीकर सो गए । कितनेक काल के अनन्तर उदर में उत्पन्न शूल ने इनको अतीव पीडित किया ॥१॥

हृदयाकुलताघशादभूद् वमनं त्रिर्यमिनो ग्यादये ! ! ।
स्वयमेव जलादिनाऽकरोन मुखशुद्धिं न जनानबोधयत् ॥२॥

हृदय की व्याकुलता के कारण महर्षि को तीन बार वमन हुआ । उन्हों ने स्वयं ही जलादि ले कर कुल्ले कर डाले; पास सोये हुए सेवकों को जगा कर कष्ट नहीं दिया ॥२॥

दिवसोदय उत्थितार्हतः पुनरेकं वमनं यदाऽभवत् ।
समदिग्ध विदग्धराट् तदा गरलं पायित इत्यलं न्वहम् ॥३॥

प्रातःकाल उठते ही फिर एक बार विश्ववन्द्य को जब उलटी हुई; तब—'मुझे निश्चित विष पिलाया' । ऐसा विद्वत्-सम्राट् को सन्देह हुआ ॥३॥

विषसारणहेतवेऽमृतं परिपीयोद्गमितोदयम् ।
वपुषः परमत्र नो फली विफलो दैवविपर्यये श्रमः ॥४॥

अतः इन्हों ने शरीर से विष निकाल डालने के लिए जल पीकर उलटी कर डाली; परन्तु उस से कोई लाभ नहीं हुआ । जब भाग्य विपरीत होता है तब परिश्रम निष्फल जाता है ॥४॥

गृहवायुविशोधनाय सन् हवनं कर्त्तुमथादिशज्जनान् ।
उदरोद्गतशूलशामकं यवनीक्वाथमतोऽपिबन्मुनिः ॥५॥

अतः मुनिने गृहवायु के संशोधन के लिए हवन करने की आज्ञा सेवकों को दी । और इन्हों ने उदर की वेदना शान्त करने के लिए अजवायन आदि वस्तुओं का काढा पीया ॥५॥

शममाप न वेदनाऽमुनाऽप्यतिसारोऽजनि किन्त्वहो यतेः ।
विपदं विपदेति सम्पदामनुसम्पत्तिरिति श्रुतिः क्रता ॥६॥

काढे से उनकी पीडा शान्त न हुई; किन्तु अतिसार होने लग गए । अहा !! विपत्ति के बाद विपत्ति और सम्पत्ति के बाद सम्पत्ति आने लगती है; यह किं वदन्ती सत्य है ॥६॥

यवनस्य चिकित्सया पुना रुगियं संयमिनो व्यवर्द्धत ।
भिषगार्य इमां विलोकयन्नपिरोद्धुं यवनं प्रभु र्न सः ॥७॥

डॉ० अलीमर्दान खा की चिकित्सा से संयमीश का यह रोग और भी बढा: इस दशा को देखते हुए भी डॉ० सूरजमल उस यवन वैद्य को मना न कर सके ॥७॥

अगदग्रहणे स्वसम्मतिं यतिपृष्टोऽयमदादये ! कथम् ।
सकलं विपरीतनामियाद् यदि भाव्यं जगतो हा मंगलैः ॥८॥

अरे ! इन आर्य-वन्द्यने—' मै औषध लूं या नही—' ऐसी सम्मति उन से जब ऋषि ने पूछी तब ' लीजिए ' यह क्यो कहा ? जब संसार का अमगल होने वाला हो: तब सचमुच ! ' सब बाते विपरीत हो जाया करती हैं ॥८॥

मरुभूमिपतेः स मन्त्रिराडपि राजाख्यनृपाश्च सद्गुरोः ।
उपचारविधौ प्रमादिनो बत दैवं प्रतिकूलमेव नः ॥९॥

मरुभूवल्लभ के राजमत्री प. शिवनारायण, महाराजा श्री प्रतापसिंह और राव राजा श्री तेजसिंह भी गुरुदेव के उपचार-कर्य में प्रमादी रहे । हाय !! दैव ही हमारे प्रतिकूल है ॥९॥

सकलेऽपि कलेवरे ततं गुरुशूलं सुगुरो र्भयङ्करम् ।
अतिसारपरम्परौषधैः प्रबला साऽजनि मूर्च्छनावहा ॥१०॥

गुरुदेव के सारे शरीर में भयकर शूल व्याप्त हो गया । औषधों से अतिसार बढने लगे; जिससे इन को प्रबल मूर्छा आने लगी ॥१०॥

रसनागलतालुनि व्रणा मुखशोषः पिटकाः शिरस्तले ।
श्वयथु र्यकृदन्त्रसन्ततो यतिनं पर्यतुदन्निरन्तरम् ॥११॥

इन की जीभ में, गले में और तालु में छाले पड गए, सिरपर फुन्सियां हो गईं, मुख शोष पडने लगा । यकृत और अंतडियों में शोथ (सूजन) था; ये सब रोग यतीश्वर को निरन्तर व्यथित करते थे ॥११॥

परमाननतः कदाप्यसौ स्वरमर्त्तैः करुणं चकार नो ।
मुखकान्तिरमुष्य शान्तिदा ददृशे प्रागिव विस्मितैर्जनैः ॥१२॥

किन्तु कभी भी ये सन्त मुख से पीडा का करुण स्वर नहीं करते थे इन की मुखकान्ति पूर्व की तरह शान्ति-दायक विस्मित हो कर जनों ने देखी ॥१२॥

यमिनो विकलं कलेवरं तदलं चन्द्र इवासिते दले ।
क्रमशः क्षयमापदुज्ज्वलं भिषजां भेषजयोगतोऽपि हा ! ! ॥१३॥

कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की तरह यमी का कान्तिमय शरीर क्रमशः विकल होकर क्षीण होने लगा । हाय ! शोक ! ' वैद्यों के औषधोपचार से भी कुछ लाभ न हुआ ॥१३॥

अथ वृत्तदले प्रकाशितं मुनिवर्यामयवृत्तमित्तिदम् ।
अजमेरपुरार्यमानवा अनुवाच्यानृतमेव मेनिरे ॥१४॥

ता. अक्टूबर १८८३ आश्विन शु० ११ संवत १९४० को ' राजपुताना गेजट ' में मुनीन्द्र का शोकदायक रोगवृत्तान्त प्रकाशित हुआ । यह समाचार पढ कर भी अजमेर-वासी आर्य सज्जनों को प्रथम विश्वास न हुआ । वे इस बात को असत्य-बनावटी मानने लगे कि— ॥ ११४ ॥

अधुना तु न संभवेयती यतिराजे विजितेन्द्रिये रुजा ।
रिपुणा व्यरचि प्रवञ्चना ननु नः क्लेशयितुं मुधेत्यमौ ॥१५॥

" जितेन्द्रिय यति सम्राट् में इस समय तो इतना रोग सम्भव नहीं है: व्यर्थ हमें क्लेश पहुंचाने के लिए निश्चित शत्रुने यह प्रवञ्चना रची है " ॥१५॥

दलतोऽथ तडित्पथेन वा सुजनैः स्याम वयं नु सूचिताः ।
तदृतं घटितं भवेद् यदि व्रतिरोगस्य तदा तदाश्रितैः ॥१६॥

" यदि यह बात सत्य होती तो इन के सेवक सज्जन हमें पत्र द्वारा वा तार द्वारा अवश्य यतीन्द्र के रोग की सूचना देते " ॥१६॥

इति तेऽपि विकल्प्य तद्भुजो विषये सत्यममंसतैव तत् ।
प्रहितो हितचिन्तकै र्वणिङ्मुनिपार्श्वे द्रुतमार्यसज्जनः ॥१७॥

इस प्रकार ऋषि की बीमारी के विषय में उन्होंने सन्देह कर के भी वह बात सत्य ही मानी। अतः उन हितचिन्तकों ने शीघ्र ही लाला जेठमलजी नामक आर्य सज्जन को मुनीन्द्र के पास भेजा ॥१७॥

यतिवर्यदशां विलोक्य तां स निमग्नोऽर्यवरः शुगम्बुधौ ।
अभवद् गतचेतनः क्षणं धरमित्थं परतोऽवदद् विदाम् ॥१८॥

वह वैश्य-श्रेष्ठ यतिवर्य की दशा देख कर शोकसागर में मग्न हो गया और क्षण भर अचेतन बन गया; पश्चात् मुनि-हंस से इस प्रकार बोला— ॥१८॥

भगवन् ! किमभूदिदं वयं न हि सूचया भवता रुजाजुषा ।
वपुषोऽघमुषो वपुर्भृतां बत केयं विकला दशा कृता ॥१९॥

"भगवन् ! यह क्या हो गया ! इतने रुग्ण होने पर भी आपने हमें सूचित न किया ? अहह ! ! मानवों के पाप हरने वाले देह की यह कैसी विकल दशा बना दी ? ॥१९॥

वपुषो ननु धर्म एष यत् सुखदुःखे स्त इहामयाकुले ।
न भवन्तु शुचान्विता जना इति नादायि मयाऽस्य सूचना ॥२०॥

महर्षि ने उत्तर दिया 'यह तो शरीर का धर्म ही है कि वह रोगाकुल हो कर के दुःखी हो और रोगमुक्त हो कर सुखी हो। आप लोगों को शोक न हो इस लिए मैंने सूचना न दी ॥२०॥

धनिना मुनिरोगसूचना स्वपुरस्थार्यजनाय दारुणा ।
चपलार्दितदूतिकामुखात् प्रददे चार्यजगज्जनेष्वपि ॥२१॥

लाला जेठमल ने आर्यसमाज अजमेर को महाराज की भयंकर रोगदशा की सूचना दी; और उसने तार द्वारा सारे आर्य समाजों को भी सूचना दी ॥२१॥

तमुदन्तमरुन्तुदं तदा स्वदयानन्दगुरोर्भयङ्करम् ।
सकला विकला निशम्य सा जनता वज्रहता लता यथा ॥२२॥

अपने गुरुदेव दयानन्द की भयंकर, मर्म-पीडक उस खबर को सुन कर उस समय सारी आर्य जनता बिजली के आघात से लता की तरह आहत हो गई ॥२२॥

बहवो गुरुदर्शनाकुला ययुरार्यास्तदुपान्तमञ्जसा।
अतिशोच्यदशां समीक्ष्य ते रुरुदुः संजगदुश्च तं शुचा ॥२३॥

गुरुदर्शन के लिए व्याकुल हो कर बहुतसे सज्जन अति शीघ्र श्री सेवा में आए; और वे अति शोचनीय दशा को देख कर शोक से रोने लगे तथा इन से कहने लगे कि— ॥२३॥

चपलं परिहीयतां स्थलं भवतेदं दनुजाकुलं ह्यलम् ।
यवनो भिषगेष भेषजं छलवान् नैव ददाति शोभनम् ॥२४॥

"आप यह स्थल तत्काल त्याग दीजिए । क्यों कि यह असुरों का देश है । यह मुसलमान डॉक्टर कपटी है । आप को अच्छी दवा नहीं देता है" ॥२४॥

निजभक्तवशम्वदो व्रती नृपमाहूय निजां मतिं ततः ।
इतरत्पदमेतुमर्बुदं रुचिरं वाद्रिमुवाच सत्वरम् ॥२५॥

अनन्तर अपने भक्तों के वश हो कर व्रतीन्द्र ने महाराजा को बुलाकर अपनी इच्छा प्रकट की कि—'मुझे सत्वर अन्य स्थान में अथवा सुन्दर आबू पर्वत पर ले जाइए' ॥२५॥

यदि योधपुरे मुनेस्तनोः पतनं स्यान्नु कलङ्क एष मे ।
यवनस्स विचिन्त्य सम्मतिं स्वनृपायेति ददौ गिरौ स्थितौ ॥२६॥

मुसलमान डॉक्टरने—"यदि मुनीन्द्र के शरीर का जोधपुर में अन्त हो जावेगा तो यह मेरे लिए कलंक होगा" ऐसा सोच कर अपने महाराजा को सम्मति दी कि 'इन्हे गिरिशिखर पर पहुचा दीजिए' ॥२६॥

यतिराङ्गलसुवैद्यवीक्षितोऽनुमतोऽप्यर्बुदशैलसंश्रये ।
इति योधपुराधिपः प्रभो यमिनां संप्रबबन्ध प्रेषणे ॥२७॥

इस दिन सर्जन डॉक्टर रोडम को भी बुलाकर महाराज को दिखाया गया; और उन की भी इन को आबू भेजने की सम्मति मिली । तदनुसार यतिसम्राट् को वहां भेजने का प्रबन्ध जोधपुराधीश ने करवाया ॥२७॥

सकलैस्सचिवैस्समं गुरोः परराड्ढि चरणे समेत्य तम् ।
अपकीर्त्तिरितो भवद्गमान् मम राडित्यवदन्नतानतः ॥२८॥

सकल मंत्रीमण्डल के साथ तीसरे पहर महाराजा गुरुचरणों के पास आकर प्रणाम कर बोले कि—"भगवन्! ऐसी दशा में आप के मेरे राज्य से पधारने में मेरी अपकीर्त्ति है; परन्तु मैं विश हुं, आप को रोक नहीं सकता ॥२८॥

मुनये शुचिहेमभाजने स च सार्द्धद्विसहस्ररूप्यकान् ।
व्यतरन्मरुभूमिवासवो बहुमूल्यं रुचिराम्बरद्वयम् ॥२९॥

यह कह कर मरुभूमि के इन्द्र ने उज्वल सुवर्णपात्र में २५००) रुपये और दो दुशाले मुनीन्द्र की भेंट किए ॥२९॥

अथ षोडशदाशवाहकां शिबिकां सव्यजनाभयांशुकाम् ।
उपनीय सुसेवकै र्नृपो यतिमास्थापयदत्र सादरम् ॥३०॥

पश्चात् सोलह कहारों से ले जाने योग्य पालकी मगवाई; साथ में खस के दो डेरे और एक पंखा, सोलह कुली, अन्य परिचारक तथा रक्षक दिए गए । महाराजाने आदर पूर्वक हाथों के सहारे यतीन्द्र को उठवा कर पालकी में बिठाया ॥३०॥

स्वकरेण बबन्ध पेटिकां धरणत्रोर्णमयीं कटीतटे ।
यमिनो नृपतिस्सुखावहां निजभक्तिं विनतः प्रकाशयन् ॥३१॥

महाराजा ने अपनी श्रद्धा को प्रकट करते हुए अपनी फलालेन की पेटी अपने हाथ से यतीन्द्र के कमर में बांध दी कि जिस से इन को सुख मिले ॥३१॥

निजमंसमदा न्महीश्वरः शिबिकोत्थापनकाल आकुलः ।
अगमच्च पदा समं तदाऽऽसुवनद्वारमृषे र्जनैः शुचा ॥३२॥

शिबिका उठाने के समय शोकाकुल नरेन्द्र ने स्वयं उसमें कन्धा दिया और बाग के दरवाजे तक सब सज्जनों के साथ पैदल पालकी के पीछे २ आए ॥३२॥

यतिराजविसर्जनक्षणे क्षितिपः साश्रुरुवाच सद्गुरुम् ।
गतरोग इतो यदि व्रजेद् भविताऽऽनन्दमयं ममान्तरम् ॥३३॥

विसर्जन के समय क्षितिपालक बाष्पावरुद्ध कण्ठ से गुरुदेव से बोले कि:—'आप यदि स्वस्थ हो कर यहां से जाते तो मेरे मन को आनन्द होता" ॥३३॥

मनसि स्वमनीषितं हतं वत दौर्भाग्यवशो दयानिधे ? ।
दयया निजपुण्यदर्शनं ननु देयं नृतमार्यदेवराट् ? ॥३४॥

"हे दयानिधे ! मेरे दुर्भाग्य से मेरी मनोवाञ्छा मन में ही नष्ट हो गई । हे आर्यदेव सम्राट् ! पुनः सत्वर अपना पुण्य-दर्शन देने का अनुग्रह कीजिएगा" ॥३४॥

प्रतिबिम्बमिवास्य वर्ष्मणो जनुषाऽन्वेति निरन्तरं गदः ।
इदमित्ययिभूप ! भौतिकं कुरु चिन्तामिह नो विनश्वरे ॥३५॥

स्वा०—"हे राजेन्द्र ! शरीर के पीछे छाया की तरह निरन्तर स्वभाव से ही रोग लगा हुआ है; अतः इस विनश्वर पाञ्चभौतिक देह की आप चिन्ता न कीजिए" ॥३५॥

मुदितोऽस्मिनरां भवादृशां विमलप्रेममयादरैरतः ।
हितचिन्तकमात्मनस्सदा स भवान् संमनुतां नु मां सुधीः ॥३६॥

"मैं आपके पवित्र-प्रेमपूर्ण सत्कारों से अति प्रसन्न हुआ हूं; आप सुज्ञ महाराजा सदा मुझे अपना हितचिंतक समझें ॥३६॥

पदयोः प्रणिपत्य भूपति र्यतिराजो न्यवृतन्निकेतनम् ।
सचिवास्सुजनास्तथेतरे प्ररुदन्तोऽजहुरात्मवित्तमम् ॥३७॥

जोधपुर-नरेश गुरुचरणों में प्रणाम कर शोक से राजमन्दिर में लौटे । इसी प्रकार इतर अमात्य-मण्डल और भद्र पुरुष आत्मज्ञानी सत को गद्गद कंठ से विदा दे कर लौटे ॥३७॥

भिषगार्य इतोऽचलद्बलै र्मुनिमादाय सुरक्षितंनृणाम् ।
उचितौषधदानसेवया पथि विश्राम्य ततस्ततोनिशि ॥३८॥

ता. १६ अक्टूबर को डॉ० सूर्यमल दल बल के साथ मुनीन्द्र को ले कर वहां से चल पड़े । रोपट, पाली आदि स्थान में रात को विश्राम करते हुए समय समय पर योग्य औषध देते हुए वे इन की सेवा करते ॥३८॥

हवनं रचयन् स्थले स्थले निजशिष्येण गुरुः समन्त्रकम् ।
प्रददौ श्रुतिमन्त्रपाठिने द्विजयुग्माय सुदक्षिणां मुदा ॥३९॥

गुरुदेव स्थल स्थल पर अपने रामानन्दादिशिष्यों से हवन करवाते । एक दिन हवन समय में आए हुए दो वेदमन्त्रपाठी ब्राह्मणों को महाराज ने प्रसन्नता से दो रुपये दक्षिणा दी ॥ ३९ ॥

परमाऽनुदवृष्णनाऽनिशं गुरुहिक्काऽपि गुरुं विचेतनम् ।
बहुशो दिवसेऽकृतेत्यसौ सुतरां कष्टमविन्दतोदरे ॥४०॥

महाराज को सदा गर्मी अत्यन्त पीडा देती थी । हिचकी भी आही रही थी; वह दिन में कई बार गुरुदेव को मूर्छा लाती थी; अतः इन के पेट में अतिशय पीडा हुआ करती थी ॥ ४० ॥

अथ वाग्परथेऽधिरोप्य तं सुजना अर्बुदशैलपत्तनम् ।
अनयन् सुचिकित्सकागदैः कियदानन्दितमश्वलम्भितैः ॥४१॥

अनन्तर 'पाली' से रेल्वे में बिठा कर 'खारची' और वहा से उन्हे आबूरोड स्टेशन पर ले गए; मार्ग में मारवाड जकशन 'खारची' पर पीर जी हकीम की दवा ले कर श्री जेठमलजी आए और ऋषि को दवा दी जिससे कुछ आराम हुआ ॥४१॥

मिलितोऽध्वनि भक्तपुंगवः स च भूपालकसिंहनामकः ।
यमिनो मलमूत्रसारणं व्यदधाद् योऽम्बरशोधनं मुदा ॥४२॥

जिला अलीगढ के ठाकुर भूपालसिंह खारची पर ही आ मिले थे । वे अनन्य ऋषिभक्त थे । उन्होंने महाराज के साथ रह कर प्रसन्नता से परमहस जी का मल मूत्र उठाया और मलीन वस्त्र साफ किए ॥४२॥

शिबिकाऽर्बुदवासिसज्जनैः सुखदाऽऽनायि रथस्थले प्रगे ।
अवतार्य यतिं ततो जना अधिरोप्येह ययु र्नगाध्वना ॥४३॥

आबू निवासी मुन्शी हरनामदास ओवरसियर आदि सज्जनों ने ता. २१ अक्टूबर को प्रातः आबू स्टेशन पर सुखकर पालकी का प्रबन्ध कर दिया था; इस लिए वे महर्षि को ट्रेन से उतार कर और पालकी में बिठलाकर पर्वत के मार्ग से जा रहे थे ॥४३॥

अजमेरपुरं प्रयन् भिषक्-प्रवरो लक्ष्मणदास ऐक्षत ।
भयदामयपीडितं यतिं गिरिमायादमुना समं च सः ॥४४॥

इस बीचमें पंजाबी डॉ० लक्ष्मणदास जो अजमेर जा रहे थे, उन्हों ने भयंकर रोग से पीडित यतीन्द्र को देखा और इन की अवस्था देख कर इन के साथ ही फिर वे पर्वत की ओर चले ॥४४॥

पथि वैद्यवरेण योगिने प्रददे भेषजमुत्तमं यदा ।
अमृतं व्यतरन्नु कोऽपि मे मुनिरित्यालपदुत्सुकान्तरः ॥४५॥

मार्ग में वैद्येश्वर ने योगीश्वर को जब 'अमोनिया' नामक उत्तम औषध दिया; तब मुनीन्द्र ने आंखें खोल कर आनन्दित मन से कहा कि—'मुझे किसीने अमृत दिया है; जिस से मेरी अचेतनता दूर हो गई ॥४५॥

गिरिशृङ्गमवाप्य सुन्दिरे मरुराजो वरमन्दिरे स्थितः ।
भिषजा सुचिकित्सितो यति र्भृशमानन्दमविन्दताचिरम् ॥४६॥

ऋषि को आबू शिखर पर ले जा कर मारवाड–नरेश के आनन्ददायक श्रेष्ठ बंगले पर ठहराया गया । डॉ० लक्ष्मणदास ने ऐसी उत्तम चिकित्सा की कि महाराज को अतिशीघ्र बहुत आराम मिला ॥४६॥

चिरदारुणवेदनावतो मिलितो भक्तभिषग्वरः परम् ।
विधिना गुरुपादपङ्कजादपनीतो हतकेन सत्वरम् ॥४७॥

चिरकाल तक मर्मान्तक कष्ट भोगने वाले गुरुदेव को भक्तरत्न वैद्यराज मिले; किन्तु शीघ्र ही दुष्ट दैव ने उन को गुरुचरणारविन्द की सेवा से दूर किया ॥४७॥

अहहार्यसुभाग्यभास्करो विधिहीनार्यभुवं कियच्चिरम् ।
परिदीप्य तमो विनाशयेदिति नैषीत्खलु भावि दैवतम् ॥४८॥

अहह ! ! आर्यों का सौभाग्य–सूर्य दयानन्द कुछ काल तक भाग्यहीन आर्य–भूमि के प्रकाशित कर अज्ञानान्धकार का नाश करे—यह सचमुच ! भाग्य–देवता को न रुचा ॥४८॥

अधिकारिहठात्प्रबाधितो वितरैस्त्यागदलं भृतेरपि ।
अजमेरपुरं भिषग् गतो गुरुसेवां स विहाय खिन्नहृत् ॥४९॥

डॉ० लक्ष्मणदास ने हठी अधिकारी से छुट्टी न मिलने पर जब सेवा से त्यागपत्र ने दिया; तब वह भी न स्वीकारा गया; इस से विवश हो कर वे दुःखित मन से गुरुसेवा छोड़ कर अजमेर चले गए ॥४९॥

स वितीर्य दिनत्रयागदं ह्यगदङ्कार इति न्यवेदयत् ।
भगवन् ! यदि वेदना भवेदजमेरं पुरमेतु निश्चितम् ॥५०॥

जाते समय वैद्यराज ने तीन दिन की दवा देकर देव से प्रार्थना की कि 'भगवन् यदि पीडा बनी रहे तो आप अवश्य अजमेर पधारें ॥५०॥

मुनिभक्तमुनीन्द्रलोचने जलसिक्ताम्बुजकान्तिहारिणी ।
प्रणयेन विसर्जनक्षणे ध्रुवमारेजतुरादृतेक्षणे ॥५१॥

विदाई के क्षण में अति स्नेह के कारण मुनीन्द्र के एवं मुनि भक्त डॉक्टर के आदर दर्शक नेत्र मानों जलसिक्त कमल की शोभा को हरण करते थे ॥५१॥

मरुराजसहोदरस्तदा यमिनं द्रष्टुमुपेत्य तत्र सः ।
विविधान् भिषजो न्ययोजयद् यतिरोगापनये विचक्षणान् ॥५२॥

कर्नल सर प्रतापसिंह जी राजा ने आबूशिखर पर यतीन्द्र दर्शनार्थ आकर उनके रोगापहरण के लिए सिविल सर्जन डॉ० स्पेन्सर तथा राजवैद्य को नियुक्त किया ॥५२॥

नृपवैद्यचिकित्सया पुनर्ववृधे देवगदो यदा तदा ।
ऋषिरर्थित एष सज्जनैरजमेरागमनाय विह्वलैः ॥५३॥

डॉ० स्पेन्सर की चिकित्सा से जब भगवान का रोग पुनः बढ़ा; तब सज्जनों ने व्याकुल होकर अजमेर आने के लिए महर्षि को निवेदन किया ॥५३॥

गिरितारगृहे तदाऽभवत् तडिदादेशततिः शुभैषिणाम् ।
यतिवार्तविबोधने यथा न तथा भारतशासकोत्सवे ॥५४॥

आबू के तार घर में महर्षि की निरामयता को जानने के लिए शुभेच्छक भारतवासी आर्यों के उस समय जितने तार पर तार आए; उतने वाइसरॉय जनरल गवर्नर के उत्सव पर भी वहां नहीं आए थे ॥५४॥

अथभक्तवरा मुनीश्वरं गिरिशृङ्गादजमेरपत्तनम् ।
नवसज्जितवाष्पयानतः सुखतो निन्युरुदारमानसम् ॥५५॥

मेरठ, फर्रुखाबाद तथा बम्बई से आए हुए भक्तप्रवर उदाराशय मुनीश्वर को ता. २६-१०-१८८३ कार्तिक कृ० संवत् १९४० को गिरिशिखर से स्पेशल ट्रेन द्वारा आराम पूर्वक अजमेर ले गए ॥५५॥

इह यानपदे तदेक्षितुं गुरुमागाद् गदिनं शुचार्दिता ।
जनता विनताऽमिता सतां समनैषीन्नृपगेहमादरात् ॥५६॥

उस समय अजमेर स्टेशन पर रुग्ण गुरुदेव को देखने के लिए असंख्य शोकपीडित जनता आई और सन्त को प्रणाम कर के आदर पूर्वक समुदाधीश के भवन पर ले गई ॥५६॥

उदरौष्ण्यशमार्थमध्वनि क्षणदायामशितं दधीति तत् ।
विषमं विषमंजसाऽजनि व्रतिराजो हिमसंज्वरावहम् ॥५७॥

मार्ग में पेट के दाह के शमन के लिए रात को भगवान ने दही खाया था। वह दधिप्राशन व्रतिराज के लिए शीघ्र विषम विष बनकर 'निमोनिया' रूप में परिणत हुआ ॥५७॥

अहिताशिनमाक्रमीत्पुन र्यमिनं रोग इति क्रुधा भिषक् ।
अवदत् परिचारकान् ध्रुवं यतिनोऽपथ्यमभूत् किमप्यदः ॥५८॥

अपथ्य भक्षी संत पर रोग का पुनराक्रमण हुआ; अतः डॉ० लक्ष्मणदास ने क्रोधित हो सेवकों को धमकाया और कहा कि जरुर यतीन्द्र को कुछ अपथ्य खिलाया गया है ॥५८॥

विदिताहितभक्षणः क्षणान् मुनयेऽदाद्गदं विचक्षणः ।
अनिशं भ्रमतो भिषक्रमणेः क्षयमापद् गद आशु सन्मणेः ॥५९॥

जब उन्हें अहिताशन विदित हुआ; तब उस चतुर डॉक्टर ने तत्क्षण ऋषि को औषध दिया। सतत भिषग रत्न के परिश्रम से संतरत्न का रोग पुनः क्षीण हो गया ॥५९॥

लवपत्तनतः सजीवनो गुरुदत्तो गुरुपादमाप्तवान् ।
उदयाद् बुधमोहनोऽप्ययं नृपराट्सज्जनसिंहप्रेषितः ॥६०॥

लाहौर से ला० जीवनदास और गुरुदत्तजी एवं उदयपुर से मेवाडसम्राट् सज्जनसिंह से भेजे गए हुए मोहनलाल पण्डया गुरु सेवा में आए ॥६०॥

शिशिरानिलसेवनात्पुन र्मुनिराक्रान्त इहामयेन सः ।
इति खिन्नहृदयप्युपाचरद् गुरुभक्त्या गुरुमेव वैद्यराट् ॥६१॥

शीतल वायु के सेवन से रोगने पुनः मुनीन्द्र को घेर लिआ; अतः निराश-हृदय वैद्यराज ने गुरुभक्ति से गुरुदेव का उपचार किया ॥६१॥

फलदागदं जगद्गुरुः प्रशशंसतितरां भिषग्वरम् ।
भगताभिधसज्जनाग्रतः सुकृतज्ञः सुकृतव्रताश्रयः ॥६२॥

उपकार को जानने वाले, पुण्यव्रत के आधारस्तम्भ जगद्गुरु ने राय भगताराम जज तथा सरदार भगतसिंह एक्झीक्यूटिव इन्जिनियर के सामने रामबाण औषध देने वाले डॉ० लक्ष्मणदास की अतीव प्रशंसा की ॥६२॥

भिषजे बहुमूल्यवाससां निचयं दातुमथैच्छदात्मवित् ।
प्रतिरोम ददीय तद्धनं धनवान् स्यां यदि सोऽवदत्सते ॥६३॥

और आत्मवेत्ता ने उन भिषगवर को १०००-१२०० रुपये के शाल आदि वस्त्र पुरस्कार रूप में देने चाहे तब डॉक्टर साहब ने कहा कि "महाराज! यदि मैं धनवान होता तो इतना धन आप के एक २ लोम पर निछावर कर देता" ॥६३॥

ऋषिदेशभवाभवादृशाः सुहृदार्या हि भवन्ति सत्तमाः ।
इति तं ब्रुवतोऽक्षिणी मुने भिषजश्चाश्रु जलं व्यमुञ्चताम् ॥६४॥

"ऋषि-देश में उत्पन्न हुए आप जैसे ही सहृदय आर्य सपुत्र होते हैं" ऐसा कहते हुए महाराज की आंखे और डॉक्टर की भी आखे अश्रुधारा बहाने लगीं ॥६४॥

पिटकाः सकले कलेवरे प्रबलः सद्बलिनो गले कफः ।
चषलं श्वसनं पले पले ज्वलनेन ज्वलितं वपुर्बलम् ॥६५॥

बलीश्वर के सारे शरीर में फुन्सियां हो गई थी, कंठ में प्रबल कफ था; और पल २ में वेगयुक्त श्वास चलता था। सारा शरीर मानो आग मे जलता था ॥६५॥

परमक्षि निमील्य संयमी परमब्रह्मणि लीनमानसः ।
स भयंकरदेहवेदनां खलु विस्मृत्य बभौ मुखश्रिया ॥६६॥

परन्तु सयमीश्वरने नेत्र मूंद कर परब्रह्म में मन लगा दिया। वे भयकर देह वेदना को भूल कर मुख-कान्ति से चमकने लगे ॥६६॥

इयदुग्रदार्तिजां दशां यमिनो वीक्ष्य स विस्मितो भिषक् ।
हरिवर्षभवोऽतिधीरतामभिवन्द्यावददेवमार्यनॄन् ॥६७॥

अंग्रेज सिविल सर्जन डॉ० न्यूमैन ने यतिराज की इतने उग्र रोग से पीडित दशा को देख कर विस्मित हो आर्य सज्जनों के सामने भगवान् के अति धैर्य की प्रशंसा करते हुई कहा कि— ॥६७॥

अयमेव य उग्र आमये मनुजो जीवति धैर्यसम्पदा ।
सहते च विशालविग्रहो वरवीरो गजवद्गदाङ्कुशम् ॥६८॥

"ये ही एक पुरुष हैं कि इतने भयंकर रोग में धैर्य-सम्पत्ति से जीवन को धारण कर रहे हैं; और अत्यन्त विशालकाय ये वीर वर गजराज की तरह रोगांकुश को सहन कर रहे हैं" ॥६८॥

इतिवादिनमंग्लसज्जनं समबोचद् भिषगार्यलक्ष्मणः ।
स महापुरुषो महाशयाऽस्ति दयानन्दसरस्वती यतिः ॥६९॥

इस प्रकार कहते हुए अंग्रेज डॉक्टर से आर्य वैद्य लक्ष्मणदास ने कहा कि—"महाशय! ये महापुरुष स्वामी दयानन्द सरस्वती जी हैं" ॥६९॥

अतिवेलमशोचद्मंग्लजः स निशम्यास्य सुनाम योगिनः ।
भिषजः सुपरीक्ष्य चौषधं गदवैराग्यं गतवान् सुसत्कृतः ॥७०॥

इन योगीश्वर का सुनाम सुनकर वह सिविल सर्जन अत्यन्त शोक करता रहा । उसने वैद्यराज के रोगयोग्य औषध की परीक्षा की; और कहा कि उत्तम है । फिर वह सत्कार प्राप्त कर चला गया ॥७०॥

वरसज्जनसिंहभूपराट्प्रहितो मोहनलालपण्डितः ।
मुनिमण्डलमण्डनस्य तद् वपुरालोक्य शुचाकुलोऽवदत् ॥७१॥

महाराणा सज्जनसिंह के भेजे हुए पं. मोहनलाल ने मुनिमण्डल-मण्डन वह शरीर देखा और अत्यन्त शोक से कहा कि— ॥७१॥

भगवँस्तव हास्तिनी तनू र्गदसिंहेन निहिंसिता भृशम् ।
घनलोहमयी व्रणाङ्किता श्रयतीयं खलु चालनीश्रियम् ॥७२॥

" हे भगवन्! आप के हाथी जैसे विशाल देह को रोगसिंह ने अतिशय घायल कर डाला है । सचमुच ! ! वज्रमय यह आपका शरीर व्रणांकित हो कर चालनी बन गया है "॥७२॥

निखिलार्त्तिहरी दयामयी गमिता कां नु दशामियं खलैः ।
भरतार्यनृणां नु दुर्दिनं यदयं भाग्यरविः लयोन्मुखः ॥७३॥

" जगत् के दुःख को दूर करने वाली, दयामयी आपकी देहलता को दुष्टों ने किस दशा को पहुंचा दिया है भारतीय आर्य जनों का यह दुर्दिन है कि उनका भाग्यभानु अब अस्तोन्मुख है " ॥ ७३ ॥

अयि ! मा शुच आर्यसत्कवे ! जनिनाशौ प्रकृतिं हि वर्ष्मणः ।
नियते नियमे निसर्गजे नहि शोच्यं वपुषो लये बुधैः ॥७४॥

स्वा०—" हे आर्य सत्कवि! शोक न कीजिए । उत्पत्ति और विनाश यह तो देह का धर्म ही है । निसर्ग का नियम अटल; अतः देह के नाश में विद्वानों को शोक नहीं करना चाहिए " ॥७४॥

अधुना तु विधातुरीदृशी ध्रुवमिच्छैव मयाऽनुमीयते ।
मम सम्मतिपत्रलेखवद् विबुधै र्विश्वविधिर्विधीयताम् ॥७५॥

" अब तो विधाता की निश्चित ऐसी ही इच्छा है; ऐसा मैं अनुमान करता हूं । आप विद्वानों को मेरे स्वीकार पत्र के लेखानुसार सम्पूर्ण कार्य करना चाहिए " ॥७५॥

प्रकृतिर्भवतोऽद्य कीदृशी सुजनैः पृष्ट उवाच यन्मुनिः ।
सुखशान्तिमयीयमद्य मे ननु मासात्समनन्तरं बुधाः ! ॥७६॥

ला० जीवनदास आदि भक्तों ने पूछा कि—' आज आप की प्रकृति कैसी है ?' मुनीन्द्र उत्तर दिया कि—' हे सज्जनो ! एक मास पश्चात् आज मेरी सुख और शान्ति से पूर्ण प्रकृति है ' ॥७६॥

उपचारविधिर्विहीयतां मम चान्त्यः समयोऽद्य विद्यते ।
स्वमनोऽनुगुणं च भोजनं परिपाक्यं रुचिरं महाशयैः ॥७७॥

" अब आप लोग औषधोपचार त्याग दीजिए । आज मेरा अन्तिम समय है । आप लोग इच्छानुकूल सुन्दर भोजन बनाइए " ॥७७॥

अनयन् मनुजाः सुभाजने वरभोज्यं यमिसम्मुखे ततः ।
चमसं चणकाम्बुनोऽग्रहीत् प्रणयिप्रार्थनयैव संयमी ॥७८॥

अनन्तर सज्जन सुपात्र में उत्तम भोजन परोस कर ऋषि के सम्मुख ले गए; संयमीश्वर प्रेमी जन की प्रार्थना से ही चने के झोल का एक चमचा ले लिया ॥७८॥

अथ मुण्डितमुण्ड आत्मधी र्वसनप्रोञ्छितविग्रहः शुचिः ।
उपबर्हसमाश्रयादृषिः सुनिषण्णो निजशिष्यमाह्वयत् ॥७९॥

पश्चात् आत्मज्ञानी महर्षि क्षौर कराकर एवं देह को गीले अंगोछे से पोंछ कर स्वच्छ हो तकिए के सहारे बैठ गए और उन्होंने आत्मानन्द को बुलाया ॥७९॥

विनतः स उपेत्य सम्मुखे गुरुनुन्नः शिरसोऽन्तिके स्थितः ।
वद वत्स ! किमिच्छसि स्फुटं त्वमिदानीं मुनिरन्वयुङ्क्त तम् ॥८०॥

नम्रता पूर्वक वह सम्मुख आया और गुरुदेव की आज्ञा से उन के सिरहाने खडा हो गया । मुनीन्द्र ने उसे पूछा—वत्स ! तुम अब क्या चाहते हो ? स्पष्ट कहो ॥८०॥

भवदीयमनामयं विना भुवने नो प्रियमस्ति वस्तु मे ।
किमपीत्यहमीशमर्थये तदमुंगद्गदकण्ठतोऽगदत् ॥८१॥

"संसार में आपके निरोग होने के अतिरिक्त मुझे कोई प्रिय वस्तु इष्ट नहीं है । यही मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं" । उसने गद्गद् कंठ से कहा ॥८१॥

विनिधाय विनेयमस्तके स्वकराम्भोरुहमभ्यधाद् गुरुः ।
वपुषो भुवभङ्गुरस्य सा कियतीः कालकलानु ! कल्पता ॥८२॥

गुरुदेव ने शिष्य के मस्तक पर अपना हस्त कमल रख कर कहा—'वत्स ! इस अवश्य नश्वर शरीर की स्वस्थता कितने समय तक रहने वाली है ? ॥८२॥

विकलो भव मा प्रमोदतो निजकर्त्तव्यमये ! प्रपालय ।
शिवमस्तु विनम्रशील ! ते समदाद्दाशिषमुत्तमाश्च सः ॥८३॥

'तू व्याकुल मत हो । आनन्दसे स्वकर्तव्य का पालन कर । हे नम्र शील ! तेरा कल्याण हो' । इस प्रकार इन्होंने उसे उत्तम आशीर्वाद दिया ॥८३॥

विरहं स विभाव्य सद्गुरो र्गुरुशोकार्णव आश्ववोऽब्रुडत् ।
यतिदत्तधनं सदंशुकं न तदाऽऽदत्त च पारितोषिकम् ॥८४॥

वह शिष्य सद्गुरु के वियोग को सोच कर महा शोकसागर में डूब गया । उस ने यतीन्द्र के पुरस्कार रूप में दिए हुए १००) रुपये और एक दुशाला ग्रहण न किया ॥८४॥

स निमन्त्र्य च काशिकागतं यतिगोपालगिरिं यतीश्वरः ।
अपि वाञ्छितमस्ति किञ्चन भवतोऽपृच्छदिति प्रकाश्यताम् ॥८५॥

फिर यतीश्वर ने काशी से आए हुए संन्यासी गोपालगिरि को बुला कर "आप की क्या इच्छा है ? प्रकाशित कीजिए" । ऐसा उनसे पूछा ॥८५॥

भगवन् ! कुशलं हि कामये भवतां केवलमुन्नताशयम् ।
जगतीगतवस्तु चञ्चलं न मया काम्यमिति न्यवेदयत् ॥८६॥

"भगवन् ! आप जैसे उदारात्मा की मैं केवल कुशलता चाहता हूं; जगत् की किसी चञ्चल वस्तु की मुझे कामना नहीं है" । ऐसा गोपालगिरि ने निवेदन किया ॥८६॥

अथ पण्डितभीमसेनसत्प्रमुखाञ् छिष्यवराञ् छुभाशिषा ।
अभिनन्द्य स वन्द्यवन्दितः सदयं प्रैक्षत भक्तसज्जनान् ॥८७॥

अनन्तर देववंद्य दयानन्द ने पं. भीमसेन आदि शिष्य-सज्जनों को आशीर्वाद से अभिनन्दित कर भक्त सज्जनों की ओर दृष्टि डाली ॥८७॥

प्रणयामृतपूर्णलोचने मुनिचन्द्रस्य सुहृज्जनानने ।
सुविसर्जनमन्तिमं रते मुदिते भक्तगणाँस्तदाऽऽर्दताम् ॥८८॥

मुनिचन्द्र की प्रेमामृतपूर्ण, प्रसन्न आंखें सहृदय जनों के मुख-मण्डल में गड कर भक्त जनों के पास अपनी अंतिम विदाई मांगने लगीं ॥८८॥

अलभन्त तु देवदुर्लभं गुरुदेवोत्तमदेहदर्शनम् ।
परमश्रुघनावलिं जनाः प्रतिसीरांसह तेन चक्षुषोः ॥८९॥

भक्तों ने गुरुदेव के देवदुर्लभ दिव्य देह के दर्शन को पा तो लिया; किन्तु उस के साथ ही उनकी आंखों पर अश्रुमेघमालारूपी पर्दा गिर गया ॥८९॥

हृदयाम्बरमावृणोन्नृणां निबिडं मोहतमो निराशया ।
कृमिभक्षितभूरुहोपमाः समतिष्ठन्त मनोहता बुधाः ॥९०॥

सज्जनों के हृदयाकाश को निबिड मोहांधकार ने घेर लिया । वे निराशा से भग्न-मनोरथ होकर कीट भक्षित खोखले वृक्ष की तरह सत्वहीन हो कर खडे रहे ॥९०॥

भवतां मनसो नु का दशा प्रियभक्तैरनुयुक्त ईशधीः ।
प्रकृतिः प्रवरा विराजते मम तेजस्तमसोः सुसन्धिभाक् ॥९१॥

प्रिय भक्तों ने ईश्वरपरायण महर्षि से प्रश्न किया कि—'महाराज ! आप के चित्त की कैसी दशा है ?' स्वा०—मेरी स्थिति उत्तम है । तेज और अन्धकार का अंतिम संमेलन है। अर्थात् मुक्तिरूपी उषा प्रकट हो रही है; जिससे तमः रूपिणी पंच तत्त्व मयी प्रकृति-निशा का तिरो भाव-सर्वथा नाश एवं ब्रह्मानन्द—रसप्रकाशक मोक्ष-दिवस का प्रादुर्भाव हो रहा है ॥९१॥

इति तान् समुदीर्य धीरधान् सकलान् स्वान्तिकमाह्वयद् यतिः ।
उदघाटयदालयानिला—यनजालं भवजालमोचनः ॥९२॥

वीर्यशाली यतीन्द्र ने इस प्रकार कह कर सब को अपने पास बुलाया। भवजाल से छुडाने वाले भगवान् ने उन से कहा कि भवन के सब द्वार और छत के दो रोशनदान भी खुलवा दो ॥९२॥

स बुभुत्सुरपृच्छदागतांस्तिथिपक्षौ दिवसञ्च मानवान् ।
अथ मोहनलालकोविदोऽवददानम्रशिरा विदां वरम् ॥९३॥

पश्चात् देवने उन भक्तों से पूछा कि 'आज पक्ष, तिथि और वार कौन सा है ? पण्डय मोहनलाल ने शिरोनत होकर ज्ञानीन्द्र से निवेदन किया कि— ॥९३॥

तिथिरर्कमृगाङ्कसङ्गमा दिवसो मङ्गलनामकोऽङ्ग ! सः ।
गगनाश्रमभक्तिभूमिमिते रुचिरोर्जो वरविक्रमाब्दके ॥९४॥

'भगवन् कार्तिक कृष्ण-पक्ष की समाप्ति और शुक्लपक्ष का प्रारम्भ है। सूर्य और चन्द्र के संगम की तिथि अमावास्या और मंगल वार है, संवत् १९४० है ॥९४॥

स निशम्य सुरम्यसन्धिजं समयं सौम्यमुखा न्महामनाः ।
निजपृष्ठतले पुरस्स्थितान् मनुजान् स्थातुमुपादिशन्मुनिः ॥९५॥

महामना मुनि ने सौम्य-मुख से सुन्दर सधिकाल सुन कर आगे खडे हुए भक्तों को पीछे खडे होने का आदेश दिया ॥९५॥

निजदिव्यदृशं गृहाम्बरे परिचाल्य श्रुतिमन्त्रमण्डलम् ।
बहुमञ्जुलमन्द्रकण्ठतः पठितुं प्रारभतर्षिपुङ्गवः ॥९६॥

ऋषिपुंगवने अपनी दिव्य दृष्टि को गृहाकाश में चहु ओर घुमाया और फिर मधुर गंभीर ध्वनि से वेदपाठ करना आरम्भ कर दिया ॥९६॥

अतिदारुणदेहदुर्दशाम्वपि शान्तस्य महात्मनो मुखात् ।
मुदिताद् विजितेन्दुमण्डलान् मधुरं मन्त्रजगीतममृतम् ॥९७॥

स निपीय निजश्रवः पुटै भंगवद्भाविसुभक्तमण्डनः ।
गुरुदत्तबुधोऽतिनास्तिको गुरुदेवात्मबलेन विस्मितः ॥९८॥

देह की अति भयंकर दुर्दशा में भी शान्त शील महात्मा के चन्द्रमण्डलविजयी प्रसन्न मुख से निकले हुए मधुर मन्त्रगीतामृत को अपने कर्णपुटों से पीकर भगवान् के भावी भक्त शिरोमणि अति नास्तिक पं. श्री गुरुदत्त जी गुरुदेव के आत्मबल को देख कर आश्चर्यसागर में डूब गए ॥९७-९८॥

परमं पदमेष्यतो यतेः प्रभुभक्तिं परमां विलोक्य ताम् ।
स्वमनोमुकुरं शिवास्तिता—द्युतिभि र्दीपितमन्वभूदरम् ॥९९॥

परमपद को पधारने वाले योगीश्वर की उस परम प्रभुभक्ति को देख कर गुरुदत्त का चित्तदर्पण सृष्टिकर्ता प्रभु की विद्यमानता की प्रभा से अत्यन्त प्रकाशित हो गया । अर्थात् वे आस्तिक बन गए ॥९९॥

भगवान् निगमोक्त्यनन्तरं परमप्रेमजरोममञ्जुलः ।
परमात्ममहेश्वरार्थनां सुरवाचार्यगिरा च संव्यधात् ॥१००॥

अत्यन्त प्रेम से रोमांचित भगवान् दयानन्द ने मंत्रपाठ के अनन्तर संस्कृत एवं आर्य-भाषा में परमात्मा महेश्वर की प्रार्थना की ॥१००॥

गुरुमन्त्रमथो जपन् गुरुः स्थितवान् काञ्चनमूर्त्तिनिश्चलः ।
चिरकालसमाधिजं रसं रसयन्नोऽमूरसिको रसे रतः ॥१०१॥

अनन्तर गुरुदेव गायत्री मंत्र जपते २ ओ३म् के ध्यान में लीन हो कुछ काल तक समाधिका आनंद लूटते हुए ब्रह्मानन्द में मग्न हो कर सुवर्ण-प्रतिमा समान अचल भाव से बैठे रहे ॥१०१॥

स समाधिमहोच्चभूतलादवतीर्याश्विरुचिं प्रसारयन् ।
सुदयामय ! सर्वशक्तिमन्निदमेवास्ति तवेष्टमीश्वर ! ॥१०२॥

इदमेव तवास्ति वाञ्छितं तव पूर्णं खलु तद् भवेद् विभो ! ।
विहिता भवताऽप्यहो ! ! ध्रुवं शुभलीला शुभलील ! सत्प्रभो ! ॥१०३॥

समाधि की महोच्च भूमिका से उतर कर नेत्र ज्योति को भगवान् ने फैलाया और इस प्रकार कहा कि—" हे दयामय ! सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा पूर्ण हो ! हे मंगललीलाकारी सर्वव्यापक प्रभो ! आहा ! ! ! तैने अच्छी लीला की " ! ! ॥१०२-१०३॥

इति वाचमुदीर्य योगधी-रसुरोधं विधिरन्ध्रवर्त्मना ।
प्रणवस्वनसंगतानसून् बहिरुत्क्राम्य ययौ परं पदम् ॥१०४॥

ऐसी वाणी बोलकर समाधिस्थ हो योगीन्द्र प्राणावरोध करके प्रणवनादगुंजित प्राणों को ब्रह्मरंध्र-मार्ग से बाहर निकाल कर परमपदारूढ हुए ॥१०४॥

परिहाय विनश्वरं वपु र्यशसा साकमिते महोनिधौ ।
तमसा हृदयं नमो भृशं सममेवार्यभुवां तदानशे ॥१०५॥

तेज के भण्डार महर्षि नश्वर शरीर को त्याग कर पीछे कीर्ति छोड गए । उस समय एक ही साथ आर्यों के हृदयों को मोहने और आर्यभूमि के आकाश को अन्धकार ने घेर लिया ॥१०५॥

उपकारसुवर्त्तिसुन्दरे परमस्नेहमयार्यदीपके ।
यमवायुविलोपितेऽधुना तमसाऽऽर्यावनिराकुलाखिला ॥१०६॥

उपकार रूप वत्ती से मनोहर, अतिशय स्नेह से पूर्ण आर्य दीपक को यम रूपी वायु ने भुझा दिया; जिस से सारी आर्य वसुन्धरा अंधकारान्छन्न हो गई ॥१०६॥

मरणास्तगिरिं प्रभाकरे प्रगते मस्करिणां वरेऽजनि ।
निखिलार्यसभासरोजिनी शुगवश्यायहता हतप्रभा ॥१०७॥

सन्यासि–प्रवर–प्रभाकर मरणास्तगिरि पर जब जा विराजे; तब सकलार्यसभारूपी कमलिनी शोक के हिम से ताडित हो कर प्रभा–हीन बन गई ॥१०७॥

तिमिराकुलभारते तदा परितः प्रोद्गमितैः प्रदीपकैः ।
मुनिभानुलवोत्थितं नमो यतितं सारयितुं वृथा जनैः ॥१०८॥

उस समय तिमिराकुल भारत में मुनिसूर्य के अस्त होने से उत्पन्न अन्धकार को हटाने के लिए सज्जनों ने चहु ओर दीपावली प्रज्वलित की किन्तु वह निष्फल गई ॥१०८॥

न सहस्रमहस्करश्मिभि र्न च लक्षैरपि यत्कलाधरैः ।
अपहन्तुमपारि भूतलाद्दहालं तिमिरं कथं नु तैः ॥१०९॥

सहस्र सूर्य एवं लक्ष चन्द्रमा भी जिस अन्धकार को भूतल से नष्ट करने लिए समर्थ न हुए । अहो ! ! ! उस मोहान्धकार को ये दीपक कैसे दूर कर सकते हैं ? ॥१०९॥

विरहाशनिपातमातनोत् तडिदादेशततिः समग्रतः ।
अजतुन्दपुरा त्प्रणोदिता सुमनोलोकमनोऽम्बरे मुनेः ॥११०॥

सारे संसार में तार द्वारा समाचार अजमेर से भेजे गए । जिन्होंने विद्वन्मण्डल के हृदयाकाश में विरह–वज्रपात किया ॥११०॥

वसुधातलवासिसज्जनानां हृदयं दीर्णमनेन मज्जसम् ।
चकितं नयनानि चामुचन्त्सलिलं श्रावणभाद्रमेघवत् ॥१११॥

इस विरहवज्रपात से वसुधातलवासी सज्जनों का हृदय विदीर्ण हुआ, मन चकित हो गया और इन की आंखें श्रावण भाद्रपद के मेघ की तरह जल बरसाने लगी ॥१११॥

भरतो रघुनन्दनाद् यथा स वियुक्तोऽथ हरे र्यथार्जुनः ।
सकलार्यजनो महात्मनः करुणाक्रन्दनमाकरोत्तथा ॥११२॥

रामचन्द्र से वियुक्त हो कर जैसे भरत ने और कृष्णचन्द्र से विरहित हुए जैसे अर्जुनने—ठीक वैसे ही समग्र आर्य जनों ने महर्षि के वियोगप्रसंग पर करुण क्रदन किया कि—॥११२॥

शरदिन्दुविनिन्दनानन ! द्युमणिद्योतविजित्वरालिक ! ।
क्वगतोऽसि विहाय हा गुरो ! निजशिष्यान् भवकानने द्रुतम् ॥११३॥

" हे शरदिन्दु-विनिन्दक मुखवाले, और ललाट से सूर्य-तेज को जीतने वाले गुरुदेव ! हम शिष्यों को भवारण्य में शीघ्र ही त्याग कर आप कहां चले गए हैं ? ॥११३॥

षडसद्रिपुयादसां कुलैर्भवसिन्धौ ब्रडिताम् भयङ्करे ।
गुरुदेव! दयासुनौकया त्वदृते को वद नो नु तारयेत् ? ॥११४॥

काम, क्रोधादि षड्रिपुरूपी जल जन्तुओं से व्याप्त, भयंकर भवसागर में डूबते हुए हम को—गुरुदेव ! आपके विना दयानौका से कौन भला तारेगा ? कहिए ॥११४॥

समुदेष्यति पद्मिनीपतिः पुनरिन्दुर्भवितादृक्पिगोचरः ।
द्विजराजमहोनिधे ! भवान् नियतं नैष्यति मुक्तिमार्गगः ॥११५॥

कमलिनीकान्त सूर्य पुनः उदित होगा और चन्द्र भी फिर से नेत्रगोचर होगा; किन्तु हे द्विजराज ! हे प्रभानिधे ! मुक्तिमार्गगामी होकर आप निश्चित फिर नहीं आवेंगे ॥११५॥

करुणाम्बुनिधे निदेशतो जगदुद्धारकृते जनिं गतः ।
भुवि वेदमतं वितत्य तत् सभवान् ब्रह्मरसे पुना रतः ॥११६॥

करुणासागर प्रभु की आज्ञा से आप जगदुद्धारकार्य के लिए संसार में अवतीर्ण हुए; और वैदिक मत का प्रकाश कर पुनः ब्रह्मानन्द में लीन हो गए ॥११६॥

दयसे न दयामयेश्वर !० सुदयानम्ययतिं यतोऽहरः ।
परमात्मरतः परार्थकृत् परमात्मन् ! किमितित्वया हृतः ॥११७॥

हे दयामय ईश्वर ! आप हमारे ऊपर क्रोधित हैं; इसी लिए स्वामी दयानन्द यतीन्द्र को आपने हर लिया । हे परमात्मन् ! वे परोपकारी और भगवद्भक्त थे उनकी यहां आवश्यकता थी; तो क्यों उन्हें हर लिया गया ॥११७॥

स सुवर्णसुवर्णिनीभ्रमे पतितो नैव मनाङ् महामनाः ।
तव वाङ्मयं सुधां सदा प्रमुदाऽपाययदेव देवराट् ? ॥११८॥

हे देवाधिदेव ! वे उदारहृदय ऋषि जरा भी काञ्चन और कामिनी के (भ्रमजाल) भँवर में नहीं गिरे । किन्तु सदा आनन्द से वे आपकी वेदवाणीसुधा को हमें पिलाया ही करते थे ॥ ११८ ॥

अथवा दुरदृष्टतो हि नः प्रभुणाऽकारि वियोगविप्लवः ।
नहि दोष इहास्ति कस्यचिद् वचनीया वयमेवसर्वथा ॥११९॥

अथवा निश्चित हमारे दुर्दैव से ही परमात्मा ने यह वियोगदुःख हमें दिया है; इस में किसी का दोष नहीं है; हम ही सर्वथा निन्दनीय हैं ॥११९॥

करिणा सुफलद्रुमो यथा मरुता नौ र्भरिताम्बुधौ यथा ।
सरितस्तटमम्भसा यथा नृगजोऽभङ्क्ति यमद्विषद्विषा ॥१२०॥

फल-सम्पन्न वृक्ष को जैसे हाथी तोड डालता है, माल से लदी हुई नौका को सागर में जैसे वायु डुबाता है, नदी के तट को जैसे पानी का वेग गिरा देता है; वैसे ही इस पुरुषगज को मृत्युसिंहने ग्रस लिया ॥१२०॥

नृपमण्डलमार्यमण्डन ! प्रभुवाणीं नृपनीतिबोधिनीम् ।
तव पातुमये !! प्रतीक्षते वदनाम्भोजविनिर्गतां शुभाम् ॥१२१॥

हे आर्यों के अलङ्कार ! आप के मुखकमल में से निकली हुई मंगल कारिणी, राजनीति का उपदेश देनेवाली वेदवाणीसुधा का पान करने के लिए ये राजमण्डल राह देख रहे हैं ॥१२१॥

तव कण्ठमणिं सरस्वतीं वरवेदामृतवर्षिणीं मुने ! ।
जनता जनतापहारिणीं सुतरां श्रोतुमियं समुत्सुका ॥१२२॥

हे मुनीन्द्र ! यह जनता उत्तम वेदामृत बरसाने वाली, तापत्रयहारिणी, आप की कंठमणि-तुल्य वाणी सुनने के लिए उत्कंठित है ॥१२२॥

वदनं शरदिन्दुसुन्दरं तव मंजुस्मितमुज्ज्वलालिकम् ।
अरुणद्युतिहारि वीक्षितुं व्रतिसूर्योत्कलिकाकुला त्वसौ ॥१२३॥

हे ब्रह्मचारीसूर्य ! यह आर्य-मण्डली आपका मधुरहास्यशोभित, शरच्चन्द्र-सुन्दर मुखमण्डल, और आपका अरुणप्रभा को हरने वाला उज्वल ललाट देखने के लिए अतिव्याकुल हो रही है ॥ १२३ ॥

प्रतिवादिगजान् सभावने मदमत्तान् निगमोक्तिपाणिजैः ।
मुनिराजमृगेन्द्र ! दारयेदधुना हा!! भवता विना नु कः ॥१२४॥

हे मुनीराज मृगेन्द्र ! हाय !! अब आपके विना कौन भला सभारण्य में मदोन्मत्त प्रतिवादी बुधमत गजों को वेदवचनरूपी पैने नाखुनों से विदीर्ण करेगा ? ॥१२४॥

भवताऽऽगमभाष्य लेखनं यदुपक्रान्तमिह व्रतीश्वर ! ।
असमाप्य तदुत्तमं भवान् गतवान् हा !! कृतमित्यसाम्प्रतम् ॥१२५॥

हे व्रतीश्वर ! आपने जो यहां उत्तम वेदभाष्य लेखन आरम्भ किया था; उसको समाप्त किए विना ही हाय !! आप चले गए; यह उचित न किया ॥१२५॥

लभतां शरणं शरण्य ! हे ! श्रुतिविद्या क्व दिवं गते त्वयि ।
अवलम्बनमेकमेव यन् मुखमस्यास्तव सोममञ्जुलम् ॥१२६॥

हे शरणदाता ! आपके स्वर्ग को सिधारने से अब यह निराधार वेदविद्या किसका शरण पावेगी ? क्योंकि इस बिचारी का एक मात्र आलम्बन चन्द्रसुन्दर आपका मुख ही था ॥१२६॥

दिवसस्य यथैकभास्करो रजनीवल्लभ एक एव सः ।
भुवनस्य तथैकवेदवित् स दयानन्दसरस्वतीपतिः ॥१२७॥

जैसे दिन का एक मात्र स्वामी सूर्य और रात्री का एक मात्र वल्लभ चन्द्रमा है; वैसे ही संसार के एक मात्र वेदज्ञ-स्वामी दयानन्द-सरस्वतीश्वर थे ॥१२७॥

अहहार्यसमाजवल्लरी यतिपृथ्वीरुहपातनादियम् ।
यममारुतसंभवादिता ह्यतिकष्टां नु दशां निराश्रिता ॥१२८॥

अहह ! ! यह आर्य-समाजरूपी लता यमराज-रूप वायु के कारण यतिवृक्ष के गिर जाने से अति कष्टमय दशा को पा कर सचमुच ! निराश्रित हो गई ॥१२८॥

नृगणः करुणातरङ्गिणीं परिवाह्येति रुदन्नुदश्रुभिः ।
नयनै र्न नरानरोदयत् परमेवेह मृगान् खगानपि ॥१२९॥

इस प्रकार अश्रुपूर्ण नयनों से विलाप करती हुई आर्य-मण्डली ने करुणागंगा बहाकर न केवल मानवों को ही रुलाया किन्तु पशु पक्षी तक को भी शोक-मग्न किया ॥१२९॥

विमलैः सलिलैरथोषसि स्नपितं शान्तवपु र्नरोत्तमैः ।
यमिनां न तु केवलं हिमै रहिमै बाष्पजलैरपि प्रभोः ॥१३०॥

पश्चात् प्रभात काल में नरेन्द्रों ने संयमीश्वर के उस शान्त शरीर को न केवल शीतल, विमल जल से अभिषिक्त किया किन्तु उष्ण अश्रुजलों से भी सींचा ॥१३०॥

अथ चन्दनचर्चितां तनूं बहुमूल्यै र्वसनैरलङ्कृताम् ।
विरचय्य च पुष्पदामभि र्न्यदधुस्ते शिविकान्तरे मुनेः ॥१३१॥

स्नान कराने के बाद मुनीन्द्र के देह को उन्होंने चन्दन, पुष्पमाला और बहुमूल्य वस्त्रों से सजाया और उसे पालकी के अन्दर रख दिया ॥१३१॥

शतशः सुहृदस्तदाऽद्रवन् व्रतिदेवान्तिमदर्शनाकुलाः ।
नयनास्रनदी हृदद्रिजा मिलितैषामिह शोकसागरे ॥१३२॥

उस समय सैकडों महद सज्जन व्रतिदेव के अंतिम दर्शन के लिए व्याकुल हो कर दौड आए । इन के शोक-सागर में उन के हृदयगिरि में से निकली हुई नयनाश्रुधारा मिल गई ॥ १३२ ॥

कदलीदलपुष्पमण्डितां रथिकां स्वामिशवाश्रितां ततः ।
परितः परितस्थुराश्रवाः श्रुतिमन्त्राश्च जगुः परं चिरम् ॥१३३॥

स्वामी जी की अरथी को चारों ओर से केले के पत्ते से एवं पुष्पमाला से अलकृत किया गया । फिर उसके चारों ओर भक्त लोग खडे हो गए और आध घण्टे तक वेदमंत्र पढते रहे ॥ १३३ ॥

विबुधा मनुजा महीभुजो भुजशीर्षे शिविकां निवेश्य ताम् ।
अचलन् सह वाद्य निस्वनै र्नगरश्रेष्ठपथेन मन्थराः ॥१३४॥

तत्पश्चात् अरथी उठाई गई। उस में विद्वान् आर्य सत्पुरुषों ने एवं राजाओं ने बारी २ से कंधा लगाया और वे धीरे २ नगर के महापथ से चलने लगे। साथ में देशी वाद्य बजते थे ॥१३४॥

ऋषिशिष्यगणोऽगमत्पुरो निगदन्मंत्रगणं मुदन्मुहुः ।
अथ पश्चनदादिदेशजा अयुरार्याश्च महोदया नृपाः ॥१३५॥

आगे आगे ब्रह्मचारी रामानन्द, संन्यासी गोपालगिरि, स्वामी आत्मानन्द, पं. बुद्धिचन्द्र आदि वेदमंत्र पढ़ते जाते थे। उनके पीछे आर्य-पुरुषों-हिन्दुस्तानियों, पंजाबियों, बंगालियों और महाराष्ट्रीयों का वृहत्-समूह शोकाकुल चलता था ॥१३५॥

समतीत्य चतुष्पथापणान् महिलासाश्रुविलोचनाहता ।
पथि पुष्पचयैः सुसत्कृता रथिका प्राप यमाश्रितां दिशम् ॥१३६॥

अजमेर के आग्रा दरवाजे से निकल कर नये बाजार, अनाज-मंडि आदि बाजारों में होती हुई यह अरथी रोती हुई महिलाओं से एवं बीच २ में पुष्पमालाओं से सत्कार पाती हुई नगर के दक्षिण भाग में आ पहुची ॥१३६॥

वरवेदिरकारि पण्डितै-रथ संस्कारविधिप्रमाणतः ।
इह यावदमन्ददुःखितान् स्वगिरा धैर्यधनान् व्यधाद् बुधः ॥१३७॥

पश्चात् जब तक संस्कार-विधि के प्रमाण के अनुसार पण्डित लोग वेदी बना रहे थे तब तक राय भागमल जज ने अति दुःखित जनों को अपनी वाणी से धैर्य प्रदान किया ॥१३७॥

स निगद्य गुरोर्गुणावलिं गुणिरत्नस्य तदिष्टपूर्तये ।
उदसाहयदार्यमानवान् नयधिद् भागमलो रुदद्गलः ॥१३८॥

उन्हों ने गुणिरत्न गुरुदेव की गुणावली का वर्णन कर गद्गद् कंठ से आर्य सज्जनों को महर्षि की इच्छापूर्त्ति के लिए उत्साहित किया ॥१३८॥

अथ सुन्दरलालपण्डितो हृदयं लोहमयं विधाय सः ।
अभिभाषितुमुत्थितः परं प्रभुरासीद् व्यथितान्तरो न हा!! ॥१३९॥

तत्पश्चात् पं. सुन्दरलालजी ने हृदय को वज्रमय बना कर खड़े हो कुछ कहना आरम्भ किया; परन्तु उनका जी भर आया और वे आगे कुछ न कह सके ॥१३९॥

सहकारपलाशचन्दनै रचिता चारुचिता समिन्धनैः ।
निहितं हितकृत्कलेवरं नृवरैस्तत्र शुचाकुलैरलम् ॥१४०॥

शोकाकुल आर्य सज्जनों ने आम्र, पलाश और चन्दन आदि १६ मन काष्ठों से सुन्दर चिता रच कर कल्याणकारी सन्यासी के कलेवर को उस पर रखा ॥१४०॥

कर्पूरैः परिदीप्य चन्दनचितौ वैश्वानरं मन्त्रतो—
रामानन्दसुवर्णिना सुहविषा कस्तूरिकागन्धिना ।
काश्मीरोद्भववासितेन सुरभिद्रव्यैः सुहव्यैस्तदा
खारीणां तु चतुष्टयेन विहिताऽन्त्येष्टिक्रिया सद्गुरोः ॥१४१॥

रामानन्द ब्रह्मचारी ने मंत्र बोल कर चन्दन-चिता को कपूरादि से प्रज्वलित कर उसमें केशर, कस्तुरी से सुगन्धित घृत की आहुतियां दी । गुरुदेव की इस अन्त्येष्टि क्रिया में चार मन घी, पांच सेर कपूर, आधा सेर केसर और नौ माशा कस्तूरी डाली गई ॥१४१॥

आत्मानन्दमुखास्सतीर्थ्यविबुधाः संस्कारमंत्रावलीं
सामग्रीं हवनस्य चिक्षिपुरलं सूच्चारयन्तोऽनले ।
आघ्रायाध्वरजं सुगन्धिपवनं व्याप्तं दिगन्तेषु तं
जीवास्सात्विकभावमाप्य विमलानन्दं ततो लेभिरे ॥१४२॥

स्वामी आत्मानन्द जी आदि शिष्य और पण्डित लोग संस्कार के मंत्र बोलते हुए हवन-सामग्री डालते थे; अग्नि में डाले हुए सुगन्धित द्रव्यों से उत्पन्न वायु दिगन्तों में फैल गई; जिस को सूंघ कर समग्र जीवगण सात्विक भाव को धारण कर पवित्र आनन्द पाने लगे ॥१४२॥

पञ्चतत्त्वरचितो गुरुदेहः पञ्चतत्त्वमिलितोऽजनि भूयः ।
पुण्यकीर्त्तिरिह किन्तु विरेजे पुण्यकीर्त्तिवपुषाऽऽप्रलयं सः ॥१४३॥

पांच तत्त्वों से रचा हुआ गुरुदेह पुनः पञ्चतत्त्व में मिल गया; किन्तु ये पुण्यकीर्त्तिशाली महर्षि दयानन्द इस संसार में 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' पावेत्र कीर्त्ति-मय शरीर से विराजमान रहेंगे ॥१४३॥

स्नानं विधाय सरसि प्रथितार्यविज्ञा—
विज्ञानिरत्नविलयाकुलमानसास्ते ।
शून्यां ततो वसुमतीं वसुना विहीनां
प्रत्यागमन्नगरमाशु विभावयन्तः ॥१४४॥

प्रसिद्ध आर्य विद्वान महोदय एवं सज्जन सरोवर में स्नान करके तत्त्वज्ञानिरत्न के स्वर्गगमन से उदास हो, वसुंधरा को वसु—ऐश्वर्य से अथवा दयानन्द देव से विहीन अतएव शून्य सी मानते हुई सत्वर नगर को लौट आए ॥१४४॥

प्रतिनिधिनररत्नै र्योगिराड्छानुकूलं
निगममतपताका भूतले सन्निखाताः ।
दिशि दिशि यतिराजो दिग्जयं दर्शयन्त्यो—
विमलचरितभाजो ब्रह्मनिष्ठस्य रेजुः ॥१४५॥

योगिराज की इच्छा के अनुकूल परोपकारिणी प्रतिनिधि सभा के नररत्नों ने संसार में वेदमत की पताकाएँ गाड दी; जो प्रत्येक दिशा में पवित्र चरित्रधारी ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मर्षि यतिराज की दिग्विजय दर्शाती हुई शोभा पाने लगी ॥१४५॥

उत्तरोऽस्योत्तरर्द्धोऽभूदुत्तमोत्तमसेवया ।
उत्तमोत्तमसंसर्गः कस्य नाभ्युदयावहः ॥१४६॥

उत्तमोत्तम संतों की एवं सद्ग्रथों की सेवा से महर्षि के जीवन का उत्तरार्ध उत्तम ही हुआ। उत्तमोत्तम का संसर्ग किस के लिए भला अभ्युदय कारक न हो? ॥१४६॥

मत्काव्यमात्रं यदि दोषपात्रं नात्रास्ति चित्रं परमार्यमित्रम् ।
ऋषेश्चरित्रं भवभीर्लवित्रं ह्यमित्रमानन्दयतात्पवित्रम् ॥१४७॥

मेरा काव्य यदि केवल दोषपात्र हो तो इस में कुछ आश्चर्य नहीं!! किन्तु भवभय भजनकारी, सज्जनों के लिए लाभ-दायी, यह पवित्र महर्षि—चरित्र अमित्रभूत मानवों को भी आनन्दित करे ॥१४७॥

सप्तविंशतिशतानि यदीये सप्तविंशतिसुसर्गनिबद्धे ।
छन्दसां विरचितानि सुवृत्ते मण्डयन्तु मणिवद् बुधकण्ठम् ॥१४८॥

यह सुचरित्र महाकाव्य सुन्दर छन्दों से शोभित २७ सर्गों में बनाया गया है। इस में २७०० श्लोक हैं। ये रत्न तुल्य विद्वद् कण्ठों को अलंकृत करें ॥१४८॥

लब्धं लग्धव्यमिष्टं मनुजजनिफलं यत्पदाब्जप्रसादा—
दाप्ता वेदोक्तविद्या गुरुकुलनिलये येन वेदप्रणाल्या ।
सोऽयं तान् पूज्यपादान् पितृगुरुचरणान् संप्रणम्यातिभक्त्या
सत्काव्यस्योत्तरार्द्धं प्रभुवरकृपयाऽपूर्णयत्पूर्णकामः ॥१४९॥

जिन के पदारविन्द के प्रसाद से जिसने पाने योग्य मानवजन्म का इष्ट फल पा लिया; और जिस ने गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन में वेदप्रणाली से जिन पूजनीय गुरुओं से वेदोक्त विद्याएं ग्रहण की; वह यह मेधाव्रत पूर्ण मनोरथ होकर अतिशय भक्ति पूर्वक उन पूज्य माता श्री सरस्वती देवी, पू० पिता श्री जगजीवनजी तीर्थ [स्वा० नित्यानन्दजी] पू० गुरु श्री देवदत्त जी—व्याकरण-केसरी, पू० गु० श्री देवीदत्तजी—साहित्यविद्यार्णव, पू० गु० श्री श्यामलालजी—साहित्याचार्य, पू० गु० श्री लल्लूरामजी—व्याकरणाचार्य, पू० गु० श्री कृष्णानन्दजी—दर्शनाचार्य, पू० गु० श्री हरप्रसादजी—निरुक्ताचार्य, पू० गु० श्री स्वामी तुलसीरामजी—वेदाचार्य, पू० गु० श्री महात्मा नारायण स्वामीजी—धर्माचार्य, पू० गु० स्वा० विशुद्धानन्दजी—योगाचार्य और पू० गु० श्री प. मुक्तिरामजी [स्वा० आत्मानन्दजी] योगाचार्य को प्रणाम करके प्रभुवर की कृपा से इस सत्काव्य को समाप्त कर रहा है ॥१४९॥

ब्रह्मानन्दरसाभिपूतहृदयो योगेश्वितोऽमीश्वरो—
ब्रह्मात्मप्रकृतिप्रभेदसुमतिः श्रीवेदतत्त्वार्थवित् ।
आदित्यव्रतिवृत्तपालनपटुः श्रीमद्दयानन्दसद्—
दिव्यानन्दमुनीश्वरो विजयतां मेधाव्रतप्रोज्ज्वलः ॥१५०॥

ब्रह्मानन्द के रस से पवित्र हृदय, समाधि से ओ३म् ईश्वर का साक्षात करने वाले ब्रह्म, जीव और प्रकृति के विवेकज्ञान से सम्पन्न, वेदतत्त्वार्थ वेत्ता, आदित्य ब्रह्मचर्य को उत्तमता से पालन करने वाले, धारणावती मेधा के व्रत से देदीप्यमान, दिव्यानन्दधारी श्रीमद्दयानन्द सन्त मुनीश्वर सर्वोपरि विराजमान रहे ॥१५०॥

॥ इति सप्तविंशः सर्गः ॥

इति वेदोपनिषद्गीताप्रवचनाचार्यस्य मुनिव्रतपवित्रस्य महाकविश्रीपण्डितमेधाव्रततीर्थस्य कृतौ सचित्रदयानन्ददिग्विजये ब्रह्मार्षे महाकाव्ये परममहर्षे परमानन्दपदलाभो नाम सप्तविंशः सर्गः ।

---

० ० ७ २

[अवसितमिदं महाकाव्यं गगनाम्बर मुनिलोचनपद्यम् ॥]

[२७००]

॥ इत्योऽम् खं ब्रह्म ॥

— शुद्धि पत्र —

सर्ग	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
१३	१	बुद्धि	बुद्धि का
,,	२	वन्दिनीय	वन्दनीय
,,	१४	ब्रह्मदेव का	ब्रह्मदेव की
,,	२७	बैठ	बैठे
,,	२९	ऋषि	ऋषि
,,	३३	उपन्कार	उपकार
,,	४०	यवनद्वय ो	यवनद्वयको
,,	४९	आकण्य	आकर्ण्य
,,	५०	विवृद्ध	विवृद्ध
,,	५१	सन्यासी	सन्यासी
,,	३०	गुरू	गुरु
,,	६१	,,	,,
,,	६६	पाथेय	पाथेय
,,	७१	गुणाल्कुल	गुणालङ्कृ
,,	७३	सिद्धथ	सिद्धयथ
,,	,,	मदव्रता	मद्व्रत
,,	७४	नन्दीनी	नन्दिनी
१४	२	रुपी	रूपी
,,	३	मयि	मयां
,,	४	मांगा	माग
,,	६	विद्यामय	विद्यामथ
,,	१०	नेमुमुनि	नेमुर्मुनि
,,	१३	षक्त	षिक्त
,,	१८	यथा सता	तथा सता
,,	,,	कर्णकीर्त्ति	कर्णकीर्तिं
,,	२५	अकाम	अकाय
,,	२६	चेष्टा	चेष्टा
,,	२७	विद्धेऽ	विद्धे शुद्धेऽ
,,	३०	शास्त्राण	शास्त्राणि
,,	३२	वपुविनै	वपुर्विनै
१४	३४	रुया	रूया
,,	३७	पित्रे	पित्रे
,,	,,	इस प्रकार	इस प्रकार
,,	५०	मविरुद्ध	मतिरुद्ध
,,	५२	तुरं	तुरंगं
,,	६५	करुषे	कुरुषे
,,	६७	निराघारे	निराधारे
,,	,,	जझे	जज्ञे
,,	७१	दश्य	दृश्य
,,	७५	न्न	न्न
,,	७९	पुरा भवन्स	पुराऽभवत्स
,,	१०१	सो स्राक्षीत्	सोऽस्राक्षीत्
,,	१०५	ये वदत्	सेऽवदत्
,,	१०६	यति जगौ	यति जगौ
,,	१०८	मद	मद्
,,	११०	नगति	मगति
,,	,,	महस्रा	महस्रा
,,	११२	त्रने	वने
,,	११६	जलपान	शुचिनीर
,,	११९	कण्य	कण्र्य
,,	१२०	भृशम्	भृंशम्
,,	१२१	कीर्त्ति	कीर्त्तिं
,,	१२२	बिद्या	विद्या
,,	,,	मूर्त्तौ	मूर्त्तौ
,,	१२६	वर्त्तिष्ट	वर्त्तिष्ट
,,	१४१	निगम	निगम
,,	१४४	पृङ्ग	षङ्ग
,,	१४८	प्राप्त	प्राप्त
१५	६	द्युति	द्युति
,,	,,	भक्ति	भक्ति

भाग	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
१५	६	मैत्राभ	मैत्रीम्
,	७	पुण्य	पाथ्यं
,	११	आलिङ्य	आलेख्य
१५	१२	येनात्मा	येनात्म
,	१४	बाहु	बाहं
	,,	पतिवरा	पतिवरा
,	१५	कान्ता	कान्ता
,,	१७	पूर्ण	पूर्ण
,	१८	त्रिकला	विफला
,	२०	दीय	दीय
,	२१	सुविद्या	सुविधा
,	२५	पुष्कर	पुष्कर
,	२६	धृत	नृत
,	२८	कार्षात	कार्षित
	३१	ओङ्कार	ओङ्कार
,,	३३	ब्रह्म को	ब्रह्म की
,,	३७	य	यह
,	३८	सूय	सूर्य
,	४०	ताडा	ताल
,	४१	विजय	विजय ग
,	४३	मात्र	मात्र
,	४८	शिष्यै	शिष्यै
,,	,	पतिभाव	पतिभाव
,	५१	ताडूकृत	ताडूकृत
	,,	चक	चक्रो
,	,,	योगी	योग
,,	,	३र	स्वरूप
,,	५९	ब्रह्मै	ब्रह्म
,,	६०	हहै	हहै
,	६५	रण	रणं
,,	,	स	स्त
,	६१	मन्थामि	संग्रामि
,,	६५	पुरुषा	पुरुषो
,,	६७	मैं	मैं
,,	७१	गण्य	गण्य

भाग	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
१५	८०	श्राय	श्रिय
,	९४	मनुय	मनुष्य
,	९६	विधो	विदो
,	९९	आर	और
,,	१०३	कृट्या	कृट्या
,,	१०५	उत्तजित	उत्तेजित
,	१०६	स्वामीजी के	स्वामीजी की
,,	११३	भययर	भयंकर
,	११५	भीतेःऽ	भीतेाऽ
,,	११८	जगदान्तरात्मा	जगदन्तरात्मा
,,	१२३	(शशाङ्क)	(शशक)
१६	१	'धर्ममेघ'	'धर्मेघ'
,,	४	युग्मम्	युग्मम
,,	६	ताषा	तापा
,	७	तद्भुक्त	तद्भुक्त
,	१४	निशम्य	निशम्य
,,	१७	सम्बाधनो	सम्बन्धिने
,	१८	पतन	पतत
,	१९	तत्कुट	तत्कूट
,,	२०	उचे	ऊचे
,,	२७	तीप्रचारे	तीव्रप्रचारे
,	,,	खिले	खिले
,,	३८	सक्नु	शक्नु
,,	३४	कथन कम	कथन या कर्म
,,	३६	मूर्तिशुसरित्तरङ्गे	मूर्त्तिशुसरित्तरङ्गे
,	४८	लिगे	लिंगे
,,	५३	आय	आर्य
,,	६५	चेव	चैव
,,	६६	कि	क्योंकि
,,	७१	मुचकै	मुचकै
,,	७८	स्वामीजीने	स्वामीजीसे
,,	७९	राज्यसें	राज्यमें
,,	८६	मनुज	मनुजै
,,	९१	व्यमत्र	व्यथत्र
,,	९८	हरते	हरते

सर्ग:	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
१६	९८	सिद्धि	सिद्ध
,,	९३	दिदेशः	दिदेश
,,	,,	युवक्र	युवक
,,	१०३	विमलगति	विमलमति
,,	१०९	भगवा	भगव
१७	३	परणात्मा	परमात्मा
,,	१०	हलभद्	हलभृद्
,,	,,	सहस्र	महस्र
,,	११	न्यपीडयत् ।	न्यपीडन् ।
,,	२३	महर्षेः	महर्षेः
,,	२७	'कथितत्र	अकथितत्र'
,,	२८	सूत्र	सूत्र
,,	२९	रूद्धा	रुद्धा
,,	३३	समर्थ'	समथः
,,	३५	पण्डित ॥	पण्डितेशा
,,	३६	पिदीण	विदीण
,,	४३	गुरोनाम	गुरोर्नाम
,,	४६	स्मति.	स्मृतिः
,,	४८	इइड्	इड्ड्
पृ	९३-९५	षोडशः सर्गः	सप्तदश· सर्ग
१७श्लो.	४९	वान्छा	वाञ्छा
,,	५८	ब्रह्मचर्याश्रम	ब्रह्मचर्याश्रम
,,	,,	स्मृति	स्मृति
,,	,,	हर्ष	हर्ष
,,	६५	शास्त्राकलनाय	शस्त्राकलनाय
,,	,,	वहित	विहित
,,	६८	मृत्य	भृत्य
,,	,,	दशा	दिशा
,,	७३	हुत्या	हुत्वा
,,	७४	वाग्वादिनत्त्वा	वाग्वादितत्त्वा
,,	८६	काशेश्वर	काशीश्वर
,,	९६	निषेदूधु	निषेदुषु
,,	१००	नरेषो	नरेशो
,,	१०३	निधानं	विधानं
,,	,,	यथायोग्य	यथायोग्य

सर्ग	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१०५	मुक्ताऽथ	मुक्ताऽथ
१८	४	हव्यकन्या	हव्यकव्या
,,	१०	वभूव	बभूव
,,	,,	वैसा	वैसी
,,	११	सैनिकेः	सैनिकैः
,,	१६	अपूव	अपूर्व
,,	२४	शास्त्रोंका	शास्त्रों के
,,	४३	हमन्निद	हमन्निद
,,	४७	काचना	काचन
,,	,,	काक्षित	कांक्षित
,,	६०	कलाधर	कलाधर
,,	७३	श्रति	श्रुति
,,	९१	कि	किं
,,	९२	,,	,,
,,	९२	नित्यशास्त्रता	नित्यः शाश्वतो
,,	१००	बडी संख्यामें	बडी जनसख्यामें
१९	४	शृणुयात्	श्रृणुयात्
,,	८	सभाम् वि·	सभाम्बुधि·
,,	,,	गृणेन	गृणेन
,,	९	रक्ष	ररक्ष
,,	,,	स्वसैनिकं	स्वसैनिकैः
,,	,,	स्तानभिताड्य	स्तानभिताड्य
,,	१२	निदर्शन	निदर्शन
,,	१३	कासी	काशी
,,	१७	विवेकीन	विवेकिन
,,	२२	रमस्त	रमस्त
,,	,,	न्यषेधींदपितु	न्यषेधीदयितुं
,,	३५	युवकेऽमई	युवकोस्य
,,	,,	नैल	नित्वं
,,	३६	दयनन्द	दयानन्द
,,	,,	सकृद्	सकृद्
,,	३७	सर वाचि	सुरवाचि

सर्ग:	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
१९	४१	ऽस्प	ऽस्य
,,	४२	लुनियादितगे	लुनीयादितरो
,,	४३	अयैक	अथैक
,,	४४	कुरङ्गरत्	कुरङ्गवत
,,	४७	कर्किरान्	किंकरान्
,,	४९	प्यवीयत	प्यधीयत
,,	५०	सिह	सिंह
,,	५१	दृढवण्ड	दृढचण्ड
,,	५२	सवीत्कृतो	सचीत्कृतो
,,	५३	तनुतस्म	तनुतस्म
,,	,,	रुपिणी	रूपिणी
,,	५५	पिपीय	निपीय
,,	,,	भवतन्महे	भवतान्महे
,,	६०	बज्जनेषु	वाज्जनेषु
,,	६१	स्वेत	श्वेत
,,	६४	पाठखाला	पाठशाला
,,	६८	सन्याति	सन्यासि
,,	७५	भवदहो	भवेदहो
,,	८५	बताकर	बनाकर
,,	८७	भक्तौ	भक्तो
,,	८८	वितेरति	वितरात
,,	,,	देव	देव
,,	९४	सभाव्या	सभाष्या
,,	३	त्यकुमिदं ययैव	त्यक्तुमिद यथैव
,,	४	प्तत्तन	प्तत्तन
,,	१०	सुधारेका	सुधारेको
,,	,,	यतिश:	यतीश:
,,	१९	किञ्चत्	किञ्जित
,,	२०	शीलश्च	शीलश्च
,,	२४	नरेंद्र	नरेन्द्र
,,	२५	वियक्षेणेन	विचक्षणेन
,,	२६	विभेतुं नामीष्वलं	बिभेतुं नामीष्वल
,,	४१	कृतवानसि	कृतवानसि
,,	,,	पद्मानन्दसिंह	पद्मानन्दसिंह
,,	३८	मिला हूं,	मिला हूं,

सर्ग:	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
,,	४८	तताराचरण	ताराचरण
,,	५१	वहि	बहि
,,	५२	प्रतिज्ञेन	प्रतिज्ञेन
,,	५३	विज्ञ:	विज्ञैः
,,	५४	तेनेव	तेनैव
,,	५५	आह्वारन	आह्वान
,,	६१	स्वपत्यमें	स्वपक्षमें
,,	७१	शास्त्रोयशंका	शास्त्रीयशंका
,,	७२	मार्वचन्द्र:	मार्यचन्द्र:
,,	७५	पृथुलोख्नु	पृथुलोऽनु
,,	,,	मूर्त्यालय	मूर्त्यालय
,,	७६	उजवल	उज्वल
,,	,,	श्रीरङ्गकाचार्य	श्रीरङ्गकाचार्य
,,	७७	बहाना किया...	बहाना किया पश्चात् बीमारी का
,,	७७	तोरुदेहे	तोरुदेहे
,,	८०	व्यख्यान	व्याख्यान
,,	८०	आमूर्त्त	अमूर्त्त
,,	८८	विवृत्ति	विवृति
,,	९१	वेदान्तियों को	वेदान्तियो का
,,	,,	बुद्धिजन्म	बुद्धिजन्य
९१	१	नृमण्डना	नृमण्डना
,,	४	विना	विना
,,	८	शुशुभे	शुशुभे
,,	,,	निकतनो	निकेतनो
,,	,,	विमूषित	विभूषित
,,	११	दुतुङ्ग	दुत्तुङ्ग
,,	,,	मण्डलियो	मण्डलियाँ
,,	१३	ख्वाति	ख्याति
,,	१५	माल्यवर	माल्यवरै
,,	१८	घुरे	पुरे
,,	२१	पन्थों	पन्थों
,,	२३	पावकम्	पाचकम्
,,	२५	श्वकितो	श्वकितो
,,	२६	मानत:	मानतः
,,	२७	जिघांसथा	जिघांसथ

सर्गः	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
२१	२९	गम	राम
,,	३०	बभूबतु.	बभूवतु.
,,	३१	वैरिणो	वैरिणौ
,,	३२	काउसजी	काउसजी
,,	,,	व्याख्यान	व्याख्यान
,,	३४	कान्यकुब्न	कान्यकुब्ज
,,	,,	जयजूट	जटाजूट
,,	३५	पुण्प	पुण्य
,,	३७	षेागीराज	योगिराज
,,	३९	ऋगाद्य	ऋगाद्य
,,	४०	संस्कारविचि	संस्कारविधि
,,	४१	प्रमृति	प्रभृति
,,	४४	शिप्यकैः	शिष्यकैः
,,	४५	शरद्धना	शरद्धना
,,	४६	गजेन्द्रासिहा	गजेन्द्रसिंहा
,,	,,	क्वचित्	क्वचित्
,,	५१	तच	तच्
,,	५६	इच्शाशकर	इच्छाशंकर
,,	५९	पुप्पमालां	पुष्पमाला
,,	,,	चन्द का	चन्दन का
,,	६०	रोवकं	रोचक
,,	६१	निधास	निघास
,,	८४	अनादित्य	अनादित्व
,,	८६	भूमुजां	भुभुजा
,,	,,	खेतिओंका	खेतों का
,,	,,	ऋषिओंने	ऋषियोंने
,,	९०	न्नन्दपित्वा	न्नन्दयित्वा
२२	२	स कृष्णरामो	सकृष्णरामो
,,	३	विधातृतां	विधातृता
,,	८	श्वकारो	श्वकारो
,,	,,	दीक्षीतान्	दीक्षितान्
,,	९	मैनीपिणो	मैनीषिणो
,,	१०	प्रकृतेतरद	प्रकृततरद्
,,	१४	शिक्षके	शिक्षकै
,,	१६	वन्यं	न्वय

सर्गः	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
२२	१८	एष	एव
,,	२२	योपितीति	योषितीति
,,	२५	शिवेरे	शिविरे
,,	२९	विनिश्चक्यु	विनिश्चिक्यु
,,	,,	योगीना	योगिना
,,	३१	वुधं.	वुधं
,,	३४	जह्या	जह्या
,,	३९	यतिदृष्टि	यतिदिष्टि
,,	४१	श्रुतेभाष्य	श्रुतेर्भाष्य
,,	४२	ममाददौ	ममाददे
,,	,,	ट्रेले	ट्रेलें
,,	४५	निगमोहितं	निगमोदितं
,,	,,	यर्थायथम्	यथायथम्
,,	५०	निर्ज्जरा	निर्झरा
,,	५३	प्रभुखं	प्रमुखं
,,	,,	बडौदे	बडौदे के
,,	५४	व्याख्याम	व्याख्यान
,,	६२	निमिन्त्रता	निमन्त्रिता
,,	६३	मन्त्रिगणं	मन्त्रिमणे
,,	६४	प्रजापनिः मता	प्रजापतिः पतिः मता
,,	६५	श्रेठो	श्रेष्ठो
,,	६८	द्वययुतं२०००)	द्वययुत २००००
,,	७३	मरूराष्ट्र	मरुराष्ट्र
,,	७६	दुर्जनान्	दुर्जनान्
,,	८३	ऋगादि	ऋगादि
,,	,,	भाष्यभूमिका	भाष्यभूमिका
,,	८५	इतिद्वार्विंशतिः	इति द्वार्विंशः
२३	१	[स्वागतवृत्ताम् ।]	[स्वागतावृत्तम्
,,	४	निजपति	नैजपति
,,	,,	पृथ्वीश्वरों मे	पृथ्वीश्वरों के
,,	११	समझाया थी।	समझाया था।
,,	२०	इतरेऽषि	इतरेऽपि
,,	,,	परिछन्मण्डप	परिछन्मण्डप
,,	२३	चित्ते	चित्तै
,,	२६	श्रुतिर्किरान	श्रुतिकिरान

सर्ग:	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
२३	२६	न्यानकारी	न्यायकारी
,,	,,	ईश्वके	ईश्वर के
,,	,,	शुभयेलन	शुभमेलन
,,	४१	वष ..नास्ते	वर्ष....नांते
,,	५०	पष	एष
,,	५७	दिन्दो	दिन्द्रो
,,	७२	शिक्षणीयाम्	शिक्षणीयम्
,,	७४	यदि मे	यदिमे
,,	७५	योगनेा	योगिनेा
,,	७६	मतेः	मतः
,,	८३	पढते की	पढने की
२४	३	मानने	मानते
,,	८	विनियै	विनेयै
,,	९	संसत्	संवत्
,,	११	प्रथरे	प्रथने
,,	१६	तुरङ्गो	तुरङ्गौ
,,	२०	तोज्जवला	तोज्ज्वला
,,	,,	और सुधार	और नीतिका सुधार
,,	२२	फेारोजसेना	फिरोजसेना
,,	२६	धैर्य निधि	धैर्यनिधि
,,	२७	सन्यवात्मात्	संन्यवात्सीत्
,,	२८	नार्थ माङ्	नार्थ माङ्
,,	४३	विचारतेहुए	विचरते हुए
,,	४७	पाश्वर्यवान	पाश्वर्यवान्
,,	५०	गहितेषु	गदितेषु
,,	५२	सहाराज	महाराज
,,	६३	छिद्र नाल मे	छिद्रवाली बोतलमें
,,	६९	क्वेज्ञोलविज्ञौ	क्वेज्ञोलविज्ञौ
,,	७७	मुक्त्यै	मुक्त्यै
,,	८०	दमला	दमला
,,	,,	सफलज्ञानी	सकल ज्ञानी
२५	१	राजओं के अन्दव	राजाओंके अन्दर
,,	,,	और एक वस्तु है	और एक वस्तु है
,,	२०	हारेां मनेाहर	हारेां से मनेाहर
,,	२६	ज्ञानमृत	ज्ञानामृत

सर्ग:	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
,,	२८	प्राज्ञाय	प्रज्ञाय
,,	३२	शिक्षाडत	शिक्षाडत
,,	३३	यन्त्रीयित्वा	यन्त्रयित्वा
,,	४५	सन्यासि	*संन्यासि
,,	*[सर्वत्र इसी प्रकार सुधारकर पढ लेना]		
,,	४४	भव्य माल में	भव्य भाल में
,,	५०	Sरूगा	Sहगा
,,	५१	वृषभौ	वृषभौ
,,	५८	सम्पर्य	समर्प्य
,,	६०	नृपर्ति	नृपति
,,	६४	स्वभूजम्	खभूजम्
,,	६९	सम्वाप्य	समवाप्य
,,	,,	द्वारा होकर	द्वारा हलके होकर
,,	७१	विस्मतेा	विस्मितेा
सर्गान्तमें—परोपकारिणी सना			परो० सभा
२६	२	ताच्च	ताच्च स
,,	१५	यते द्राग्	यते द्रांग्
,,	१६	तन्वपि	तन्वति
,,	,,	लम्बितेा	लम्बितेा
,,	,,	निसास	निवास
,,	१७	जन्होंने	उन्होने
,,	२२	विष-विलासी	विषयविलासी
,,	२५	भक्त्या	भक्त्या
,,	३२	दोनेा की हार	दानों की हार
,,	४०	आसयस्यम्	आसयस्वयम्
,,	४८	शान्दि.	शान्तिः
,,	५०	मदुक्षितेः	मरुक्षितेः
,,	६३	प्रतिव्रतां	पतिव्रतां
,,	,,	भेागस्त	भेागरत
,,	६९	सम	स
२७	११	मुख शेाष	मुखमें शेाष
,,	१२	विस्मतै	विस्मितै
,,	२८	विश हूं	विवश हूँ
,,	२९	मुनीन्द्र की	मुनीन्द्र को
,,	३४	वत	बत

सर्ग	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
२७	३७	गद्गद	गद्गदः
,	५८	महर्षि	महर्षि
,,	६१	हृदयाय	हृदयाय
,	६२	प्रशंसतितराम्	प्रशंसन्तितरा
,,	६८	आम्बे	आम्बे
,,	६७	दुग्रदा	दुग्रगदा
,,	,,	करते हुई	करते हुए
,,	७१	मण्डन वह	मण्डन का वह
,,	७४	जनिनाशो	जनिनाशौ
,	७५	ध्रुव	ध्रुव
,,	७६	मुनीन्द्र	मुनीन्द्रनें
,,	७८	भोजम	भोजन
,,	,,	संयमीश्वर	सगमीश्वरन
,	८१	निरोग	नीरोग

सर्ग	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
,,	८९	अभू	अभ्र
,	९८	भूमिमेते	भूमते
,,	१०६	मद्या	वृद्या
,,	११०	सममतः	समन्तत
,	११८	व्रडिताम्	व्रुडिताव
,,	,,	कोधाधि	कोधादि
,,	१३५	पञ्जावियों	पंजाविर्यो
,,	,,	बगालियो	बंगालियो
,	१३७	रहे दे	रह थे
,,	१४३	पुण्यकीत्तिशाली	पुण्णकीत्तिशाली
,,	१४६	म्योत्तरर्द्धो	म्योत्तरार्द्धो
,,	१४८	अलङ्कृत	अलङ्कृत
सर्गान्तमें—		परममहर्षे	परममहर्षेः